# “MADHAVRAV SAPRE AUR HINDI NAVAJAGARAN”

Thesis Submitted in Partial Fulfilment of the Requirement for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In Hindi

2020

Submitted By


NAGENDRA  PRASAD SINGH PATEL

15HHPH15


Under the guidance of

**Prof. Ravi Ranjan**


Department of Hindi, School of Humanities
University of Hyderabad
P.O. Central University, Gachibowli,
Hyderabad-500046
Telangana State, India

# “माधवराव सप्रे और हिंदी नवजागरण”

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

2020


**शोधार्थी**

**नागेन्द्र प्रसाद सिंह पटेल**

15HHPH15

**शोध-निर्देशक**

प्रो. रवि रंजन

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय

**हैदराबाद विश्वविद्यालय**

हैदराबाद-500046

**विभागाध्यक्ष**

प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय

**हैदराबाद विश्वविद्यालय**

हैदराबाद-500046

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय, हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046

## DECLARATION

I, NAGENDRA PRASAD SINGH PATEL hereby declare that the thesis entitled "MADHAVRAV SAPRE AUR HINDI NAVAJAGARAN"

("माधवराव सप्रे और हिंदी नवजागरण") submitted by me under the guidance and supervision of Professor Ravi Ranjan is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Date: 21/12/2020

Nagendra Prasad Singh
Signature of the Student

NAGENDRA PRASAD SINGH PATEL

Regd. No. 15HHPH15

## CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"MADHAVRAV SAPRE AUR HINDI NAVAJAGARAN"**

**("माधवराव सप्रे और हिंदी नवजागरण")** submitted by **NAGENDRA PRASAD SINGH PATEL** bearing Regd. No. 15HHPH15 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in HINDI is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

This thesis is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for award of any degree or diploma.
Parts of this thesis have been:

A. Published in the following publications:-
1. **"MADHAVRAV SAPRE AUR HINDI NAVAJAGARAN"** [ISSN NO-2319-9318] Issue-20, Volume 08, Oct to Dec, 2017

2. **"LOKJAGARAN"** [ISSN NO-2348-6163] October-December, 2017

Following conferences:-

**1."BHAKTIKALIN KAVITA:BHARTIYA SANSKRAUTI KE VIVIDH AAYAM"** Organized by PGDAV College, Kendriya Hindi Sansthan, New Delhi, 2-3 November 2017 (International)

**2. "MADHAVRAV SAPRE AUR PARAMPARA KA MULYANKAN"** Organized by EFLU, Hyderabad, 6-7 February 2020 (International)

Further the student has passed the following courses towards fulfillment of coursework requirement for Ph.D

| Course Code | Name | Credits | Pass/Fail |
|---|---|---|---|
| 1. 701 | Research Methodology | 4 | Pass |
| 2. 801 | Critical Approaches to Research | 4 | Pass |
| 3. 802 | Research Paper | 4 | Pass |
| 4. 826 | The Ideological Background of Hindi Literature | 4 | Pass |
| 5. 827 | Practical Review of the Texts | 4 | Pass |

Ravi Ranjan

Supervisor

Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
Professor C.R. Rao Road,
Central University P.O.
Hyderabad-500 046.

21/12/2020

Head of Department

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
Head, Department of Hindi
हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad
हैदराबाद, Hyderabad-500 046.

Dean of School

# माधवराव सप्रे और हिन्दी नवजागरण

## अनुक्रमणिका

पृ.सं.

**प्रथम अध्याय : नवजागरण की अवधारणा** **13 -57**

1.1 नवजागरण और पुनर्जागरण

1.1.1 लोकजागरण

1.2 यूरोपीय और भारतीय नवजागरण

**द्वितीय अध्याय : हिन्दी नवजागरण का उद्भव और विकास** **58-109**

2.1 1857 की क्रांति और हिन्दी क्षेत्र

2.2 भारतेंदु युग में नवजागरण की अभिव्यक्ति

2.3 द्विवेदी युग और मराठी नवजागरण

2.4 छायावाद पर मराठी और बांग्ला नवजागरण का प्रभाव

**तृतीय अध्याय : माधवराव सप्रे का शब्द कर्म** **110-151**

3.1 माधवराव सप्रे का ऐतिहासिक चिन्तन

3.2 माधवराव सप्रे का सामाजिक चिन्तन

3.3 माधवराव सप्रे का राजनीतिक चिन्तन

3.4 माधवराव सप्रे का आर्थिक चिन्तन

**चतुर्थ अध्याय : माधवराव सप्रे की आलोचना दृष्टि** **152-204**

4.1 परंपरा का मूल्यांकन

4 .2 काव्यालोचन

4.3 पुस्तक समीक्षा

4.4 माधवराव सप्रे का 'नागरिक जीवन' संबंधी विचार

**पंचम अध्याय : कथाकार और अनुवादक माधवराव सप्रे** **205-230**

5.1 हिंदी की आरम्भिक कहानियाँ

5.2 माधवराव सप्रे की कहानियाँ

5.3 माधवराव सप्रे द्वारा अनूदित कृतियाँ

**षष्ठम अध्याय : हिन्दी पत्रकारिता में माधवराव सप्रे का योगदान** **231-267**

6.1 आरम्भिक हिन्दी पत्रकारिता

6.2 माधवराव सप्रे और तद्‌युगीन हिन्दी पत्रकारिता

**उपसंहार** **268-287**

**संदर्भ ग्रंथ सूची** **288-295**

# भूमिका

हिन्दी साहित्य में बहुत कम ऐसे लोग हुए हैं जो कम लिखकर साहित्य के इतिहास में अपना नाम कर गए हैं। उन्हीं लोगों में माधवराव सप्रे भी एक हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनकी एक कहानी को लेकर तो चर्चा है, पर उनके सामाजिक सरोकारों और समीक्षक रूप को इतिहासकार भुला बैठे हैं। माधवराव सप्रे उन साहित्यिक मनीषीयों में से हैं जिन्होंने हिन्दी भाषा तथा हिन्दी क्षेत्र के विकास के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। उन्हें दो-दो बार डिप्टी कलेक्टर बनने का अवसर मिला, पर उन्होंने मना कर दिया। उनका मानना था कि नौकरी करते हुए वे देशहित का काम नहीं कर पाएँगे।

माधवराव सप्रे ने सन् 1898 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी.ए. की डिग्री प्राप्त करने के बाद कानून की प्रवेश परीक्षा इसलिए नहीं दी क्योंकि उन्हें पता था कि कानून की पढ़ाई पूरी करते ही घर वालों की अपेक्षाएँ बढ़ जाएँगी न चाहते हुए भी उनको वकील बनना पड़ेगा। वे सन् 1899 में पेंड्रा के राजकुमार को पढ़ाने के लिए नियुक्त हुए। उन्होंने इस काम से कुछ पैसे बचाकर पत्रिका निकालने की योजना बनायी। यहीं इनकी मुलाकात विलासपुर के असिस्टेंट कमिश्नर से हुई। कमिश्नर साहब को विभागीय परीक्षा में बैठने के लिए मराठी सीखनी थी जिसमें माधवराव सप्रे ने उनकी सहायता की। कमिश्नर उनके व्यवहार से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने विभागीय परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद माधवराव सप्रे को सीधे तहसीलदार के पद पर नियुक्त करने संबंधित पत्र भेजा। उसी समय पेंड्रा के राजकुमार, जो अब राजा हो चुके थे, उन्होंने भी बुलावा भेजा था। माधवराव सप्रे ने पेंड्रा जाना पसंद किया।

माधवराव सप्रे ने पेंड्रा से 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रकाशन शुरू कर अपनी पूरी ज़िंदगी हिन्दी और हिन्दुस्तान की उन्नति के लिए लगा दी। उनके किये गए कार्यों से हमें पता चलता है कि कैसे आर्थिक तंगी से 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिका तीन साल तक ही निकल सकी। यह बात ध्यान देने वाली है कि 'सरस्वती' और 'छत्तीसगढ़ मित्र' का प्रकाशन एक साथ ही शुरू

हुआ। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक और व्यवस्थापक अलग थे, जबकि 'छतीसगढ़ मित्र' के संपादक और व्यवस्थापक माधवराव सप्रे और उनके मित्र पं० रामराव चिंचोलकर थे। इस पत्रिका का उद्देश्य हिन्दी का प्रचार और उसके साहित्य को समृद्ध करना था। 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिका के ख़रीददार कम थे और कोई चंदा नहीं मिल पा रहा था इसलिए इसे जल्द ही बंद करना पड़ा। जबकि 'सरस्वती' अपने उचित प्रबंधन और संपादन से साहित्य जगत की प्रतिनिधि पत्रिका का स्थान प्राप्त करने में सफल रही।

माधवराव सप्रे ने नागपुर में 1905 में 'ग्रन्थ प्रकाशक मंडली' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य हिन्दी भाषा में पढ़ने वालों को देश-उन्नति की नयी-नयी बातें बताने से था। माधवराव सप्रे ने यहीं से एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। इसी संस्था ने 'हिन्दी ग्रंथमाला' नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। इस पत्रिका का पहला अंक सन् 1906 में प्रकाशित हुआ जिसमें भारत के इतिहास, विज्ञान, समालोचना जैसे विभिन्न विषयों पर निबंध प्रकाशित हुए। यह पत्रिका भी ज़्यादा दिन तक नहीं चल सकी, पर इसमें भारतीयता का एहसास दिलाने से संबंधित महत्त्वपूर्ण निबंध आये।

सन् 1905 में माधवराव सप्रे ने बनारस के काँग्रेस अधिवेशन में नागपुर का प्रतिनिधित्व किया। उनकी राजनीतिक सक्रियता बढ़ती गयी। उन्होंने देखा कि तिलक के 'केसरी' का महाराष्ट्र की जनता पर बड़ा ही अनुकूल प्रभाव पड़ा रहा है तो क्यों न इस पत्रिका से हिन्दी क्षेत्र को परिचित करवाया जाए ? इस विचार के कार्यान्वयन के लिए कुछ देशभक्त साथियों की ज़रूरत थी उनमें कामता प्रसाद गुरु थे, जिन्होंने शुरू के दो महीनों तक ही इस पत्रिका के लिए कार्य किया। 'हिन्दी केसरी' में काम करने के लिए वेंकटेश्वर प्रेस से जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, बनारस से गंगा प्रसाद गुप्त और रामचन्द्र वर्मा भी नागपुर आ गए। उत्साही युवा दांडेकर और बलि भी इस पत्रिका में जुट गए। अंतत: 'हिन्दी केसरी' पत्रिका का पहला अंक 13 अप्रैल 1907 को निकला। इस पत्रिका ने माधवराव सप्रे के सामाजिक जीवन को एक

बड़ा फलक प्रदान किया। अंग्रेजों को राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत 'हिन्दी केसरी' चुभने लगी। 29 सितंबर 1908 को 'कालापानी', 'देश का दुर्दैव' और 'बाम्ब गोले का रहस्य' नामक विद्रोही लेख 'हिन्दी केसरी' में प्रकाशित होने के कारण पत्रिका को प्रतिबंधित कर दिया गया। ऐसे लेख छापने के कारण माधवराव सप्रे पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया। इन लेखों में मुख्य रूप से राजनीतिक चेतना विद्यमान थी।

माधवराव सप्रे के भाई अंग्रेज सरकार के मुलाजिम थे। उन पर अंग्रेज सरकार ने दबाव बनाया कि वे माधवराव सप्रे को माफ़ी मागने पर मज़बूर करें, नहीं तो उनकी नौकरी ख़तरे में है। उन्हें आश्वासन् दिया गया कि यदि माधवराव सप्रे माफ़ी माँग लेते हैं तो सरकार उन पर से मुक़दमा वापस ले लेगी। इसका साफ़ मतलब था कि माधवराव सप्रे के माफ़ी न मांगने पर भाई की सरकारी नौकरी पर ख़तरा था। अब तक बड़े भाई ही परिवार का पालन-पोषण कर रहे थे पर उनकी आत्महत्या की धमकी ने माधवराव सप्रे को अंग्रजों से माफ़ी मांगने के लिए मज़बूर कर दिया।

माधवराव सप्रे को इस माफ़ीनामा से बहुत आत्मग्लानि हुई। उन्होंने सार्वजनिक जीवन से सन्यास ले लिया और परांजपे से दीक्षा लेकर, एकांतवासी हो गए। किन्तु उनका मन वहाँ भी देश के लिए बेचैन रहा। इस बेचैनी को दूर करने के लिए उन्होंने शिवाजी के गुरु 'रामदास' कृत 'दासबोध' का 1910 में मराठी से हिन्दी में अनुवाद किया। माधवराव सप्रे ने बालगंगाधर तिलक रचित 'श्रीमद्भगवदगीता रहस्य' का मराठी से हिन्दी में 'गीता रहस्य' नाम से सन् 1916 में अनुवाद किया। माधवराव सप्रे ने तीसरा अनुवाद सन् 1920 में चिंतामणि विनायक वैद्य के 'महाभारत के उपसंहार' नामक ग्रन्थ का 'भारत मीमांसा' नाम से किया।

माधवराव सप्रे के लेखों में प्रमुखता से सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याएँ आयी हैं। उन्होंने धार्मिक किताबों का अनुवाद अपने संयासी जीवन का अच्छे से निर्वाह करने के लिए और विचलित मन को शांत करने के लिए किया है। उन्होंने समाज की उन्नति के लिए

सन्यास ग्रहण किया था न कि स्वयं की उन्नति के लिए। इसलिए उन्होंने एकांतवास का त्याग कर दिया।

माधवराव सप्रे की पूरी प्रतिभा यदि एक दिशा में ही गयी होती तो हम हिन्दी साहित्य का ही नहीं बल्कि इतिहास के एक समय को सप्रे युग के नाम से जानते। उनके माफ़ीनामे ने आम भारतीयों के ग़ुरूर को उतनी चोट नहीं पहुँचायी जितनी उनके एकांतवास ने। वे अपने समय के एक अच्छे पत्रकार और अगुवा थे। माधवराव सप्रे कई युवा नेताओं के आदर्श थे, सेठ गोविन्द दास, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे बड़े नेता और पत्रकार को वे समय-समय पर सलाह दिया करते थे।

माधवराव सप्रे ने आत्मग्लानि में अपनी ज़िंदगी के महत्त्वपूर्ण आठ साल व्यर्थ में ही गुज़ारे जो उन्हें अर्श से फर्श पर पहुँचा दिये। जब वे एक बार फिर वापस आकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति में लगे तो सहयोगियों ने इनका स्वागत किया।

माधवराव सप्रे अपनी असफलताओं से सीखते हुए कई पत्रिकाओं के संपादन से जुड़े। उनमें ये पत्रिकाएँ प्रमुख हैं 'छतीसगढ़ मित्र', 'हिन्दी चित्रमाला', 'हिन्दी ग्रन्थमाला' और 'हिन्दी केसरी' । इनके महत्त्वपूर्ण निबंध इन्हीं पत्रिकाओं में हैं। लम्बे समय तक इनकी रचनाओं का कोई संकलन उपलब्ध न होने से लोग इनके साहित्य से परचित न हो सके। इनके निबंधों का पहले–पहल संकलन करने का श्रेय डॉ. देवी प्रसाद वर्मा जी को जाता है। बाद में हिन्दी के बड़े आलोचक नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय ने 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' का संपादन किया और अशोक सप्रे ने भी 'पं. माधवराव सप्रे-चयनिका' नाम से उनकी रचनाओं का संकलन और संपादन किया। अभी हाल में 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' शीर्षक से विजयदत्त श्रीधर ने संपादन किया है। मैनेजर पाण्डेय ने अपने संकलन में 'माधवराव सप्रे का महत्त्व' शीर्षक से भूमिका लिखकर, नवजागरण में माधवराव सप्रे के महत्त्व को रेखांकित किया है। मैनेजर पांडेय ने माधवराव सप्रे द्वारा तीन अनूदित रचनाओं को

माना है, जो निम्न हैं - ‘दासबोध’, तिलक का ‘गीता रहस्य’, ‘महाभारत मीमांसा’ । ‘महाभारत मीमांसा’ ग्रन्थ चिंतामणि विनायक वैद्य द्वारा लिखित ‘महाभारत के उपसंहार’ का हिन्दी अनुवाद है।

माधवराव सप्रे का पूरा लेखन तिलक के प्रभाव में रहा और तिलक के ‘गीता रहस्य’ का अनुवाद जो तत्कालीन मराठी नवजागरण से प्रेरित है। इससे रामविलास शर्मा की हिन्दी नवजागरण को किसी भी क्षेत्र से प्रभावित न मानने की अवधारणा खंडित हो जाती है। हिन्दी नवजागरण को केवल काशी के चश्मे से नहीं देखा जा सकता जो तत्कालीन समय के साहित्यिक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करता था। हिन्दी नवजागरण का क्षेत्र भारत के वे राज्य हैं जहाँ हिन्दी बोली और समझी जाती है और उनका साहित्य भी हिन्दी साहित्य ही है। जिनमें बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि क्षेत्र आते हैं। हिन्दी साहित्य का प्रतिनिधित्व आज़ादी से पहले उत्तर प्रदेश ही करता दिखाई देता है। जिसको केंद्र बनाकर आलोचकों तथा इतिहासकारों ने अनेक ग्रन्थ लिखें। इस कारण अन्य क्षेत्र के विचारक जिन्होंने नवजागरण में सक्रिय भूमिका अदा की उनके साथ न्याय नहीं हो पाया। माधवराव सप्रे जैसे कई विचारक हुए जिन्हें आज का इतिहास भूला बैठा है, जिनके बारे में जानकारी है फिर भी उनको भी नवजागरण के अंतर्गत नहीं रखा जाता है। सिर्फ भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी और निराला ही नवजागरण का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। बल्कि इनके समानांतर कई विचारधाराएँ वर्तमान थी जिन पर समीक्षकों और इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया है। भारतेंदु के समकालीन दयानंद सरस्वती अपने विचारों से हिन्दी क्षेत्र को प्रभावित कर रहे थे, इनका मुख्य क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब था, जहाँ आर्य समाज ने लोगों को खूब प्रभावित किया। दूसरी तरफ़ बिहार में अयोध्या प्रसाद खत्री और उनके सहयोगी थे, जो खड़ीबोली को काव्यभाषा बनाने के लिए जूझ रहे थे। राजस्थान में राष्ट्रीय भावना को जगाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वालों में सूर्यमल्ल मिश्रण थे, जिन्हें आधुनिक राजस्थानी

काव्य में नवजागरण का पुरोधा माना जाता है । इन्हीं के विचारों से ओत-प्रोत शंकरदान सामौर ने भी राजस्थान में नवजागरण की पृष्ठभूमि बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वहीं पंजाब में श्रध्दाराम फिल्लौरी सक्रिय थे, इसी प्रकार महाराष्ट्र के साहित्य और राजनीति से प्रभावित माधवराव सप्रे हिन्दी और मराठी साहित्य और राजनीति के प्रथम सेतु थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान को देखते हुए रामविलास शर्मा ने 1900 से 1920 के कालखण्ड को द्विवेदी युग की संज्ञा से अभिहित किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का लेखन मराठी नवजागरण से प्रभावित था, वे अच्छे साहित्यकार, पत्रकार और अर्थशास्त्री थे। रामविलास शर्मा को यह विशेषताएँ माधवराव सप्रे में भी दिखाई पड़ती हैं, पर उनके द्वारा किये गए धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद को देखते हुए रामविलास शर्मा ने माधवराव सप्रे को रूढ़िवादी, परम्परावादी कहा है।

मराठी नवजागरण में पेशवाओं का स्वाभिमान प्रमुखता से ग्रहण किया गया और वहाँ राष्ट्रीयता प्रमुखता से हावी होने लगी। भारतेंदु युग के लेखक बालकृष्ण भट्ट के यहाँ मराठी चेतना देखी जा सकती है। माधवराव सप्रे और महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की वजह से हिन्दी नवजागरण बहुत हद तक मराठी नवजागरण से प्रभावित हुआ। इन्हीं लोगों के समकालीन प्रेमचंद तथा अन्य लेखक बांग्ला नवजागरण से प्रभावित लेखन कर रहे थे । मराठी नवजागरण और बांग्ला नवजागरण में मूलभूत अंतर क्रमशः राष्ट्र और लोक की कामना है। जहाँ मराठी नवजागरण एक सशक्त राष्ट्र की कामना करता है वहीं बांग्ला नवजागरण लोक की आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक उन्नति की बात करता है।

रामविलास शर्मा की दृष्टि में महावीर प्रसाद द्विवेदी के साथ ही नवजागरण की प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती वह निराला तक आकर पूर्ण होती है। पर, इसमें एक महत्त्वपूर्ण कमी रह गयी है। वह यह है कि निराला के समकालीन रचनाकार, जिनमें माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त और मुक्तिबोध आदि हैं, जो इनके नवजागरण के अंतर्गत आये ही नहीं हैं। जबकि पंडित

जवाहरलाल नेहरू, लोहिया, बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर, मुक्तिबोध जैसे विचारक हिंदी नवजागरण की सीमा के अंतर्गत माने जा सकते हैं। तर्क यह है कि इस समय के बाद भारत में विशेषकर हिन्दी क्षेत्र में जो भी परिवर्तन हुए हैं, उसकी पृष्ठभूमि हम इन विचारकों के यहाँ व्यापक रूप में देख सकते हैं।

भारत में 1960-65 के बाद नवजागरण के सरलीकरण से जो छूट गया, उसे आज के विचारकों ने जगह देने के लिए अस्मितामूलक विमर्शों का आग़ाज़ किया है । इस अस्मितामूलक युग का प्रवर्तक हम किसी एक व्यक्ति को नहीं मान सकते, क्योंकि इन विषयों पर नवजागरण के समय में भी बातें हुई हैं, किन्तु इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका। इसलिए वर्तमान समय को अस्मितामूलक विमर्शों का युग कहना ज़्यादा ठीक होगा । अस्मितामूलक विमर्श नवजागरण की मूल प्रवृत्ति के ही पोषक हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को अध्ययन की सुविधा के लिए छह अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय 'नवजागरण की अवधारणा' को दो उप-अध्यायों में विभाजित किया है । प्रथम उप-अध्याय में नवजागरण और पुनर्जागरण के शब्दगत और अर्थगत विभेद पर चर्चा है। इस शब्दगत विभेद को रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अर्थगत विभेद नहीं माना है और दोनों के अर्थ एक ही ओर अर्थात् ज्ञान की प्रगति की ओर संकेत करते हैं। सहायक उप-अध्याय, लोकजागरण की चर्चा नवजागरण और पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि के रूप में की गयी है। प्रथम अध्याय के द्वितीय उप-अध्याय 'यूरोपीय और भारतीय नवजागरण' में अलगाव और निरंतरता के महत्त्व पर विचार किया गया है।

शोध प्रबंध के द्वितीय अध्याय 'हिन्दी नवजागरण का उद्भव और विकास' को चार उप-अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम उप-अध्याय में '1857 की क्रांति और हिन्दी क्षेत्र' पर विचार किया है । क्रांति की शुरूआत और उसकी असफलता में किसानों की क्रूरतापूर्वक दमन की घटना पर ध्यान आकृष्ट कराने की कोशिश की गयी है। द्वितीय उप-

अध्याय 'भारतेंदु युग में नवजागरण की अभिव्यक्ति' में मुख्यतः भारतेंदु हरिश्चंद्र के सामाजिक और साहित्यिक सरोकारों पर विचार किया गया है । तृतीय उप-अध्याय 'द्विवेदी युग और मराठी नवजागरण' में कैसे बालगंगाधर तिलक भारतीयों में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ असंतोष व्याप्त करने में सफल हुए ? वे क्यों कभी काँग्रेस का अध्यक्ष नहीं बन पाये ? जैसे प्रश्नों के माध्यम से तिलक के महत्त्व और प्रभाव को रेखांकित किया गया है । भारत में असंतोष को जन-जन तक व्याप्त करने में एक किताब 'देश की बात' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस किताब के लेखक मराठी मूल के सखाराम गणेश देउस्कर थे । महावीर प्रसाद द्विवदी तिलक और 'देश की बात' से प्रभावित थे । द्विवेदी जी 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन में यह स्पष्ट बताते हैं कि अंग्रेज या यूरोपीय शासक निर्दयी और क्रूर है । चतुर्थ उप-अध्याय 'छायावाद पर मराठी और बांग्ला नवजागरण का प्रभाव' पर विचार करते हुए जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा के साहित्य पर विचार किया गया है । साथ ही तत्कालीन कथाकार मुंशी प्रेमचंद और इतिहासविद रामचंद्र शुक्ल के मानवतावादी विचारों का विश्लेषण किया गया है ।

तृतीय अध्याय 'माधवराव सप्रे का शब्द कर्म' पर विचार किया गया है कि वे कैसे अपने साहित्य में क्रांतिकारी चेतना से समाज को जगाने की कोशिश करते हैं । उनके शब्द कर्म को और स्पष्ट करने के लिए चार उप-अध्यायों में माधवराव सप्रे के ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन पर विचार किया गया है । जिसका मुख्य आधार उनके विभिन्न निबंध हैं । अब तक उनके निबंधों का संपादन देवी प्रसाद वर्मा, मैनेजर पांडेय, अशोक सप्रे और विजय दत्त श्रीधर ने किया है । इन सभी साहित्य प्रेमियों ने माधवराव सप्रे के कई लेखों को प्रकाश में लाया जो माधवराव सप्रे के समकालीन पत्रिकाओं में बिखरे पड़े थे ।

चतुर्थ अध्याय में 'माधवराव सप्रे की आलोचना दृष्टि' पर विचार किया गया है । आलोचना दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए चार उप-अध्यायों में विभाजित किया गया है । प्रथम

उप-अध्याय 'परंपरा का मूल्यांकन' है, इसमें परंपरा की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए टी. एस. इलियट की परंपरा संबंधी अवधारणा की सहायता ली गयी है कि इतिहास बोध से लिखी रचना अपने परिवेश की उत्तम गवाह है । रामविलास शर्मा की किताब 'परंपरा का मूल्यांकन' भी आधार है। द्वितीय उप-अध्याय 'काव्यालोचन' है जिसमें माधवराव सप्रे द्वारा कविताओं पर की गयी आलोचना पर विचार किया गया है । तृतीय उप-अध्याय 'पुस्तक समीक्षा' है । चतुर्थ उप-अध्याय 'माधवराव सप्रे का नागरिक जीवन संबंधी विचार' में नागरिक जीवन संबंधी व्यवहारिक जीवन और उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय 'कथाकार और अनुवादक माधवराव सप्रे' को तीन उप-अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम उप-अध्याय 'हिन्दी की आरम्भिक कहानियाँ' में आरम्भिक कथा साहित्य की कुछ कहानियों की कथावस्तु पर बात की गयी है और द्वितीय उप-अध्याय में माधवराव सप्रे की कहानियों पर विचार किया गया है। तृतीय उप-अध्याय में अनुवादक माधवराव सप्रे द्वारा अनूदित कृतियों की समीक्षा की गयी है।

षष्ठम अध्याय 'हिन्दी पत्रकारिता में माधवराव सप्रे का योगदान' को दो उप-अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम उप-अध्याय में आरम्भिक हिन्दी पत्रकारिता की शुरूआत और उनके संघर्ष पर विचार किया गया है। द्वितीय उप-अध्याय में माधवराव सप्रे और उनके समकालीन पत्रिकाओं एवं पत्रकारों के संघर्ष पर विचार किया गया है।

**अनुसंधान की पद्धतियाँ :**

प्रस्तुत शोध विषय 'माधवराव सप्रे और हिंदी नवजागरण' में शोध की अंतरविद्यावर्ती पद्धति का सहारा लिया गया है। अनुसंधान के क्रम में ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है।

**कृतज्ञता ज्ञापन**

प्रस्तावित शोधकार्य के चयन से लेकर पूर्णता तक की यात्रा में मेरे शोध-निर्देशक आदरणीय प्रो. रविरंजन सर की प्रेरणा एवं सुझावों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। शोधकार्य में आने वाली समस्त कठिनाइयों को दूर कर उचित मार्गदर्शन देने में सर ने हरसंभव मदद की है। हरसंभव इसलिए कि सर इसी दौरान अक्टूबर 2015 से अक्टूबर 2018 तक वारसा विश्वविद्यालय (पोलैंड) में अतिथि प्राध्यापक के रूप में 3 साल तक रहें, सर से प्रवास के दौरान भी संचार माध्यमों से शोध कार्य संबंधी महत्त्वपूर्ण सुझाव मिलते रहे हैं। सर द्वारा मिले विभिन्न सुझाव के कारण ही यह शोध प्रबंध अपने मुक़म्मल रूप में आ सका। आदरणीय सर के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ ।

हैदराबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने मुझे पीएच. डी. हेतु चुना इसके लिए मैं विभाग का आभारी हूँ। प्रो. आर. एस. सर्राजू सर, शोध समिति के सदस्य प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी सर और शोध समिति के सदस्य डॉ. भीम सिंह सर को धन्यवाद जिन्होंने मेरे शोध-निर्देशक प्रो. रविरंजन सर के विदेश प्रवास के दौरान मुझे पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। विभागाध्यक्ष प्रो. गजेन्द्र कुमार पाठक सर को धन्यवाद जिन्होंने मुझे शोध के दौरान शोध से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। मैं अपने विभाग के सभी गुरुजनों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

शोध प्रबंध के सामग्री संकलन में हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, इलाहबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, माधवराव सप्रे संग्रहालय और अंतराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय-वर्धा आदि के पुस्तकालयों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। शोधकार्य के दौरान मुझे जिन सुधीजन, मित्र, विद्वानों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता मिली उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

अंत में माता-पिता को प्रणाम जिन्होंने मुझे पढ़ने का अवसर दिया।

नागेन्द्र प्रसाद सिंह पटेल

## प्रथम अध्याय

# नवजागरण की अवधारणा

### 1.1 नवजागरण और पुनर्जागरण

शम्भुनाथ के शब्दों में 'नवजागरण' का अर्थ अपने चित्त को बढ़ाना है। नवजागरण में तर्क को प्रधानता दी गयी है जिससे लोग अपनी परंपरा और लोकविश्वास को तर्क से जाँच कर यह सुनिश्चित कर सकें कि वह कितना मानवोपयोगी है। भारतीय नवजागरण के इस रूप को कुछ विद्वान हिन्दू धर्म को प्रस्थापित करना बताते हैं। जबकि उन्नीसवीं शताब्दी में रूढ़ियों, परंपराओं को उनके पुराने रूप को संरक्षित करने के लिए कई संगठन बने, जिसके अगुवा राधाकांत देव थे। राजाराम मोहन राय द्वारा सती प्रथा को प्रतिबंधित करने के लिए जितने हस्ताक्षर दिए गए थे, राधाकांत देव ने उनसे चार गुना अधिक लोगों के हस्ताक्षर सती प्रथा के पक्ष में अंग्रेज अधिकारियों के सामने प्रस्तुत किया था।

'नवजागरण' का शाब्दिक अर्थ है नए सिरे से जागना जबकि 'पुनर्जागरण' का अर्थ है पुनःजागना। नवजागरण और पुनर्जागरण में सिर्फ शाब्दिक भेद है, अर्थगत नहीं। रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, "मनुष्य की बुनियादी अवधारणा में यह परिवर्तन कैसे होता है, इसे समझने के लिए आधुनिक युगीन मानसिकता का व्यापक परीक्षण आवश्यक होगा। इस मानसिकता को सामान्य रूप से 'पुनर्जागरण' या 'नवजागरण' कहकर इतिहास और संस्कृति के सन्दर्भ में पुकारा गया है। 'पुनरुत्थान' शब्द में कुछ अतीतोंमुखता झलकती है अत: उसका प्रयोग वांछनीय नहीं।"[1]

'रेनेसां' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय 'जैकब बर्क हार्ट' को जाता है, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'दी सिवलाइजेशन ऑफ़ रेनेसां इन इटली' (1860 ई.) में किया है। यह 'रेनेसां' पारिभाषिक शब्दावली यूरोप के 14 वीं से 16 वीं सदी के सांस्कृतिक जागरण के

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी -'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास', पंचम संस्करण 1996 लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद पृष्ठ सं.-94

लिए प्रयुक्त हुआ है, जो मानवता के विकास का द्योतक है। इसी रेनेसां का हिन्दी अनुवाद नवजागरण और पुनर्जागरण है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी नवजागरण को दो संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न मानते हैं जो उचित ही जान पड़ता है। दो संस्कृतियों के आपसी मेल का परिणाम यूरोपीय नवजागरण और भारतीय नवजागरण है। भारतीय नवजागरण के सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है कि जब इस्लाम का आगमन हुआ तो नवजागरण क्यों नहीं आया ? इसका उत्तर देते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं, "इस जिज्ञासा के सन्दर्भ में कहना होगा कि इस्लाम के आगमन पर इस देश में सैनिक टकराहट तो भरपूर हुई पर सांस्कृतिक टकराहट का कोई गहरा रूप देखने को नहीं मिलता, क्योंकि दोनों अपने–अपने ढंग की रूढ़ियों में बंधी धर्म प्रधान संस्कृतियाँ थी। इसलिए हिन्दू और इस्लाम जीवन के संपर्क से संगीत और स्थापत्य जैसी कलाओं में कुछ नए प्रयोग ज़रूर हुए, पर जीवन पद्धति का बुनियादी स्वरूप यथावत रहा।"[2]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि भारत में आने वाली सभी जातियाँ यहाँ की होकर रह गयीं, मगर इस्लाम का नाता हमेशा से अपनी जन्मभूमि और ख़लीफ़ाओं से बना रहा। इसलिए ये अपनी परम्परा और इतिहास के ग़ुरूर में भारतीय इतिहास और संस्कृति को न तो जानने की कोशिश की और न उसके प्रति सम्मान प्रकट किया। न अपनी संस्कृति से यहाँ के लोगों को परचित कराने की ज़हमत उठाई। पहला भारतीय इस्लामी शासक इल्तुतमिस ने 1229 में बगदाद के ख़लीफ़ा से अपने पद का वैधानिक स्वीकृत पत्र प्राप्त करता है। क़ाफ़िरों के प्रति मुस्लिम शासक वर्ग का रवैया विद्वेषपूर्ण ही रहा और इनका रहन–सहन, व्यापार मध्य एशिया से प्रभावित था इसलिए भी ये हिन्दुओं से एकता स्थापित न कर सके। इनका मध्य एशिया से लगाव और भारतीयों की उपेक्षा ही, इस्लाम के प्रति घृणा का रूप लेती गयी। जबकि अंग्रेजों ने भारतीयों को अपने इतिहास और संस्कृति से परिचित कराने की उचित व्यवस्था की। यह

[2] रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ सं.94

अलग बात है कि अंग्रेजों का मक़सद भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग को महज़ क्लर्क बनाना था। रामस्वरूप चतुर्वेदी अपनी किताब में लिखतें हैं, "भक्ति सामाजिक संदर्भों में विदेशी आक्रमण के लिए प्रतिक्रिया है तो रचनाकार के आतंरिक संदर्भ में वह अहं के विस्फोट से बचाव की प्रक्रिया है।"[3]

रामविलास शर्मा भक्तिकाल को पहला जनजागरण मानते हैं और नवजागरण की कुछ विशेषताओं को इंगित करते हैं। जैसे, जातीयता का निर्माण और लोकभाषा बनाम राजभाषा में लोकभाषा का महत्त्व। वे लिखते हैं, "जागरण की शुरूआत तब होती है जब यहाँ बोलचाल की भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है, जब यहाँ के विभिन्न प्रदेशों में आधुनिक जातियों का गठन होता है। यह सामंत विरोधी जागरण है। भारत में अंग्रेजी राज कायम करने के सिलसिले में पलासी की लड़ाई से 1857 के स्वाधीनता संग्राम तक जो युद्ध हुए वे जनजागरण के दूसरे दौर के अंतर्गत हैं।"[4]

भास्कर लक्ष्मण भोले नवजागरण को अंग्रेजों के बिछाये जाल में फँसे देखते हैं। अंग्रेज हमें एक जाति एक राष्ट्र के विषय में सोचने का मौका नहीं देना चाहते थे और न दिया भी। वे लिखते हैं, "अंग्रेजों ने भारतीय नवजागरण को यूरोप और एशिया खण्ड की विचार-क्रांति की हवा लगने नहीं दी। पूरी शिक्षा पद्धति ही अंग्रेजी विचारधारा में जकड़ दी गई। रूढ़ियों को तोड़ने के लिए सुधारक अपनी छोटी छिन्नी चला रहे थे तो अंग्रेजी सत्ता रूढ़ियों की दीवारों को पुख़्ता बना रही थी। अंग्रेजों ने यहाँ के रियासतों का अस्तित्व इसी नीति से बनाये रखा था। अंग्रेजों ने हिन्दू समाज की जाति संस्था और रूढ़ियाँ, मुस्लिम समाज के अंधविश्वास और मोगल पातशाही के घमंड को मज़बूती दी। महार पलटन अंग्रेजों ने खड़ी

[3] रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास'- पृष्ठ सं.56
[4] रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ'- पृष्ठ सं.13

की और सिक्ख पलटन में ग्रन्थसाहब की प्रतिष्ठा की। भारतीय समाज के हर तबके को औरों से अलग कर उसे आत्म गौरव के घेरे में जीने की सुविधा मुहैया कर उन्हें दुर्बल रखा गया।"[5]

कृष्णदत्त पालीवाल अपने लेख 'हिन्दी नवजागरण : प्रश्नाकुलाताएँ और समस्याएँ' में नवजागरण का अलग-अलग जातियों को लेकर अध्ययन करने के पश्चिमी अंधानुकरण पर क्षोभ व्यक्त करते हुए लिखते हैं, "भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण की देश भक्ति, मातृभक्ति, परंपरागत विचारधाराओं की लय तथा सुधार चेतना के विशिष्ट पक्षों को 'रिनेसां' या नवजागरण ने ढक लिया। देशभक्ति हमें अपशब्द या गाली लगने लगा और हम 'विश्वव्यापी' के चक्कर में देशभक्ति, राष्ट्रवाद को फासिस्ट कहकर अपनी बौद्धिकता की मूँछों पर हाथ फेरने लगे। इस पश्चिमवाद के नवजागरण ने व्यक्तिवाद को उकसाकर हमें विवेकानंद, अरविन्द, तिलक, गाँधी की राह से भटकाकर दम लिया।"[6]

रामविलास शर्मा को अपनी एकता का भान है, वे भारत को विभिन्न जातियों के समूह को एक गुलदस्ते के रूप में देखने के आदी हैं, जो अपनी विविध संस्कृतियों से भारत की संस्कृति को समृद्ध कर रही है। वे लिखते हैं, "राष्ट्रीय एकता और भारतीय संस्कृति को व्यापक आधार तभी प्राप्त हो सकता है जब अपनी भाषाओं के माध्यम से विभिन्न जातियों के लोग इस एकता की पुष्टि करें और समूचे राष्ट्र की संस्कृति को समृद्ध करें। अनेक भाषाओं और अनेक जातियों का अस्तित्व राष्ट्रीयता का विरोध नहीं है, वैसे ही जैसे अनेक राष्ट्रों का अस्तित्व मानवता का विरोध नहीं है।"[7]

अपने देश पर बाहरी ताक़तों के आक्रमण की संभावना से जनता में राष्ट्रीय भावना का उदय होना स्वाभाविक है। एक राष्ट्र की भावना मज़बूत सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत का परिणाम है जो अनेकता में एकता स्थापित किये हुए है। रामविलास शर्मा आगे लिखते हैं कि "संसार का कोई भी देश, बहुजातीय राष्ट्र की हैसियत से, इतिहास को ध्यान में

---

[5] वागर्थ, दिसंबर - 2010 'भारतीय नवजागरण की समस्याएँ'- पृष्ठ सं.-131
[6] वागर्थ, अगस्त 2013 'हिन्दी नवजागरण :प्रश्नाकुलाताएँ और समस्याएँ'- पृष्ठ स.-61
[7] रामविलास शर्मा , 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ'- पृष्ठ सं.73

रखे तो, भारत का मुक़ाबला नहीं कर सकता। यहाँ राष्ट्रीयता एक जाति द्वारा दूसरी जातियों पर राजनीतिक प्रभुत्व कायम करके स्थापित नहीं हुई। वह मुख्यतः संस्कृति और इतिहास की देन है। इस संस्कृति के निर्माण में इस देश के कवियों का सर्वोच्च स्थान है। ...किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है।"[8]

भारत में नवजागरण और राष्ट्रवाद का विकास साथ-साथ होता है। क्योंकि जब भारत में नवजागरण जैसी अवधारणा का विकास हो रहा था वह समय गुलामी का था। भास्कर लक्ष्मण भोले लिखते हैं, "नवजागरण के सौ साल पूरे होने के बावजूद प्रबुद्ध भारत का निर्माण नहीं हो पाया। 'सवेरा तो हुआ लेकिन सूरज कहाँ है?' ऐसी विचित्र स्थिति आज दिखाई देती है। इस पर उपाय यह होगा कि इस परम्परागत और संकुचित राष्ट्रवादी दर्शन को त्यागकर नये राष्ट्रवाद का गठन कालसंगत आर्थिक-सामाजिक आधार पर करना होगा। प्रस्थापित ज्ञान से विसंगत अन्धश्रद्धा का उच्चाटन करना होगा।"[9]

नवजागरण मानवतावाद की एक प्रक्रिया है, जो ऐसे ही चलती रहेगी। इसका उद्भव तो हम देख सकते हैं, पर इसके विकास पथ की अंतिम सीमा खीचना मुमकिन नहीं है , क्योंकि मानवता के मूल्य तब तक विकसित होते रहेंगे जब तक मानव का अस्तित्व है।

### 1.1.1 लोकजागरण

रामविलास शर्मा ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत को विस्तार से समझाते हुए भक्तिकाव्य को लोकजागरण का काव्य कहा है। भक्तिकाव्य में लोकजागरण भाषा व भाव दोनों स्तर पर दिखता है। भक्तिकाव्य में काव्यभाषा के रूप में देशीभाषाओं को प्राथमिकता मिली है। लगभग सभी कवियों ने सामाजिक असमानता पर विचार किया है। 'लोकजागरण'

[8] रामविलास शर्मा, 'परंपरा का मूल्यांकन'-पृष्ठ सं.14-15

[9] वागर्थ, दिसंबर 2010 'भारतीय नवजागरण की समस्याएँ'- पृष्ठ सं.130

का सीधा अर्थ होता है लोक का जागरण। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने इतिहास में लोक और जनता की भिन्नता को बहुत खूबसूरती से ढूँढ़ निकाला है जो यहाँ उद्धरणीय है, " ऊपर से एक-से दिखने पर भी दोनों प्रयोगों में गुणात्मक अंतर है। ऐसा नहीं कि शुक्ल जी 'लोक' शब्द की छायाओं से परचित नहीं थे। साहित्य के उद्देश्य के संबंध में वे बराबर 'लोक मंगल' की बात कहते हैं। पर यहाँ उन्होंने 'जनता' शब्द चुना है जो समाज के सभी वर्गों और समूचे जनजीवन को समेटता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द 'लोक' है जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है। यों द्विवेदी जी की चिंता समाज के पिछड़े वर्ग की ओर अधिक है। तब यह भी स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय कवि तुलसी हैं, जबकि द्विवेदी जी के मानक कवि लोक में प्रिय कवि कबीर हैं।"[10]

रामविलास शर्मा ने 'लोकजागरण' शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल के 'जनता' शब्द के सन्दर्भ में किया है। रामविलास शर्मा पिछड़े समाज के संतों और मुख्यधारा के संतों में कोई विशेष अंतर नहीं मानते। रामविलास शर्मा ने दोनों (सगुण और निर्गुण) के लिए लोक में प्रचलित 'संत' शब्द का प्रयोग किया है। भक्तिकालीन संतों में सामंतों का विरोध ही मुख्य ध्येय रहा है। भक्ति साहित्य के बारे में वे लिखते हैं, "सैकड़ों वर्षों से कायम भारतीय सामंतवाद कभी का अपनी ऐतिहासिक भूमिका ख़त्म कर चुका था। उसे समाप्त करने वाली शक्तियाँ उसी के गर्भ में पुष्ट हो रही थीं। ये शक्तियाँ व्यापारियों, जुलाहों, कारीगरों की थीं जिनके सांस्कृतिक विकास और सुखी जीवन में सबसे बड़ी बाधा थी– सामंतवाद।...सूर और तुलसी ने, प्रेम मार्गी सूफियों ने लाखों मनुष्यों को, उनके ग्रामीण और जनपदीय अंधविश्वासों से अलग, नए सूत्रों में बांधना शुरू किया।...गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रजभाषा ही में कविता नहीं की, उन्होंने अवधी में भी वैसी ही लोकप्रियता प्राप्त की। इसका कारण यह था कि

[10] रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' -पृष्ठ सं.-37

जनपदों में बटी हुई जनता के बदले अब एक जातीय सूत्र में गठी हुई विराट जनता हिन्दी – भाषी प्रदेश में विकास की नयी मंज़िल की ओर बढ़ रही थी।"[11]

रामविलास शर्मा ने लोकजागरण पर विचार करते हुए जाति के महत्त्व को स्पष्ट किया और जाति के उद्भव और विकास की प्रक्रिया को लोकजागरण माना है। जो 19वीं सदी के जागरण की पूर्वपीठिका है। वे जाति के निर्माण की प्रक्रिया को बताते हुए, तमिल जाति को भारत में जाति के रूप में सबसे पहले संगठित हुआ मानते हैं। शर्मा जी भक्तिकाल और आधुनिक काल में जाति में समयगत अंतर पर कहते हैं कि "व्यापारिक पूँजीवाद के युग में जाति का निर्माण होता है, औद्योगिक पूँजीवाद के युग में यह जाति कायम रहती हैं। दोनों युगों की जाति में बहुत बड़ा अंतर यह है कि दूसरे युग में औद्योगिक सर्वहारा मौजूद है, पहले युग में उसका अभाव है। व्यापारिक पूँजीवाद के युग में मुख्य अंतर्विरोध किसानों–कारीगरों तथा जमींदारों में होता है, औद्योगिक पूँजीवाद के युग में सर्वहारा और उद्योगपतियों में।"[12]

रामविलास शर्मा लोकजागरण को 'आधुनिक काल' कहने के पक्षधर हैं। सभी राष्ट्रों में जाति के निर्माण के समय को आधुनिक काल के अंतर्गत ही देखा गया है। लोकजागरण के विकास की परम्परा को वे आधुनिक काल की शुरूआत मानते हैं। रामविलास शर्मा इस काल की विकास परम्परा को इस प्रकार बताते हैं, "वैदिक काल से लेकर लगभग 11वीं सदी तक सामंती व्यवस्था कायम रही। इस काल में रचा हुआ साहित्य चाहे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में हो, चाहे तथाकथित पुरानी बँगला में हो, वह सामंती व्यवस्था में रचा हुआ साहित्य है। द्रविड़ भाषाओं में, तमिल और कन्नड़ भाषा में रचा हुआ साहित्य इसी व्यवस्था में रचा हुआ साहित्य माना जायेगा। इस सबको मध्य कालीन साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। भारत में जातीय गठन की प्रक्रिया सब जगह एक ही समय संपन्न नहीं होती, फिर भी मोटे रूप में 12वीं सदी को नई जातियों के निर्माण का प्रारंभिक काल मान सकते हैं। इस समय

---

[11] रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन'- पृष्ठ सं. 46-47

[12] रामविलास शर्मा , 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' –पृष्ठ सं.25

आधुनिक भाषाओं में जातीय साहित्य की रचना आरंभ होती है। समाज और साहित्य का आधुनिक काल 12वीं सदी से आरंभ होता है।"[13]

पूरा भारत भक्ति आन्दोलन से प्रभावित रहा है। इस आन्दोलन ने सामंती व्यवस्था की जड़े हिला दी थी। यह आन्दोलन फिर उसी सामंती दलदल में फँस गया। इसे और स्पष्ट करते हुए रामविलास शर्मा ने मैनेजर पाण्डेय के कथन को आधार रूप में ग्रहण किया है जो उस समय की स्थिति-परिस्थिति को और स्पष्ट करता है "भारत में 12वीं सदी से आरंभ होनेवाले पूँजीवाद का विकास सफल नहीं हुआ, बाद में अवरुद्ध होकर निष्फल हो गया। समाज का सामंती आधार और उससे निर्मित सांस्कृतिक ढाँचा एक बार कमज़ोर होने के बावजूद कायम रहा। यही कारण है कि भक्ति काल के बाद रीतिकाल आया। भक्ति आन्दोलन सामंती समाज में विकसित सौदागरी पूँजीवाद और जातीय निर्माण के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक संबंधों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है, रीतिकाल का साहित्य सामंत विरोधी सामाजिक संबंध (संबंधों) और सांस्कृतिक चेतना के अवरुद्ध होने का परिणाम तथा प्रमाण है।"[14]

अब हम भक्तिकाल के प्रमुख कवियों के माध्यम से लोकजागरण की यथास्थिति का अध्ययन करेंगे। शंभुनाथ अपने लेख 'भक्ति साहित्य में लोकजागरण' में भक्ति साहित्य के अंतर्विरोधों में एकता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, "भक्ति साहित्य की मुख्य अंतर्धाराओं में सगुण और निर्गुण ही नहीं, ईश्वर और जीव, आध्यात्मिक और भौतिकता, पारलौकिकता और इह्लौकिकता, शास्त्र और लोक, द्विज और दलित, हिन्दू और मुसलमान, स्थावर और भ्रमणशील एक लम्बी आपसी टकराहट के बाद अंतर्मिश्रित हो रहे थे। भारतीय सामाजिक विकास का यह स्वभाव भी उल्लेखनीय है कि कोई बड़ी खाई न हो तो दो विरोधी तत्त्व

---

[13] रामविलास शर्मा , 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ' पृष्ठ सं.143

[14] रामविलास शर्मा –'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' पृष्ठ सं.31

टकराते-टकराते परिस्थितिवश अंतर्मिश्रित हो जाते हैं, भले विकास विरोधी ताकते उनमें दुबारा भेद डालने में सफल हो जाएँ ।"[15]

भक्तिकाल में सांस्कृतिक टकराहट की गूँज हमें अलवारों और नयनारों के यहाँ सुनाई पड़ती है, मगर ये आवाज़ काल के ग़ाल में समाँ गयी, फिर कुछ बदली संस्कृति को लिए अर्थात् निर्गुण भक्ति में यह और प्रखरता के साथ उभरी । शंभुनाथ लिखते हैं "पुरानी योग साधना, अवतारवाद तथा चमत्कारवाद के अवशेषों के बावजूद संत साहित्य मिश्रित संस्कृति की नई चेतना का पहला और महत्त्वपूर्ण उन्मेष है । यह केवल दलित जागरण नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक आयामों में एक व्यापक लोकजागरण है । धार्मिक शुद्धतावाद, कट्टरतावाद और पाखंड से निर्भयतापूर्वक जितना संत साहित्य ने लोहा लिया, दूसरों ने नहीं यह सूरा का संग्राम था –'कायर भागे पीठ दे, सूरा करे संग्राम ।'[16]

संत कवियों में कबीर, नानक का नाम प्रमुखता से लिया जाता है । एक, अपने बेबाकपन के लिए जाना जाता है तो दूसरा तत्कालीन मुग़ल शासक का खुलेतौर पर विरोध के लिए जाना जाता है । नानक कहते हैं –

"खुरसान खमसान किआ हिंदुस्तान डराइआ ।
आपै दोस न देई करता जपु करी मुगल चढ़ाइया ॥
एती मार पई कुर लाणै तै की दरदु न आइया ॥"[17]

कबीरदास, समाज के सामने पुरोहित वर्ग का सच कुछ इस रूप में लाते हैं -

"पंडित मिथ्या करहु बिचारा । ना वह सृष्ट, न सिरजनहारा ॥
जोति सरूप काल नहिं उहवां, बचन न आहि सरीरा ॥
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा ॥"[18]

[15] विपक्ष (पत्रिका), अंक 9, सन् 1995 पृष्ठ सं. 35
[16] विपक्ष (पत्रिका), अंक 9, सन् 1995 पृष्ठ सं. 40
[17] बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृष्ठ सं. 94
[18] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं. 50

लोकजागरण में सूफ़ियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने हिन्दी जाति को अपने साहित्य के माध्यम से समृद्ध किया और मुसलमान होकर भी हिन्दू संस्कृति को अपनी रचनाओं का आधार बनाया । आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, ‘‘कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है । हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने–सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा । इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया । कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था । प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी । यह जायसी द्वारा पूरी हुई ।’’[19]

निर्गुण साहित्य के महत्त्व पर चर्चा करते हुए शंभुनाथ अपने लेख में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक उद्धरण देते हैं जिसमें संतों के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है, जो इस प्रकार है- ‘‘मध्ययुग में मुसलमानों के साथ हिन्दुओं का धार्मिक विरोध था । उस समय लगातार साधुओं और साधकों का जन्म हुआ । उनमें कई मुसलमान थे, जो आत्मीयता के सत्य द्वारा धार्मिक विरोध के मध्य सेतु बंधन में प्रवृत हुए थे । वे पालिटिशियन नहीं थे, प्रयोजन मूलक पालिटिकल एकता को उन्होंने कल्पना में भी सत्य नहीं समझा । वे एकदम उस मूल में गए, जहाँ समस्त मानव मिलन की प्रतिष्ठा ही ध्रूव सत्य है ।...आज भी भारत के प्राणश्रोता के मध्य उन्हीं साधकों की अमरवाणी की धारा प्रवाहित हो रही है । वहाँ से यदि प्रेरणा ग्रहण कर सकें तो उसी की शक्ति से हमारी राष्ट्रनीति, अर्थनीति, कर्मनीति जीवित हो सकती है ।’’[20]

[19] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’- पृष्ठ सं. 66-67
[20] विपक्ष (पत्रिका), अंक 9, सन् 1995 पृष्ठ सं. 41

सगुण भक्तों में सूर, मीरा और तुलसी के यहाँ तत्कालीन सामंती व्यवस्था पर प्रहार और अपने समाज की समस्याओं का यथार्थ पूर्ण चित्रण मिलता है। सूर और मीरा ने मुक्तक काव्य में ही ब्रज की सांस्कृतिक विशेषताओं का बखूबी चित्रण किया गया है। मैनेजर पाण्डेय अपनी किताब 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' की भूमिका में लिखते हैं, "सूर की कविता हिन्दी क्षेत्र में रहने वाले लोगों के जातीय जीवन और सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्त करने वाली कविता है। वह हिन्दी भाषा के जातीय रूप का निर्माण करने वाली, हिन्दी साहित्य के जातीय काव्य रूपों को विकसित करने वाली कविता है। सूर की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह शास्त्र और सत्ता के आतंक से मुक्ति दिलाने वाली कविता भी है।"[21]

मीराबाई के काव्य में प्रतिरोध की चेतना स्पष्ट दिखाई देती है। इनका प्रतिरोधी स्वर सामंतवादी संस्कृति के विरुद्ध था। वर्चस्व की संस्कृति के विरुद्ध प्रतिरोधी संस्कृति की सशक्त मिसाल पेश करते हुए मीराबाई; तत्कालीन समाज और धर्म को भक्ति के मधुर स्वर में नयी दिशा प्रदान करती हुई दिखाई देती हैं। मीरा के समय की सामंती बेड़ियों को याद करते हुए शंभुनाथ लिखते हैं, "काफ़ी कठोर सामंती व्यवस्था वाले राजस्थानी समाज में मीरा का लोक लाज छोड़कर कृष्ण भक्त होना साधारण घटना नहीं है। उसकी भक्ति एक प्रोटेस्ट है। इससे भक्ति आन्दोलन को एक खास आयाम मिला। तुलसी ने नारी की महत्ता घोषित की "जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी।"[22]

तुलसी के साहित्य में तत्कालीन समाज का दर्द और सुनहरे भविष्य की अच्छी कल्पना है, जो रामराज्य के रूप में चित्रित है। शंभुनाथ लिखते हैं, "निःसंदेह तुलसी ने अपने युग के विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग को चुनौती दी थी। उसके धार्मिक मनमानेपन, बड़बोलेपन, धूर्तता और दंभ की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था "मारग सोई जाकहुं

[21] मैनेजर पाण्डेय, 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' की भूमिका से

[22] विपक्ष (पत्रिका), अंक 9, सन् 1995 पृष्ठ सं. 38

जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा। सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।" उन्होंने बाह्याचार की तुलना में नाम सुमिरन को महत्ता प्रदान की। धर्म की परम्परागत मर्यादा घटाए बिना तुलसी ने ग़रीबों–दलितों के लिए भी राम भक्ति का रास्ता सुगम बना दिया।"[23]

"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझी साधी॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समझुत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोध चतुर दुभाखी॥"[24]

## 1.2 यूरोपीय और भारतीय नवजागरण

यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन अर्थात् पाँचवी सदी के उत्तरार्द्ध से 15वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के काल को 'मध्यकाल' कहा जाता है। दूसरी–तीसरी शताब्दी से अरबों के लगातार आक्रमण से यूरोप की अस्मिता ख़तरे में पड़ गयी। किसी को भी ज्ञान और दर्शन की बात सोचने तक का अवसर ही न मिला और पूरा यूरोप अपनी अस्मिता को बचाए रखने के लिए, अपने को सामंती व्यवस्था में ढाल कर, बाहरी शक्तियों से लड़ने की ढाल बन गया। जिससे यूरोप अपनी संस्कृति-सभ्यता से दूर होता गया और धीरे–धीरे सामंतवाद के दलदल में फँसता चला गया। कुछ विद्वान इस काल को मध्यकाल तो कुछ अंधकार काल भी कहते हैं। वीरभारत तलवार लिखतें हैं, "पेत्रार्का ने प्राचीन ग्रीक–रोमन सभ्यता के बाद से रिनेसांस शुरू होने तक के बीच के काल को 'अन्धकार युग' कहा। 15वीं सदी के इतिहासकार फ्लेवियो बिओंदो (flavio biondo) ने इसे और भी व्यवस्थित करते हुए मध्यकाल कहा। इस तरह प्राचीन काल, मध्यकाल और रिनेसांस (जिसे आगे चलकर आधुनिक काल का आरंभ कहा गया।) पहली बार विभिन्न कालों की अवधारणा सामने आयी और उनका मूल्यांकन

[23] विपक्ष (पत्रिका), अंक 9, सन् 1995 पृष्ठ सं. 37
[24] आचार्य रामचंद्र शुक्ल -'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.-94

ईसाईयत के आधार पर न करके उन कालों की भौतिक सभ्यता और संस्कृति के आधार पर होने लगा।"[25]

ईसाईयों के पवित्र स्थल जेरुसलम पर तुर्कों के अधिकार के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ धर्म युद्ध छेड़ दिया। हालाँकि इस युद्ध में यूरोपीय पराजित हुए लेकिन उनके बीच का अलगाववाद समाप्त हो गया। 1453 ई. में कुस्तुनतुनियाँ के पतन से धर्म-युद्ध भले ही समाप्त हो गया हो लेकिन इसका जो परिणाम निकला वह पूरे विश्व के लिए अनुकरणीय रहा।

कुस्तुनतुनियाँ, यूरोप और एशिया के मध्य का एक मात्र स्थल मार्ग था और साथ ही यूरोप और एशिया के ज्ञान विज्ञान तथा संस्कृति का संगम भी। कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों के अधिकार और अत्याचार के कारण ईसाई बुद्धिजीवी और बड़े व्यापारियों ने वहाँ से भाग कर इटली में शरण ली। इटली में इन विद्वानों का ज़बरदस्त स्वागत हुआ तथा इनकी योग्यता के अनुसार इनको काम भी मिला।

'पुनर्जागरण' शब्द का प्रयोग यूरोप के इतिहास के इसी समय यानी चौदहवीं से सोलहवीं सदी के काल खण्ड के लिए प्रयुक्त हुआ है। यूरोपीय पुनर्जागरण का लक्षण पहले-पहल इटली के फ्लोरेंस शहर में दिखाई पड़ता है, यह धीरे-धीरे पूरे यूरोप में फैल जाता है। इटली में पुनर्जागरण का लक्षण दिखाई देने के कई कारण हैं, उनमें प्रमुख कारण इटली की धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व्यवस्था थी, जहाँ यूरोप में ही नहीं संसार भर में धर्म आधारित शिक्षा व्यवस्था पर बल दिया जा रहा था, वहाँ इटली का यह कार्य क्रांतिकारी प्रयोग था। वीरभारत तलवार लिखते हैं, "यह मानववादी आन्दोलन इटली के सभी शहरों में और इटली के प्रभाव से आगे चलकर उत्तरी यूरोप के देशों में भी फैला पर इसका केंद्र फ्लोरेंस ही रहा। फ्लोरेंस के शासकों का मेडिची घराना पूरे उत्साह के साथ इस आन्दोलन में सक्रिय था। उसका महल

---

[25] आलोचना, अप्रैल–जून 2007, पृष्ठ सं. 23

फ्लोरेंस के सभी प्रतिभाशाली कलाकारों, लेखकों और मानववादियों का घर बन गया। ये सब लोग वहीं जमे रहते। पुराने ग्रीक ग्रंथों में से प्लेटो के ग्रंथों ने, खासकर उसके 'डायलॉग', बहुत प्रभावित किया।"[26]

पुनर्जागरण का केंद्र फ्लोरेंस इसलिए भी था कि यूरोपीय पुनर्जागरण के तीनों अग्रदूत– दांते (1265-1321 ई.), फ्रांसिस्को पेत्रार्का (1304-1374 ई.) और जिओवानी वोकैचियो (1313 -1375 ई.) ये इटली के फ्लोरेंस शहर से ही थे। दांते की रचना 'डिवाइन कामेडी' पुनर्जागरण काल की शुरूआती रचना है, इसमें मृत्यु के पश्चात् आत्मा द्वारा नरक एवं स्वर्ग के भ्रमण का चित्रण है। पेत्रार्का की रुचि प्राचीन भाषाओं के अध्ययन और उसके मानववादी पहलुओं को जन भाषा में समाज के समक्ष प्रस्तुत करना था तो वोकैचियो ने 'टेल' अर्थात् कहानियाँ लिखकर 14वीं सदी में इतालवी गद्य की शुरूआत की। वीरभारत तलवार इन रचनाकारों की जनभाषा की पक्षधरता को पुनर्जागरण का प्रमुख लक्षण मानते हैं, वे लिखते हैं कि "दांते, पेत्रार्का और वोकैचियो, तीनों ने प्राचीन शास्त्रीय भाषा लैटिन में भी रचना की, लेकिन उनकी प्रसिद्धि उनके इतालवी भाषा में लिखे साहित्य के लिए हुई। दांते चाहते तो सिर्फ लैटिन भर में लिख सकते थे जो पूरे यूरोप में पंडितों–विद्वानों के बीच ज़्यादा मान्य भाषा थी। दांते की कविता पर लैटिन के महान प्राचीन कवि वर्जिल का प्रभाव भी है। लेकिन दांते ने इतालवी भाषा में कविता लिखकर इटली में आधुनिक भाषा साहित्य की शुरूआत की। पेत्रार्का ने इतालवी में भी लिखा, पर ज़्यादा लैटिन में लिखा। उसने प्राचीन शास्त्रीय भाषा में लिखना ज़्यादा गौरवपूर्ण माना। "[27]

ऐसा नहीं है कि पेत्रार्का के लैटिन भाषा में अधिक लिखने से उसकी प्रसिद्धि में कोई कमी आयी हो क्योंकि उसने अपने प्राचीन भाषा के ज्ञान का उपयोग प्राचीन भाषा और साहित्य के मानवतावादी रचनाओं को ढूँढ़ने में किया। पेत्रार्का ने सिसरो के 'लेटर्स टू

---

[26] आलोचना, अप्रैल-जून 2007, पृष्ठ सं. 22
[27] आलोचना, अप्रैल-जून 2007, पृष्ठ सं.19

एटीकस' ग्रंथ को ढूँढ़ निकाला, जिसे पढ़कर उसको पहली बार मानवता की पूर्णता का बोध हुआ। वीरभारत तलवार लिखते हैं, "रिनेसाँसा में पेत्रार्का की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राचीन ग्रंथों की खोज का अभियान शुरू करने में थी। पेत्रर्का को प्राचीन किताबें ढूँढ़ निकालने, उन्हें पढ़ने और जमा करने का शौक पागलपन की हद तक था। ईसाई धर्म की दृष्टि से यह शौक़ बहुत ख़तरनाक था क्योंकि अगर कोई व्यक्ति ज्ञान की तरह-तरह की किताबें रखता और पढ़ता है तो वह चर्च द्वारा निर्धारित पवित्र धर्मग्रंथों के मार्ग से भटक सकता है। ग़ौरतलब है कि मध्ययुग में ज्ञान के सभी स्रोतों पर चर्च का एकाधिकार होता था और सभी तरह की किताबें सिर्फ ईसाई मठों के पुस्तकालयों में होती थी पेत्रार्का ने चर्च के इस एकाधिकार को तोड़ डाला। चर्च ने ग़ैर–धार्मिक किताबों के प्रति लोगों में संदेह और शत्रुता का भाव कायम कर रखा था। पेत्रार्का ने लोगों को इन किताबों से प्रेम करना सिखाया, उन्हें अपना अंतरंग मित्र बनाना सिखाया। अपनी घुमक्कड़ ज़िंदगी में वह जहाँ भी गया, उसने दुर्लभ प्राचीन किताबों की खोज की।"[28]

पेत्रार्का और स्लुत्तती (जो पेत्रार्का का सच्चा उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ) के अथक प्रयास से पुराने ग्रंथ ढूँढ़ने की जो मुहिम चली वह जनसाधारण में खूब लोकप्रिय हुई। वीरभारत तलवार लिखते हैं कि, "संस्थान से ग्रीक भाषा सीखकर निकले कई इतालवी ग्रीस देश में गए और वहाँ से सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ खोजकर लाए। इन ग्रंथों में होमर, अरिस्टोफैनीज, देमाँस्थानीज और प्लेटो के ग्रंथों के अलावा सफोक्लिज तथा अन्य ग्रीक नाटककारों के नाटकों की पांडुलिपियाँ भी शामिल थीं। विला डूरां के अनुसार जब ये मानवतावादी इन ग्रीक ग्रंथों को लेकर इटली वापस लौटते तो उनका स्वागत विजेता सेनापतियों की तरह किया जाता। नगर के राजकुमार उनकी यात्राओं का खर्च पूरा करने के लिए उन्हें थैलियाँ भेट करते।"[29]

---

[28] आलोचना, अप्रैल–जून 2007, पृष्ठ सं. 20

[29] आलोचना, अप्रैल–जून 2007, पृष्ठ सं. 21

इटली के पुनर्जागरण में इन दोनों (पेत्रार्का और वोकैचियो) के महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए इनके जीवन काल को पुनर्जागरण का प्रथम काल घोषित किया गया, जबकि दांते को संक्रमण काल का रचनाकार माना गया। लईक अहमद अपनी किताब 'आधुनिक विश्व का इतिहास' में लिखते हैं "1375 ई. में वोकैचियो की मृत्यु के पश्चात् इटेलियन साहित्य के पुनर्जागरण का प्रथम चरण समाप्त होता है । पेत्रार्क और वोकैचियो का यह युग ट्रिसेंटो (trisento) के नाम से अभिहित किया जाता है और यह शब्द 1300 ई. के पश्चात् प्रारम्भ होने वाले युग का द्योतक है।"[30]

इटली के पुनर्जागरण को विद्वानों ने तीन खण्डों में विभाजित कर अध्ययन किया है, इसका उल्लेख लईक अहमद अपनी किताब 'आधुनिक विश्व का इतिहास' में करते हैं । पहला काल ट्रीसेंटो है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, दूसरा काल क्वाट्रेसेंटो (quattrocento) है इसकी विशेषता यह है कि इस काल में यूनानी भाषा और साहित्य के अध्ययन पर जोर दिया गया और इसी समय से कुस्तुनतुनियाँ से विद्वानों की आवाजाही शुरू हो गयी थी। 1313 ई. में यूनानी विद्वान् मैनुअल क्रिसालोरस वेनिस गया और उसके साथ उसके अनेक साथी भी इटली गए। इससे इटली के विद्वानों में यूनानी भाषा और संस्कृति के अध्ययन में रुचि बढ़ी जिओवानी आरिस्पा (jiovani aurispa) ने 1413 ई. से 1423 ई. के बीच लगभग 250 पुरानी किताबों पर काम किया और इस प्रकार सोफोक्लीज (sophocles) युरिपाइड ( euripides ), थ्युसीडाइडस (thucydides) आदि विद्वानों के ग्रन्थ आधुनिक विश्व के सामने आये। तीसरे काल को सिनक्वेसेंटो (cinquecento) कहा जाता है जिसका आरंभ 1500 ई. से माना जाता है। इस काल की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन और अर्वाचीन प्रभावों को मिश्रित कर मौलिक प्रभावों को प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति रही है।

---

[30] लईक अहमद , 'आधुनिक विश्व का इतिहास'- पृष्ठ सं.23

यूरोप में 1453 ई. में कुस्तुनतुनियाँ के पतन भर से यूरोप में पुनर्जागरण आ गया यह कहना आधा सच है । ऊपर हम 1453 की घटना से पहले इटली में दांते, पेत्रार्का और वोकैचियो के साहित्यिक और सांस्कृतिक अवदान की बात कर चुके हैं। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाकार पुनर्जागरण की भूमि पहले ही तैयार कर चुके थे । कुस्तुनातुनियाँ के पतन से वहाँ से पलायन किए विद्वानों ने पुनर्जागरण के क्षेत्र में क्रांति ला दी ।

इन विद्वानों ने (कुस्तुनतुनियाँ से गए विद्वानों ने) पहले से तैयार भूमि पर विज्ञान और चिकित्सा के क्षेत्र में क्रांति ला दी । व्यापारिक मार्ग की खोज के क्रम में अमेरिका (1492ई०) तथा भारत (1498 ई०) जैसे सामरिक महत्त्व के बाजार और कच्चे माल उत्पादक देश मिले, जो औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति को आगे बढ़ाने में सहायक हुए । सन् 1454 ई० में कागज एवं छापेखाने के अविष्कार ने तो जन सामान्य के लिए भी शिक्षा सुलभ कर दी । अन्य भाषाओं के साहित्य और इतिहास का खूब अनुवाद हुआ जिससे लोग अच्छे और बुरे में भेद समझने लगे तथा उनमें तर्क शक्ति का विकास हुआ ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि यूरोपीय पुनर्जागरण के केंद्र में मानवतावाद था, इसमें ईश्वर को नहीं बल्कि मनुष्य और उसके व्यवहार को केंद्र में रखा गया । मानवतावाद से प्रभावित युग में कला-विज्ञान तथा हर तरह की बौद्धिक एवं व्यावहारिक गतिविधियाँ मनुष्य की जाँच-परख की ओर उन्मुख हुई । ईश्वर से संबंध रखने वाले धर्म शास्त्र के स्थान पर ऐसे दर्शन का विकास हुआ, जिसकी दिलचस्पी मानव के स्वभाव तथा उसकी परिस्थिति में थी । पुनर्जागरण काल में ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य दुनियाँ के स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । पुनर्जागरण कालीन लोगों ने अपने यूनानी तथा रोमन पूर्वजों की तरह मानव रूप का सुन्दरतम वस्तु के रूप में गुणगान किया और यह बताया की मानव बुद्धि हर शक्ति की योजना करने में सक्षम है । मानवतावाद ने न सिर्फ जनसाधारण का, अपितु एक व्यक्ति का भी गुणगान किया है अत: व्यक्तिवाद ने मानव के स्वाभिमान को मज़बूत किया ।

भारत में मानवतावाद की अविरल परम्परा हमें आलवार (वैष्णव) एवं नयनार (शैवों) के यहाँ दिखती है। जब पूरा यूरोप अंधकार युग में जी रहा था। उस समय अलावारों और नयनारों ने छठी से दसवीं सदी तक भक्ति का विस्तार किया और इन भक्तों ने भक्ति के माध्यम से पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को चुनौती देने की परम्परा की शुरूआत की जो पूरे भारत में अविरल रूप से चलती रही। ये संत वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे और जनसामान्य की भाषा में रचना करते थे। लेकिन ध्यान देने योग्य यह है कि ये संत सगुणोपासक के साथ–साथ बौद्ध धर्म के विरोधी भी थे। इनका समाज में कितना प्रभाव था, इसका पता 945 ई. के एक अभिलेख से चलता है। इन संतों के सम्मान में शासकों ने मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ तक बनवायी। 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्' कक्षा बारह के इतिहास की पाठ्य पुस्तक 'भारतीय इतिहास के कुछ विषय - भाग 2' में लिखा है कि "तमिल भक्ति रचनाओं की मुख्य विषयवस्तु बौद्ध और जैन धर्म के प्रति उनका विरोध है। विरोध का स्वर नयनार संतों की रचनाओं में विशेष रूप से उभरकर आता है। इतिहासकारों ने इस विरोध की व्याख्या करते हुए यह सुझाव दिया है कि परस्पर विरोधी धार्मिक समुदायों में राजकीय अनुदान को लेकर प्रतिस्पर्धा थी।...नयनार और आलवार संत वेल्लाल कृषकों द्वारा सम्मानित होते थे। इसलिए आश्चर्य नहीं कि शासकों ने भी उनका समर्थन पाने का प्रयास किया।...945 ई. के एक अभिलेख से पता चलता है कि चोल सम्राट परांतक प्रथम ने संत कवि अप्पार संबंदर और सुंदरार की धातु प्रतिमाएँ एक शिव मंदिर में स्थापित करवायी। इन मूर्तियों को उत्सव में एक जुलूस में निकाला जाता था।"[31]

इन संतों का विरोध आठवीं-नवी सदी के शंकराचार्य ने किया। जिनके मत का मूल आधार ब्रह्म सत्यम, जगत मिथ्या था। जिसको उन्होंने 'अद्वैतवाद' नाम दिया। उनका यह मत वर्ण व्यवस्था को मज़बूत करने के पक्ष में था, इस मत का उद्देश्य तत्कालीन समाज में शूद्र

[31] NCERT, कक्षा 12 'भारतीय इतिहास के कुछ विषय भाग-2', पृष्ठ सं.146

एवं दलित भक्तों की लोकप्रियता पर कुठाराघात करना था । क्योंकि शूद्रों ने ब्राह्मणों के भगवान को अपनाकर समाज में व्याप्त भेदभाव को दूर करने पर बल दिया और समाज में इनके कार्य को खूब सराहा भी गया । शूद्रों की लोकप्रियता से घबराए शंकराचार्य ने सगुण ईश्वर की सत्ता को मानने से ही इंकार कर दिया और अपने सबल तर्कों से एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित किया । शायद शूद्रों के भगवान के आश्रय में जाने से ईश्वर का एक रूप ही उस समय बचा और देवता शूद्रों के नाम लेने के कारण अपना देवत्व खो बैठे, तभी तो शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद की परिकल्पना लायी । के. दामोदरन ने लिखा है कि " यदि ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और यदि समस्त घटनाएँ मानव प्राणियों सहित समस्त वस्तुएँ ब्रह्म ही हैं, तो क्या इस निष्कर्ष पर पहुँचना गलत होगा कि सभी मनुष्यों को बराबर माना जाना चाहिए ? क्या एक ही ब्रह्म ब्राह्मण और शूद्र में मौजूद नहीं है ? तब सामंती समाज में सामाजिक असमानताओं और जाति–भेदों को किस आधार पर न्याय संगत ठहराया जा सकता है ? शंकराचार्य को यह समझते देर नहीं लगी कि इस तरह के तर्कों का सहारा लेने पर लोग जिस दिशा में पहुँचेंगे, वह बहुत रुचिकर नहीं होगी ।...शंकराचार्य ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि केवल उच्च कुल में उत्पन्न लोग ही आत्मा और ब्रह्म के बीच अभिन्नता को समझ सकते हैं ।"[32]

उत्तर भारत में सिद्ध सक्रिय थे, जो बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय से सम्बंधित थे । मन्त्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले योगियों को सिद्ध कहा गया । सिद्ध वैदिक धर्म की अवहेलना करते थे और साथ ही सामाजिक कुरीतियों, जातिगत भेद-भाव और वर्ण-व्यवस्था की घोर निंदा कर रहे थे । कण्डहपा पुरोहितों से कहते हैं-

"आगम वेअ पुराणे, पण्डित मान बहंति ।
पक्क सिरिफल अलिअ, जिम वाहेरित भ्रमयंति ।।"[33]

---

[32] के दामोदरन, 'भारतीय चिंतन परंपरा', पृष्ठ सं. 261
[33] संपा. डॉ. नगेंद्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ सं. 60

इन सिद्धों पर भोगवादी होने का आरोप लगाया गया और उसे प्रचारित भी किया गया जिससे धीरे–धीरे जनसामान्य की आवाज बने सिद्धों की आवाज हमेशा के लिए दबा दी गयी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन सिद्धों नाथों और जैनों के साहित्य को साम्प्रदायिक कह कर साहित्य में स्थान न देने के पक्षधर थे, उन्होंने लिखा है कि "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य  की कोई धारा नहीं कह सकते।"[34]

सिद्ध कवि जनसाधरण के बीच बहुत लोकप्रिय थे। सिद्धों के समकालीन दो और विचारधाराएँ थीं जैन और नाथ, पर ये अपनी उच्च नैतिकता और धार्मिक आदर्श के चलते जनसामान्य में लोकप्रिय न हो सके।

आलवार भक्तों से प्रभावित बारहवीं सदी के रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' मत की स्थापना की। ये ब्रह्म और जीवात्मा की अलग-अलग सत्ता मानते हैं। इन्होंने भक्ति का दरवाजा सबके लिए खोल दिया, फिर भी अपने पूर्वजों के संस्कार से मुक्त नहीं हो पायें। रामानुजाचार्य ने यह निर्देश दे रखा था कि दलित भक्त, भक्ति के समय साथ रह कर भक्ति करेंगे, भोजन के समय अपनी जाति की पंगत में ही बैठकर भोजन करेंगे।

तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य बड़े दार्शनिक हुए, ये भक्ति के साथ–साथ सामाजिक समानता की भी बात करते हैं। इनका सिद्धांत 'द्वैताद्वैतवाद' के नाम से जाना गया जो तत्कालीन समय में खूब लोकप्रिय रहा। यह वही समय है जब सामंतवाद के विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है। रामविलास शर्मा लिखते हैं, "राज्यसत्ता के जिस स्वरूप को निरंकुश कहा जाता है, वह 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी का चलाया हुआ था।...अलाउद्दीन के समय में राज्य सत्ता की एक विशेषता यह हुई सामंतों पर उसका नियंत्रण, दूसरी विशेषता हुई

---

[34] आचार्य रामचंद्र शुक्ल , 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'- पृष्ठ सं.13

नौकरशाही का प्रसार, तीसरी विशेषता हुई स्थाई सेना, चौथी विशेषता हुई उत्पादकों से सीधा संपर्क। इस चौथी विशेषता के साथ शासनतंत्र में वित्त की प्रधानता हुई।...अलाउद्दीन की वित्तीय नीति बिखरे हुए सामंतों के हित में नहीं थी, वह व्यापारिक पूँजीवाद के हित में थी जो अर्थतंत्र में वित्त की प्रधानता का कारण था।"[35]

सामंतवाद के गर्भ से व्यापारिक पूँजीवाद का जन्म होता है और यही पूँजीवाद जाति का निर्माण करता है, जो किसी भी शोषित समूह के लिए बहुत आवश्यक है। जाति का निर्माण ही सच्चे अर्थों में अपनी अस्मिता की पहचान है जो किसी भी राष्ट्र की रीढ़ है। जाति की अवधारणा को बताते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं, "अपनी आवश्कताओं के पूर्ति के अलावा जब किसी जनपद के लोग विनिमय के लिए माल तैयार करते हैं, तब आर्थिक संबंधों का विस्तार होता है, जनपदों का अलगाव ख़त्म होने लगता है। विनिमय के विस्तार के साथ वित्त का चलन होता है।...जब तक व्यापार का उद्देश्य संपत्तिशाली वर्गों के वैभव–विलास की सामग्री जुटाना होता है, तब तक उसका दायरा सीमित रहता है। जब वह सामान्य जनों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सामग्री जुटाता है, तब उसका दायरा बड़ा होता है, तभी नए आर्थिक संबंधों का निर्माण होता है। केवल नगरो में नहीं, नगरों और गाँवों के बीच विनिमय का विकास होता है। नगर जिन आर्थिक संबंधों का प्रसार करते हैं, उनकी लपेट में गाँव भी आ जाते हैं। इस तरह नए रूप का जन्म होता है। इसे हम जाति कहते हैं।"[36]

इस बदलती हुई परिस्थिति में कुछ धर्मगुरुओं ने भी इस बदलाव का स्वागत किया है। उन्हीं में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानंद हैं, जिन्होंने जाति भेद से ऊपर उठकर सभी जाति धर्म के लोगों को अपना शिष्य बनाया। कुछ उच्च वर्गीय विद्वान रामानंद को अपना मानकर उनके मूल संस्कारों को उनका न मानने की ठान रखी है। इस विवाद पर पुरुषोत्तम अग्रवाल ने 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' किताब

---

[35] रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ'- पृष्ठ सं.29

[36] रामविलास शर्मा, 'हिन्दी जाति का साहित्य' - पृष्ठ सं. 14-15

लिखकर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समय पर्याप्त शोध सामग्री सामने नहीं आ सकी थी, जिसके चलते उन्होंने अपने इतिहास ग्रन्थ में संदिग्ध संस्कृत रचनाओं को रामानंद की रचना मान लेते हैं, जबकि रामानंद के निर्गुण पद जो 'गुरुग्रंथ साहब' में संकलित है को किसी दूसरे रामानंद रचना बताते हैं।

परशुराम चतुर्वेदी संस्कृत विद्वान रामानंद को कबीर के गुरु होने की संभावना से इंकार कर देते हैं। इन्हीं वजहों की पड़ताल करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल अपने शोधपत्र 'द्वितीय सेतु जागरण कियो'...आख्यान आकाश धर्मा गुरु रामानंद का' में अपने सबल तर्कों से रामानंद को कबीर का गुरु सिद्ध करते हैं और कहते हैं - "ऐसे ठीक–ठाक काल क्रम बोध के साथ भविष्य–पुराण रामानंद संबंधी पारम्परिक मान्यताओं और नव प्रचारित दावों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। रामानंद का जन्म–स्थान प्रयाग को बताते हुए, 'भविष्य पुराण' उनके चमत्कारिक व्यक्तित्व और बारहों शिष्यों का वर्णन करता है – सातवें अध्याय में। छठे अध्याय में तैमूर के आक्रमण का वर्णन कर चुकने के बाद। भारत पर तैमूर का आक्रमण 1399 ई. में हुआ था 1299 में नहीं।"[37]

इससे तो स्पष्ट है कि रामानंद का समय पंद्रहवीं सदी ठहरता है तो फिर रामानंद का समय तेरहवीं सदी ठहराने के पीछे का क्या कारण रहा ? पुरुषोत्तम अग्रवाल इसकी पड़ताल करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ विद्वान् रामानंद को आचार्य बनाने की ठान लिए हैं जैसे भगवदाचार्य। भगवदाचार्य कहते हैं - " यह सब तूफान क्यों ? क्या तुम यही चाहते हो कि संसार यह जान ले कि श्री रामानंद स्वामी निरक्षर थे और केवल टूटी-फूटी हिन्दी जानते थे ? परन्तु मेरे यार ! तुम्हारे जैसे बदमाशों को हम भी नाक से चना चबवायेंगे। जब तक पृथ्वी पर एक भी श्रीरामानंदी जीवित रहेगा तब तक श्रीरामानंद स्वामी जी को कोई भी निरक्षर सिद्ध न कर सकेगा।"[38]

---

[37] आलोचना, अक्टूबर –दिसंबर 2008, पृष्ठ सं.20

[38] आलोचन, अक्टूबर –दिसंबर 2008, पृष्ठ सं.26

हालाँकि बाद में भगवदाचार्य ने 'आनंद भाष्य' को जाली ग्रन्थ कहा। श्रेष्ठतावादी मानसिकता, जो अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए इतिहास से भी खिलवाड़ करने में नहीं झिझकती। पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं, "औपनिवेशिक सत्ता और ज्ञानकांड द्वारा भारतीय इतिहास और परम्परा के ब्राह्मणीकरण को कुछ ब्राह्मणों का उत्साही समर्थन प्राप्त था। यह मनवाने के लिए इन ब्राह्मणों ने पूरा जोर लगा दिया कि हिन्दू परंपरा को जानने–समझने के प्रमाणिक स्रोत सिर्फ संस्कृत में है। देशभाषा स्रोत तभी गंभीरता से लिए जा सकते हैं जबकि वे संस्कृत स्रोतों का अनुवाद या अनुगमन करें। वास्तविकता इसके विपरीत थी। औपनिवेशिक काल में आए संवेदना–विच्छेद के पहले कबीर देशभाषा में रचकर ही सारे समाज में सम्मानित थे। रामानंद को सम्मान देने के लिए 'शास्त्रसिद्ध आचार्य' या 'आनंदभाष्यकार' होना ज़रूरी नहीं माना गया।"[39]

रामानंद के शिष्य कबीर दास थे जो निर्गुण संत परम्परा के प्रतिनिधि संत माने जाते हैं। रामानंद को आचार्य सिद्ध करने के बाद कबीर को भी विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद से प्रभावित होने का दंभ भरा जाने लगा। भारतीय समाज में ग़ज़ब की रवायत है कि जब तथाकथित शूद्र दक्षिण में सगुणोंपासक थे तो उन्हें रोका गया और एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित किया गया। जब भक्ति काल में निर्गुण पंथ के संत (जो निम्न जाति से आते हैं) एकेश्वरवाद के माध्यम से अपने मत का प्रचार-प्रसार करने लगे तो पहले उन्हें भरसक रोकने का प्रयत्न हुआ जब उसमें सक्षम नहीं हुए और जन सामान्य में उनकी लोकप्रियता को देखते हुए, उन्हें अपने विचार से प्रभावित बताने लगे। संतों की लोकप्रियता से प्रभावित कुछ आलोचक भी संतो को सगुणधारा के ब्राह्मण मतों से प्रेरित मानते हैं। लल्लन राय अपने एक लेख में लिखते हैं- " यदि कबीर के निर्गुण पंथ को किसी परम्परा से जोड़ना ही है तो उसे संत

[39] आलोचना, अक्टूबर –दिसंबर 2008, पृष्ठ सं. 26

ज्ञानेश्वर, नामदेव या फिर नाथों–सिद्धों की परम्परा से भी जोड़ा जा सकता है। यदि उसे और पीछे ले जाना है तो दक्षिण के आलवार भक्ति से भी जोड़ा जा सकता है।"[40]

मुक्तिबोध आलवार संतों को भक्ति आन्दोलन के पृष्ठभूमि के रूप में देखते हैं, । वे लिखते हैं- "भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत से आया । समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषदवादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन आलवार संतों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया। "[41]

जबकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल पूरे भक्तिकाल को दक्षिण भारत से प्रभावित मानते हैं, जो भक्ति के रूप में सामंतवाद की विरोधी प्रवृत्ति अविरल गति से चलती रही। वे लिखते हैं, "भक्तिकाल का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदयक्षेत्र में फ़ैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[42]

जब यूरोप में पुनर्जागरण अपने चरम पर था, उस समय भारत में भक्ति आन्दोलन। यूरोपीय पुनर्जागरण का मुख्य उद्देश्य मध्यकाल के बाह्याडम्बरों के ख़िलाफ़ मानवतावाद और मनुष्य को महत्त्व देना था। भारत में यह काम भक्तिकालीन संत कर रहे थे। मुक्तिबोध लिखते हैं कि –"पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, धर्मदास, नाभा, सिप्पी, सेना, नाई आदि महापुरुष ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी हुआ।"[43]

संतों का पुरोहित वर्गों ने किस हद तक विरोध किया इसका उदाहरण मुक्तिबोध देते हुए लिखते हैं कि, "निचली जातियों के आत्म प्रस्थापना के उस युग में कट्टर पुराण पंथियों ने

[40] इग्नू पाठ्य क्रम –उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन में कबीर और उनके निर्गुण पंथ की स्थिति –डॉ.लल्लन राय
[41] सं. नेमिचंद्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' 05 पृष्ठ सं.293
[42] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.40
[43] नेमिचंद्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' 05 पृष्ठ सं.-293-294

जो-जो तकलीफें इन संतों को दी है, उनमें ज्ञानेश्वर जैसे प्रचंड प्रतिभावान संत का जीवन, अत्यंत करुण, कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' (गीता का मराठी रूपांतर) तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा।"[44]

कबीर के बाद अच्छे संतों में न कमी आयी न ही उनकी लोकप्रियता में, पर इन संतों में मठ और सम्प्रदाय बनाने की प्रवृत्ति इस कदर बढ़ी कि ये अपने ख़िलाफ़ चल रहे दुष्प्रचार पर न ध्यान दिए और न ही जनता की मूल समस्याओं की तरफ़ ध्यान दे सके। निर्गुण आचार्य अपनी लोकप्रियता को भुनाते हुए जगह-जगह मठ और नए-नए संप्रदाय बनाने में मशगूल रहे। शंभुनाथ लिखते हैं, "यह विडंबना ही है कि कबीर, गुरुनानक, रैदास, दादू, सेना, पीपा, दरिया साहब, लालदास, गरीबदास आदि के बाद हिन्दी प्रदेश में संत साहित्य का विभिन्न साम्प्रदायिक पंथों में संकीर्ण विभाजन हो गया। इस नई चेतना और गतिशील आलोचनात्मक विवेक को विकसित करने वाले नए कवि दलित और मुसलमान समुदाय से फिर पैदा नहीं हुए। धार्मिक पाखंड और कट्टरता के ख़िलाफ़ वैसी रचनात्मक आवाज फिर सुनाई नहीं पड़ी। कबीर और तुलसी के समय के बीच करीब सौ सालों का फ़रक है। कबीर के बाद धर्माचार्यों ने इस लंबी कालावधि में अपने को संगठित कर लिया था। इसलिए तुलसी नरम थे। कट्टरता का युग फिर आरंभ हो गया था। संत परंपरा में भी इसकी प्रतिध्वनि गूँजी। दादू पंथियों ने कबीर को तिलांजलि दे दी, कबीरपंथियों ने दादू को। रैदासपंथी भूलकर भी कबीर का नाम नहीं लेते, कबीरपंथी रैदास को अपना नहीं मानते। संत साहित्य मठों में विभक्त हो गया।"[45]

कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास और नंददास जैसे बड़े भक्त कवियों ने निर्गुण का विरोध बहुत शालीन और तर्क पूर्ण ढंग से भ्रमर गीत में करते हैं। वे भले यह कहते हैं कि यह मेरा मानना है, लेकिन वे तत्कालीन समाज को भी अपना मत मनवाने में सफल रहे हैं-

"रूपरेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु, निरालंब कित धावै।

---

[44] नेमिचन्द्र जैन 'मुक्तिबोध रचनावली' 05, पृष्ठ सं.292

[45] विपक्ष (पत्रिका), अंक 9 सन् 1995, पृष्ठ सं.42

सब विधि अगम विचारहिं तातैं, सूर-सगुन-पद गावै ।।"[46]

कृष्ण भक्ति के प्रति निम्न वर्ग के आकर्षण का मुख्य कारण यह था कि उनके कबिलाई देवता का यशोगान सभी उच्चकुलीन लोग कर रहे थे तो भला वे पिछे क्यों रहें ? डा. लल्लन राय लिखते हैं, " लेकिन कृष्ण काव्य के अंतर्गत 'भागवत पुराण' के प्रभाव से पौराणिक कथाओं के अत्यधिक समावेश के माध्यम से अवतारवाद की स्थापना द्वारा वर्णाश्रमधर्मी जातिवाद के लिए ठोस आधार बना । इसका सहारा लेकर गोस्वामी तुलसीदास को वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई दिक्कत नहीं हुई । तुलसीदास तक पहुँचकर उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन मध्ययुगीन सामंती समाज की दो विरोधी–सांस्कृतिक शक्तियों की खुली टकराहट बनकर सामने आता है, जिसके माध्यम से दो विरोधी–सांस्कृतिक अभिरुचियाँ और परस्पर विरोधी सामाजिक हितों की भी अभिव्यक्ति हुई है ।"[47]

तुलसीदास, कबीर मतावलंबियों से चिढ़कर उनके बारे में लिखते हैं -

"साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान ।।
बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि ।
जानहिं ब्रह्म सा बिप्रवर आँखि देखावहिं डाटि ।।"[48]

ऐसा नहीं है कि तुलसीदास दलित वर्ग से घृणा करते थे, उक्त कथन कबीर के प्रभाव में लिखा जान पड़ता है । तुलसीदास का साहित्य समन्वय का साहित्य है । शंभुनाथ लिखते हैं, "भक्ति आन्दोलन परम्परा की अखंडता में आस्था रखता था । तुलसी 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' भक्ति के पक्षधर थे तो कबीर भी शब्द साधना की महत्ता निरूपित करते हुए कहना नहीं भूलते "शब्दै वेद पुराण कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै ।" जिस तरह निराकार ब्रह्म का प्रभाव राम–कृष्ण भक्त कवियों पर था, अवतारवाद का प्रभाव संत कवियों पर था । कबीर

---

[46] बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृष्ठ सं. 121
[47] इग्नू एम ए पाठ्यक्रम, भक्ति आन्दोलन की क्रांतिकारिता बनाम जनवादी चिंतन धारा की विरासत –डा. लल्लन राय
[48] आ. रामचंद्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ सं. 114

पर था । कबीर कहते हैं "अजमल गन गनिका पतित करम कीन्हा । तेऊ उतर पार गए राम नाम लीन्हा ।" वह राम और कृष्ण का फ़रक ज़रूर भूल जाते हैं पर अवतारवाद को टाल नहीं पाते । दूसरी ओर तुलसी ज्ञान की महत्ता बताते हैं– "कहहिं संत मुनि वेद पुराना । नाहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना ।"[49]

भक्तिकाल के सभी भक्त कवियों का मूल उद्देश्य समाज में व्याप्त बुराईयों से समाज को अवगत कराना रहा है । हाँ सगुण भक्त अपने इष्टदेव की ख़िलाफ़त नहीं सुन पा रहे थे, उन्होंने भी निर्गुण पर दोषारोपण किया । भक्तिकाल के सभी भक्तों का उद्देश्य एक था पर रास्ते अलग-अलग थे । ये सभी संप्रदाय एक दूसरें पर हावी होना चाहते थे, उनको नष्ट करने के लिए नहीं बल्कि जनता में लोकप्रिय होने के लिए और अपने विचार की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए भी । इन विशेषताओं का उल्लेख कर, रामविलास शर्मा ने स्पष्ट कहा है, "भक्ति साहित्य जातीय ही नहीं है, वह जनवादी भी है । पूँजीवादी विकास के बिना जाति का निर्माण नहीं होता, पूँजीवादी विकास के नेता होते हैं पूँजीपति; इसलिए यह धारणा आसानी से बन जाती है कि जातीय आन्दोलन विशुद्ध पूँजीवादी प्रपंच है । इस धारणा के प्रभाव से इस आन्दोलन में किसानों और कारीगरों की भूमिका उपेक्षित रहती है, जातीय संस्कृति के जनवादी स्वरूप की अनदेखी की जाती है ।"[50]

भक्ति काल की इतनी उर्वर भूमि आख़िर बंजर कैसे हुई ? इसके कारणों की पड़ताल करते हुए हमें कई कारण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । जैसे कृष्णभक्ति काव्य, कृष्ण काव्य को इसलिए लोकप्रियता नहीं मिली की इसके विचारक बड़े विद्वान थे बल्कि लोकप्रियता इसलिए मिली क्योंकि कृष्ण कबिलाई संस्कृति के आराध्य थे, अपने इष्टदेव के प्रति जनसामान्य का आकर्षण स्वाभाविक था । सूरदास, नन्ददास जैसे कवि कबिलाई संस्कृत को दिखाते हुए, भ्रमरगीत परम्परा के माध्यम से संतों के मतों का खंडन करते हैं । कृष्ण भक्त

[49] विपक्ष, अंक 9 सन् 1995 पृष्ठ सं.37
[50] रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ' –पृष्ठ सं.35

कवियों के साथ वही जनता है जो संतों का खुलकर समर्थन करती थी । मुक्तिबोध मुग़ल शासकों के शासन में भारत की उन्नति और अवनति की पड़ताल करते हुए लिखते हैं, “अकबर के अनंतर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने राष्ट्रीय राजतंत्र बराबर बनाये रखा । किन्तु, शाहजहाँ के अंतिम काल में, संकीर्णतावादी मनोवृत्तियों ने सिर उठाया । औरंगजेब ने, राष्ट्रीय राजतंत्र को बलपूर्वक धर्मतंत्र बना दिया । फलस्वरूप, उसकी मृत्यु के उपरांत मुग़ल साम्राज्य का विघटन आरंभ हुआ । भारत अनेक राजनैतिक केन्द्रों में बंट गया । मराठा तथा सिख शक्ति का अभ्युत्थान हुआ । इस काल में वाणिज्य व्यापार, साहित्य शिल्प तथा चित्रकला का विशेष उत्कर्ष हुआ । तत्कालीन भारत अत्यंत वैभवशाली तथा कला संपन्न देशों में था ।”[51]

एक और प्रमुख कारण तत्कालीन अर्थव्यवस्था है जो मुख्यतः कृषि पर आधारित थी । कृषि आधारित जीवन शैली अपने में सामंती व्यस्था है । ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रसिद्ध कविता ‘ठाकुर का कुआँ’ स्वतः ही याद आती है -

“चूल्हा मिट्टी का/मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का/भूख रोटी की
रोटी बाजरे की/बाजरा खेत का/
खेत ठाकुर का ।”[52]

जब इस समय यह दशा है तो रीतिकाल में क्या रही होगी, इसका सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है । कृषि आधारित अर्थव्यवस्था होने के कारण इस व्यवस्था के संचालक सामंतों ने अपनी सामंती सीमाओं के अंतर्गत रह रहे निम्न आय वर्ग वालों की समृद्धि के सभी द्वार हमेशा के लिए बंद कर दिये । आपका प्रश्न यह हो सकता है की फिर भक्तिकाल में कौन सी व्यवस्था थी ? जिसके कारण भक्तिकाल का उदय हुआ ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भक्ति काल केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने का काल था । मुहम्मदबिन तुग़लक़

[51] सं. नेमिचन्द्र जैन ‘मुक्तिबोध रचनावली’ भाग छ: पृष्ठ सं.534
[52] ओमप्रकाश वाल्मीकि, सदियों का संताप, पृष्ठ सं. 13

कुछ हद तक केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने में सफल रहा लेकिन उसकी मृत्यु के साथ ही उसका साम्राज्य भी एक छोटा राज्य ही रह जाता है। केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने के लिए लोदी वंश संघर्ष ही करता रहा। बाबर, हुमायूँ तथा शेरशाह भी केन्द्रीय सत्ता स्थापित नहीं कर पाए थे, हाँ अकबर ने केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने में सफलता पायी। देश के लगभग सभी राजाओं ने अकबर और उसके उत्तराधिकारियों को अपना अगुआ मान लिया। केन्द्रीय सत्ता को स्थापित करने में जो संघर्ष था वही आम जनता को एक अवसर मिला कि वे अपने विचारों को भक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त कर सके। जब सभी सामंतो की दाढ़ी में आग लगी थी तो किसी को दूसरी तरफ़ देखने तक की फुरसत ही कहाँ ? अकबर के बाद उसके वंशजों को 'शहंशाह-ए-हिन्द' मानने में किसी को दिक्कत नहीं हुई। भारतीय सामंतो के डर को दूर करते हुए मुगलों ने रोटी-बेटी का रिश्ता जोड़ा। मुगलों का कहना था कि उनको कुछ नहीं चाहिए बस आप उनकी अधीनता स्वीकार कर लें, आप कैसा शासन करते हैं, उससे उनका कोई मतलब नहीं ? तब स्वाभाविक था सभी सामंत आपस में लड़ना छोड़, अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने में ध्यान देने लगे, जो भी गतिविधियाँ सामंतो के अहम् को ठेस पहुँचाने की कोशिश करती उसका वे समूल विनाश कर देते थे और कोई काम या युद्ध न होने के कारण स्वयं को विलासिता में लिप्त रखते थे, क्योंकि अब उनके साम्राज्य पर कोई ख़तरा नहीं था अब वे अजेय मुग़लों के मातहत थे। सामंतों का मानना था कि उन पर होने वाला हमला मुग़लों को हराने के बाद ही संभव था जो की असंभव है। अब सभी सामंत अपने दरबार में अपनी हैसियत के अनुसार मनोविनोद के लिए  कवि रखते थे :

"आगे के कवि रीझहैं, तौ कविताई, न तौ
राधा कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।"[53]

[53] संपा. डॉ. नगेंद्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ सं. 258

रीतिकालीन कवि अपने आश्रयदाता के हिसाब से कविता करते थे और सामंतो का इन कवियों पर खूब प्रभाव पड़ा। बिहारी के यहाँ इसे उदारहण स्वरूप देख सकते हैं जहाँ उन्होंने गाँव के रहन-सहन के प्रति घृणा व्यक्ति की है -

"चल्यौ जाई, ह्याँ को करै हाथिनु को व्यापार।
नहि जानहु यहि पुर बसै धोबी ओड़ कुम्हार ॥"[54]

जब उत्तर भारत 'कहत, नटत, रीझत, खीझत, मिलत, खिलत, लजियात। भरे भवन मैं करत हैं , नैनन ही सों बात ॥' कर रहा था, उस समय यूरोपीय भारत में अपने व्यापार को स्थापित करने में लगे थे और मौका मिलते ही क्षेत्रीय शक्ति बन कर उभरे। जो हमारे साथ ही मध्यकालीन बेड़ियाँ तोड़ना शुरू किये थे (यूरोपीय पुनर्जागरण और भक्तिकाल का समय एक ही था) बाद में हम उसी सामंती मकड़जाल में फ़स गए अर्थात् अपनी यथास्थिति से ही समझौता कर लिए। यूरोपीय उस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहे और जब तक हम जागते, उसके पहले हम अपने को यूरोपियों के अधीन पाया।

रामविलास शर्मा जी का मानना है कि भक्तिकाल के बाद हिन्दी साहित्य में रीतिकाल का आना एक ट्रेजडी है, इससे भी बड़ी ट्रेजडी अंग्रेजों का भारत में आगमन है। रीतिकाल का जो साहित्यिक रूप हम देखते हैं वह सामंती मनोवृत्ति का आईना है, जबकि आम जन अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहा। अब यूरोपीय कंपनियाँ इनके हक़ छीन रही थी, भारतीय व्यापारी अपना दुखड़ा किससे कहें ? अंग्रेज ही अब रक्षक और भक्षक दोनों थे। जिस सामंतवाद को लगातार चोट करते हुए संक्रमण स्थिति तक पहुँचाने वाले भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग, व्यापारी वर्ग अब एक नयी सामंती व्यवस्था के गुलाम हो गए।

अंग्रेजों का भारत अभियान इसलिए भी सफल रहा कि भारत में केन्द्रीय सत्ता का अभाव था और भारत की क्षेत्रीय शक्तियाँ केन्द्रीय शक्ति बनने में असफल रही, जबकि भारत

---

[54] बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृष्ठ सं. 216

में अंग्रेजों ने भी अपने को एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित किया था, पर बाद में वे केन्द्रीय शक्ति के रूप में उभरकर आये। रामविलास शर्मा अंग्रेजों को भारत के आधुनिक युग का प्रारंभकर्ता नहीं मानते, वे लिखते हैं, "आधुनिकता अंग्रेजी राज की देन नहीं है; उसका विकास इस राज्य के विरुद्ध संघर्ष के दौरान हुआ। वह अंग्रेजी साहित्य की नक़ल नहीं है; वह पुराने साहित्य की सामंत विरोधी उपलब्धियों की बुनियाद पर विकसित हुई है। इस प्रसंग में वैष्णव कवियों पर रवीन्द्रनाथ की कविता और तुलसीदास पर निराला की कविता को याद कर लेना काफ़ी होगा। अंग्रेजी के अनेक साहित्यकारों ने हमारे लेखकों को प्रभावित किया पर ये लेखक स्वयं अर्द्धसामंती, अर्द्धपूँजीवादी व्यवस्था के विरोधी थे। इसमें बायरन और शेली जैसे कवियों ने खुलकर भारत में अंग्रेजी राज कायम करने का विरोध किया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन विश्व साम्राज्य-विरोधी क्रांति का अंग है; उसी तरह भारतीय साहित्य साम्राज्य-विरोधी विश्व साहित्य का अंग है।"[55]

रामविलास शर्मा भक्तिकालीन साहित्य को आधुनिक काल कहते हैं। क्योंकि यूरोप ने आधुनिक काल उस समय को माना है, जब से जाति का विकास होता है। भारत में जाति के विकास के काल को मध्य काल क्यों कहा जाये ? रामविलास शर्मा 19वीं सदी के नवजागरण और भक्तिकाल में अंतर बताते हुए लिखते हैं, "भक्ति आन्दोलन और 19वीं शताब्दी से आरंभ होने वाले नवजागरण का मुख्य अंतर यह है कि पहला जातीय निर्माण को व्यक्त करने वाला सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसका मुख्य स्वर सामंतवाद विरोधी तथा मानवतावादी है, दूसरा राष्ट्रीय स्वाधीनता का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसका मुख्य स्वर साम्राज्यवाद विरोधी तथा सामंतवाद विरोधी है।"[56]

भारत में नवजागरण का प्रथम अग्रदूत राजा राममोहन राय को माना जाता है। वे समाज में व्याप्त सामंती कुरीतियों को दूर करने के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। उन्हीं के

---

[55] रामविलास शर्मा, 'हिन्दी जाति का साहित्य' -पृष्ठ सं.151

[56] रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण'- पृष्ठ सं.29

सद्प्रयासों से सती प्रथा जैसे जघन्य अपराध को प्रतिबंधित किया गया। उन्होंने एकेश्वरवाद पर विशेष बल दिया, 1828 ई . में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना इसी से संदर्भित है। वे स्त्री शिक्षा के पक्ष में थे, इसी को आगे बढ़ाने के लिए 1825 में 'वेदांत कालेज' की स्थापना की। इन्हें भारतीय पत्रकारिता का अग्रदूत भी माना जाता है। राजा राममोहन राय के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि "राजा राममोहन राय अपने समय में, सम्पूर्ण मानव समाज में एक मात्र व्यक्ति थे जिन्होंने आधुनिक युग के महत्त्व को पूरी तरह समझा। वे जानते थे कि मानव सभ्यता का आदर्श अलग-अलग रहने में नहीं बल्कि चिंतन और क्रिया के सभी क्षेत्रों में व्यक्ति तथा राष्ट्रों के आपसी भाईचारे में निहित है।"[57]

राजा राममोहन राय भारत में पुरानी शिक्षापद्धति के बिलकुल ख़िलाफ़ थे क्योंकि वे चाहते थे भारत जितनी जल्दी अर्थ आधारित शिक्षा को महत्त्व देगा उतनी ही जल्दी वह यूरोपियों से कँधे से कँधा मिलाकर चलेगा, उनके बाद के भी विचारक इस माँग को दोहराते रहे। मुक्तिबोध लिखते हैं, "कंपनी सरकार ने कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना की, तो इसका विरोध करते हुए राजा राममोहन राय ने अपने स्मरण पत्र में सरकार से अनुरोध किया कि गणित, रसायनशास्त्र, प्राकृतिक दर्शन, शरीर रचनाशास्त्र तथा अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने की तुरंत व्यवस्था होनी चाहिए। अंग्रेजी तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की माँग बढ़ती ही गयी। फलत: धीरे-धीरे अंग्रेजी स्कूल खुलते गये तथा क्रमश: पाश्चात्य ढंग की शिक्षा का प्रचार भारत में होता गया।"[58]

19वीं सदी के तीसरे दशक में 'यंग बँगाल आन्दोलन' ने बँगाली बुद्धिजीवियों को आंदोलित कर दिया था। इस आन्दोलन के प्रणेता एक नौजवान एंग्लो इन्डियन 'हेनरी विवियन डेरोजियो' थे। वे कलकत्ता के प्रसिद्ध हिन्दू कालेज के अध्यापक थे। अपने उग्र विचारों के कारण उनको कालेज से निकाल दिया गया। कुछ दिन बाद उनकी हैजा से

[57] विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास (ncert) कक्षा 12 पृष्ठ सं.87
[58] सं. नेमिचंद्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग -छ:, पृष्ठ सं.557

असामयिक मृत्यु हो गयी । विपिन चंद्र अपनी किताब में लिखते हैं, "उसके अनुयायियों ने पुरानी और ह्रासोन्मुख प्रथाओं, कृत्यों और रिवाज़ों की घोर आलोचना की । वे नारी अधिकारों के पक्के हिमायती थे । उन्होंने नारी शिक्षा की माँग की किन्तु वे किसी भी आन्दोलन को जन्म देने में सफल नहीं हुए क्योंकि उनके विचारों को फलने-फूलने के लिए सामाजिक स्थितियाँ उपयुक्त नहीं थीं ।" वे आगे पुनः लिखते हैं "डेरोजियो आधुनिक भारत का शायद प्रथम राष्ट्रवादी कवि था । उदाहरण के लिए 1827 में उसने लिखा – "मेरे देश ! बीती हुई गरिमा के दिनों में तुम्हारे ललाट के चारों ओर एक सुन्दर प्रभा मंडल व्याप्त था और पूजा एक देवता के समान होती थी । वह गरिमा कहाँ है ? अब वह श्रद्धा कहाँ है ? आखिर गरुड़ के समान तुम्हारे पंखो को ज़ंजीर से जकड़ दिया गया है और तुम नीचे धूल में औंधे पड़े हो । तुम्हारे चरण को तुम्हारी विपन्नता की दुखद कहानी के सिवाय गूँथने के लिए कोई माला नहीं है !"[59]

ऐसे ही राष्ट्र के प्रति उनके शिष्यों ने भी लिखा है । डेरोजियो के अनुयायियों के बारे में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी उन्हें "बँगाल में आधुनिक सभ्यता के अग्रदूत हमारे जाति के पिता" कहा, 'जिनके सद्गुण उनके प्रति श्रद्धा पैदा करेंगे और जिनकी कमजोरियों पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया जाएगा' ।"[60]

आधुनिक भारत के निर्माण में ईश्वरचंद्र विद्यासागर का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने संस्कृत कालेज के द्वार ग़ैर ब्राह्मण छात्रों के लिए भी खोल दिये । इनका महत्त्वपूर्ण कार्य विधवा पुनर्विवाह को लोकप्रिय करना तथा कानूनी मान्यता भी दिलाना था । उनके विचारों के समर्थन में शांतिपुर के बुनकरों ने एक विचित्र प्रकार की साड़ी तैयार की जिसके

[59] विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' -पृष्ठ सं.121
[60] विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास'- पृष्ठ सं.123

किनारों पर एक गीत की पंक्ति रची गयी थी जिसमें कहा गया था "विद्यासागर चिरंजीवी हो।"[61]

हिन्दी के प्रमुख आलोचक और इतिहासविद डा. रामविलास शर्मा ने 1857 की क्रान्ति से हिन्दी नवजागरण की शुरूआत मानी है। वे यह मानने के पीछे, इस क्रांति के हिन्दी मानस पर पड़े अमिट प्रभाव को देखते हैं। 1857 की क्रांति और उसकी असफलता के बीच अंग्रेजों के तांडव ने तो पूरे हिन्दी क्षेत्र को आतंकित कर दिया। लेकिन इस आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन कहना कुछ समझ में नहीं आता, यदि इस आन्दोलन को कोई नाम देना है तो जनान्दोलन कहना ठीक जान पड़ता है। क्योंकि 1857 की क्रान्ति में राष्ट्रीयता नहीं बल्कि क्षेत्रीयता थी इस क्रांति के नेता क्रांति में अपने स्वार्थवश अथवा जनता के दबाववश भाग लिए थे जैसे बहादुरशाह जफ़र को सेना ने जब तक शालीनता से कहा कि आप क्रांति के अगुआ बने, तब तक बहादुरशाह टालते रहे जब कुछ सैनिकों ने औपचारिक शिष्टाचार का उल्घंन करके महल में घुस गये। तब उनके पास सैनिकों की बात न मानने का कोई तर्क ही नहीं था। नाना साहब इस क्रान्ति में शामिल इसलिए हुए क्योंकि अंग्रेज सरकार ने उनको पेंशन देने से साफ़ इंकार कर दिया था। झाँसी की रानी का नारा था कि 'मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी' और उन्होंने अपनी प्रजा के दबाव में विद्रोह किया था। अंग्रेजों की भारतीय सैनिकों के प्रति विभेदीकरण की नीति थी, जिसके परिणाम स्वरूप 1857 की क्रांति हुई। इससे स्पष्ट पता चलता है कि क्रांतिकारियों में एकता नहीं थी। क्रांति की ख़िलाफ़त उत्तर भारत के सामंतों ने खुद की। इस आन्दोलन की असफलता से भारत ने बहुत कुछ सिखा है।

सन् 1857 की क्रांति हिन्दी क्षेत्र में ही क्यों हुई इसका दायरा क्यों नहीं बढ़ पाया इन आदि प्रश्नों का जवाब हमें मुक्तिबोध के यहाँ मिल जाता है वे लिखते हैं, "बँगाल पूरी तौर से अंग्रेजों द्वारा कुचल दिया गया था; वहाँ ऐसे नये वर्ग निकल आये थे, जिनका सामान्य जन-

[61] विपिन चंद्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.125

समाज पर प्रभाव था। किसान जनता ने दुखों को स्थायी समझकर, उससे समझौता कर लिया था। पुराना सरदार सामंतवर्ग या तो अंग्रेजों से पूरा समझौता कर चुका था या उसे नष्ट कर दिया गया था।...किन्तु उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों में जान बाकी थी। समाज का सर्वोच्च वर्ग अभी भी पुराना सरदार–सामंत वर्ग था। वह अंग्रेजों से असंतुष्ट था। उसी प्रकार सामान्य जनता भी क्षुब्ध थी। अंग्रेजों के एक गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने उनके साथ अन्याय किया था। इसलिए यह वर्ग बहुत क्षुब्ध था।"[62]

1857 की क्रांति की असफलता ने विचारकों को यह सोचने के लिए मज़बूर कर दिया कि अंग्रेजों की ख़िलाफ़त करने से पहले हमें अपनी स्वार्थपरता से ऊपर उठना होगा। उन्हीं विचारकों में स्वामी दयानंद सरस्वती, थियोसोफिकल सोसायटी, सर सैयद अहमद खां, भारतेंदु हरिश्चंद्र, विवेकानन्द तथा ज्योतिबा फुले और दक्षिण में 'वेद समाज' के संस्थापक चेबेंटी श्रीधरालु, कुंदुकुरी विरेशलिंगम पंतुलु और नारायण गुरु तथा महात्मा गाँधी आदि प्रमुख विचारक थे। मुक्तिबोध 1857 की क्रांति से ही आधुनिक भारत का उदय मानते हैं, वे लिखते हैं, "खून से लथपथ होकर ही क्यों न सही, भारत ने नए युग में प्रवेश किया। ज्यों ही वह नए प्रकाश में आया उसकी प्राचीन सांस्कृतिक गरिमा भी यूरोप में फ़ैल गयी। साथ ही भारतीय समाज–सुधारकों और विद्वानों का एक ऐसा नया दल सामने आया जिसने भारतीय क्रांति को और भी विकसित तथा प्रसारित किया।"[63]

वेदों के प्रति लगाव दयानंद सरस्वती को विरासत में मिला था, क्योंकि इनके पिता वेदों के अच्छे विद्वान थे और उन्होंने ही इनको वैदिक वाङ्मय, न्याय दर्शन पढ़ाया था। बाद में दयानंद 1860 में मथुरा पहुँचे और अपने गुरु विजयानंद से वेदों के शुद्ध अर्थ और वैदिक धर्म का विशद अध्ययन किया। दयानंद इस अध्ययन को मानवोपयोगी बनाने के उद्देश्य से 1875

---

[62] सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं.552
[63] सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं. 558

में मुंबई में 'आर्य समाज' की स्थापना कर वैदिक धर्म को पुनःप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया।

लाला लाजपत राय दयानन्द सरस्वती के बारे में लिखते हैं कि " स्वामी दयानंद को अपने जीवन में जितने निंदा वचनों तथा उत्पीड़न का निशाना बनना पड़ा उसका अंदाजा इसी एक तथ्य से लगाया जा सकता है की रूढ़िवादी हिन्दुओं ने उनकी जान लेने के अनेक प्रयास किये। उनकी हत्या के लिए हत्यारों को भाड़े पर लिया गया, उनके भाषणों तथा वाद-विवादों के बीच न केवल उन पर निषिद्ध वस्तुएँ फेंकी गई, बल्कि उनको ईसाईयों का भाड़े का प्रचारक, धर्म विरोधी, नास्तिक आदि-आदि कहा गया।"[64]

थियोसोफिकल सोसाईटी की स्थापना तो संयुक्त राज्य अमेरिका में मैडम एच. पी. ब्लावात्स्की तथा कर्नल ओल्काट द्वारा की गयी। यह संस्था भारतीय संस्कृति और परम्परा से बहुत प्रभावित थी और भारतीय संस्कृति का गुणगान विदेशों में भी करती थी। भारतीयों में खोया हुआ आत्मविश्वास जगाने में इस संस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। भारत में यह संस्था श्रीमती एनीबेसेंट के नेतृत्व में चलायी गयी हालाँकि भारत में इस आन्दोलन को अधिक सफलता नहीं मिली। भारत एनीबेसेंट को सामाजिक कार्यों के लिए हमेशा याद रखेगा। मुक्तिबोध भारतीय संस्कृति को महत्त्व देने वाले विद्वानों के बारे में लिखते हैं, "अब तक मिशनरियों ने यहाँ के संबंध में यूरोप में भ्रम का प्रचार कर रखा था। बैटिंक, आकलैंड, ग्रैंट और मैकाले सरीखे लोगों ने भी उन्हीं भ्रमपूर्ण बातों का समर्थन किया था। किन्तु वारेन हेस्टिंग, प्रिन्जेप, जोन्स, मिन्टो, विल्सन जैसे भी लोग थे जिन्होंने अपने अध्ययन द्वारा भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला। फलत: अंग्रेजों ने भारतीय विद्या का व्यापक अध्ययन शुरू हुआ। विलियम जोन्स ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' का अनुवाद किया ...उधर मैक्समूलर ने वेदों का अनुवाद किया।"[65]

---

[64] विपिन चंद्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' - पृष्ठ सं.227
[65] सं.नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं.558

सर सैयद अहमद खां मुस्लिमों में प्रमुख समाज सुधारक हुए । उन्होंने इस्लाम के एक मात्र धर्म ग्रन्थ को प्रमाणिक माना और मुस्लिमों को जागरूक करने के लिए एक पत्रिका निकाली 'तहजीब–उल–अखलाक' (सभ्यता और नैतिकता), जो उनके विचारों को जन–जन तक पहुँचाने का माध्यम बनी । विपिन चन्द्र ने लिखा है, " उन्होंने कहा की धर्म के तत्त्व अपरिवर्तनीय नहीं हैं । धर्म अगर समय के साथ नहीं चलता तो जड़ हो जायेगा जैसा की भारत में हुआ है ।"[66]

उन्होंने 1875 में पाश्चात्य ज्ञान एवं संस्कृति के केंद्र के रूप में 'मुहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कालेज' की स्थापना की । वे मुसलमानों में व्याप्त पर्दा प्रथा, बहु विवाह तथा बात-बात पर तलाक देने के विरोध में थे । वे अपने आरम्भिक काल में हिन्दू–मुस्लिम के संबंध को सहयोगात्मक रूप में देखते थे लेकिन बाद में वे हिन्दू वर्चस्व की शिकायत करने लगे । फिर भी इस्लाम धर्म के सुधारक तथा शिक्षाविद् के रूप में उन्हें हमेशा याद किया जाता रहेगा । मुक्तिबोध सर सैयद अहमद खां के धार्मिक विचारों के बारे में लिखते हैं, "उन्होंने खुद लिखा है कि धर्म कोई राजनैतिक या राष्ट्रीय महत्त्व नहीं रखता । उन्होंने कहा 'क्या तुम एक ही देश में नहीं रहते ?' याद रक्खो कि हिन्दू और मुसलमान ये दो शब्द अपना-अपना धर्म बताने के लिए हैं । वैसे, सब लोग, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, या ईसाई जो भारत में रहते हैं, वे सब इस विशेष दृष्टि से एक ही राष्ट्र के अंग हैं ।"[67]

रामविलास शर्मा 1857 की क्रांति को हिन्दी नवजागरण का पहला चरण और दूसरा चरण भारतेंदु युग को, तीसरा चरण द्विवेदी युग को और चौथा चरण निराला के साहित्य को मानते हैं । निराला के समकालीन प्रेमचन्द के यहाँ इनको नवजागरण नहीं दिखता यह इनकी कमजोरी है फिर भी हिन्दी में नवजागरण की अवधारणा इन्हीं की देन है जो प्रसंशनीय है । हिन्दी नवजागरण को रामविलास शर्मा ने अन्य भारतीय नवजागरण से भिन्न माना है । विश्व

---

[66] विपिन चन्द्र 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.222

[67] सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छह-पृष्ठ सं. 578

में घट रही घटनाओं से जब पूरा विश्व प्रभावित होता है तो हिन्दी का नवजागरण कैसे प्रभावित न हुआ होगा ? इस सन्दर्भ में इटेलियन विद्वान विको (1668-1744 ) का कथन याद हो आता है, "इतिहास का सम्बन्ध न केवल अतीत से होता है अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया है कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है और मनुष्य चाहे जिस युग का हो उसकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ एक सी रहती हैं।"[68]

रामविलास शर्मा नवजागरण की अवधारणा यूरोप से लेते हैं और कहते हैं कि हिन्दी नवजागरण पर  किसी का प्रभाव नहीं है। महात्मा गाँधी और नवजागरण के मतभेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "भारतेंदु हरिश्चंद से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक हिन्दी नवजागरण के सूत्र पुराने चर्खे-कर्घे वाले भारत का स्वप्न नहीं देखते। वे देश में आधुनिक उद्योग धंधो के विकास के पक्षपाती हैं । गांधीवादी विचारधारा से हिन्दी नवजागरण का यह मतभेद उल्लेखनीय है।"[69]

भारतेंदु हरिश्चंद पर बँगला साहित्य का गहरा प्रभाव था। वास्तव में भारतेंदु हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत हैं। उन्होंने अपने समय के समाज का अच्छी तरह अध्ययन किया है। इसका उदाहरण उनके चर्चित निबंध 'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है' में देखा जा सकता है जो यहाँ  उद्धरणीय  है, "इंग्लैण्ड का पेट कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ़ किया। क्या इंग्लैण्ड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मज़दूर, कोचवान आदि नहीं हैं ? ।...सिद्धांत यह है कि वहाँ के लोगों का एक छिन भी व्यर्थ न जाए। उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस यहाँ इतना बढ़ गया है कि मलूक दास ने दोहा ही बना डाला "अजगर करे न चाकरी ,पंछी करे न काम। दस मलूका कहि गए, सबके दाता राम ।।" [70]

---

[68] सं. डॉ नगेन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' -पृष्ठ सं.21

[69] डॉ. रामविलास शर्मा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' -पृष्ठ सं 179

[70] भारतेंदु हरिशचंद्र 'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है' www.Hindisamay.com/content/4725/

स्वामी विवेकानन्द योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के नाम पर रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। रामकृष्ण के विचार के बारे में विपिन चन्द्र लिखते हैं कि "उन्होंने बार–बार इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर तक पहुँचने तथा मुक्ति पाने के कई मार्ग हैं और यह कि मनुष्य की सेवा ईश्वर की सेवा है, क्योंकि वह ईश्वर का ही मूर्तिमान रूप है।"[71]

विवेकानन्द ने अंग्रेजों द्वारा भारतीय संस्कृति के बारे में फैलाये जा रहे भ्रम को दूर ही नहीं करते बल्कि 1893 में शिकागो के अपने ऐतिहासिक भाषण में भारतीय संस्कृति की ओर दुनियाँ का ध्यान भी आकर्षित करते हैं। यह वह समय था जब यूरोपीय यह सिद्ध करने पर तुले थे कि भारत में कोई धर्म–संस्कृति नहीं है। 1893 में शिकागो में हो रहे विश्व धर्म संसद में वे भारत की ओर से अमेरिका गए थे, वहाँ इन्होंने हिन्दू धर्म को विश्व स्तर पर मान दिलाया और यूरोपीय विद्वान यह सोचने पर मज़बूर हो गए कि भारत में ईसाईयत का प्रचार करना ना समझी थी। वे युवाओं के लिए प्रेरणा हैं। उन्होंने युवाओं को प्रेरित करने के लिए 'योग', 'राजयोग', 'ज्ञान योग' जैसी किताबें लिखीं। वे हिन्दू धर्म की बुराईयों का भी खुलकर विरोध भी करते थे, "हमारे सामने ख़तरा यह है कि हमारा धर्म रसोई घर में न बंद हो जाए। हम अर्थात् हममें से अधिकांश न वेदांती हैं, न पौराणिक और न ही तांत्रिक। हम केवल 'हमें मत छुओ' के समर्थक हैं। हमारा ईश्वर भोजन के बर्तन में है और हमारा धर्म यह है कि 'हम पवित्र हैं, हमें छूना मत' अगर यह सब एक शताब्दी और चलता रहा तो हममें से हर एक व्यक्ति पागलखाने में होगा "[72]

पश्चिम भारत में बड़े विचारक ज्योतिराव गोविन्दराव फुले (1827-1890) ने मध्यकालीन जबदी मानसिकता का विरोध किया। इन्होंने कन्याओं की शिक्षा के लिए स्कूल खोले। 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य दलित एवं पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए समान अधिकार प्राप्त कराना था। 1876 में इन्हें पुणे नगर पालिका

[71] विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.218

[72] विपिन चन्द्र, 'आधुनिक 'भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.219

का सदस्य चुना गया । इन्होंने स्त्रियों की शिक्षा के लिए अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को पढ़ाया जहाँ दोनों मिलकर स्त्री शिक्षा और समानता के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे । सावित्रीबाई को पहली महिला अध्यापिका होने का गौरव भी मिला है ।

'ब्रह्म समाज' से प्रेरित दक्षिण भारत में 'वेद समाज' की स्थापना 1864 में की गयी, जिसके अगुआ चेबेंटी श्रीधरालु थे । वे विधवा पुनर्विवाह तथा स्त्री शिक्षा के हिमायती थे । दक्षिण में सुधार आन्दोलन के एक और प्रमुख नेता कुंदुकूरी विरेशलिंगम पंतुलु (1848 से 1911) थे जिन्हें आधुनिक तेलुगु साहित्य का जनक माना जाता है । पहली बार उन्होंने तेलुगु साहित्य में समाज सुधार संबंधी रचना किया । उन्होंने ही तेलुगु में आधुनिक परिभाषा के अनुरूप उपन्यास, नाटक, प्रहसन, जीवनी, आत्मकथा तथा निबंध और अनुवाद का सूत्रपात किया ।

पंतुलु ने स्त्री उद्धार हेतु 'विवेक वर्द्धनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली । उन्होंने पत्रिका में स्मृति और पुराणों के उद्धरण दे देकर लोगों को समझाया कि 'आज से ही नहीं बहुत पहले से विधवा विवाह प्रचलित था ।' उन्होंने 'वितन्तु (विधवा) –शरणालयम' की स्थापना की साथ ही इस संस्था को तीस हजार का चंदा भी दिया । उन्होंने स्त्री शिक्षा पर भी बल दिया । जिससे अंग्रेज सरकार ने उन्हें 1893 में रावबहादुर की उपाधि से सम्मानित किया ।

पंतुलु जी ने तेलुगु साहित्य में परम्परा से चली आ रही रचना प्रक्रिया को अपनाकर 'शुद्धान्ध्र निरोष्ठय-निर्वचन-नैशधमु' और 'शुद्धान्ध्रभारत–संग्रहमु' आदि रचनाओं का सृजन किया है । जब उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया तब वे सरल व जन्ग्राह्य भाषा की आवश्यकता पर विचार किया । जिससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "प्रौढ़ एवं सुदीर्घ समासों तथा शब्द चित्रों से पूर्ण कृतियाँ सर्व साधारण जनता के लिए लाभदायक नहीं हैं । सरल गद्य कृतियाँ ही विशेष उपयोग-कारी सिद्ध हो सकती है । तेलुगु भारती की उस समय परिचय देते

हुए उन्होंने 'सरस्वती-नारद-संवाद' नामक खंड काव्य लिखा और साथ ही चिन्नय सूरि द्वारा प्रवर्तित गद्य शैली में पंतुलु जी ने 'संधि-विग्रह' की रचना की। इनकी शैली प्रौढ़ होने के कारण गद्य को अधिक स्पष्ट, सुबोध, ज्ञानवर्धक और सरल बनाने में समर्थ है। यहीं से विरेशलिंगम के जीवन में नया अध्याय प्रारंभ होता है।"[73]

श्री पंतुलु ने अंग्रेजी, संस्कृत के कई ग्रंथो का तेलुगु में अनुवाद किया। उन्होंने स्त्री के उत्थान के लिए कई ग्रंथो की रचना की जैसे 'सत्यवती चरित्र', 'चन्द्रमती चरित्र', 'सत्य संजीवनी', 'सतीमणी-विजयमु', 'भानुमती-कल्याण' इस प्रकार उन्होंने कुल 130 ग्रंथों की रचना की जिससे तेलगु साहित्य में उन्हें 'गद्य ब्रह्म' तथा 'गद्य–तिक्कना' के नाम से अभिहित किया जाता है।

केरल के नारायण गुरु का जन्म 1854 में एझवा जाति में हुआ था, जो अछूत मानी जाती है। वे अछूत के दर्द से परिचित थे, अछूतों को मंदिर में प्रवेश न मिलने के कारण इनका पहला कार्य ऐसे मंदिर की स्थापना करना था जिसमें ईश्वर या मूर्ति का विशेष स्थान नहीं था जहाँ पत्थर पर उन्होंने ये शब्द खुदवाए थे 'इस स्थान पर सभी लोग बिना किसी जातिभेद तथा धर्मभेद के बंधुभाव से रहते हैं।' वे जाति धर्म पर आधारित भेद को निरर्थक मानते थे, इसी का प्रचार-प्रसार करने के लिए 1903 में 'श्री नारायण धर्म परिपालम योगम' संस्था की स्थापना की।

महात्मा गाँधी अपने विचारों और कार्यों द्वारा भारत ही नहीं पूरे विश्व में 'काले' पिछड़े और मानवतावादियों के आदर्श हैं। महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में तत्कालीन भारतीय लोगों में उठ रहे विभिन्न सवालों का जवाब दिया है और अपनी प्रतिबद्धता भी जाहिर की है। इस किताब में गाँधी जी ने अपने समय के लगभग सभी प्रश्नों का उत्तर दिया है। काँग्रेस के नेताओं पर लगे आक्षेप कि लोग काँग्रेस को अंग्रेजों का राज्य निभाने का साधन मानते हैं ?

---

[73] श्री बाला शौरि रेड्डी, 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सँ 204,05 द्वितीय संस्करण 1972।

इस पर गाँधी जी ने काँग्रेस के पुराने नेताओं और उनके द्वारा किए गए कार्यों को बताया कि दादा भाई नौरोजी के धन निकासी संबंधी विचार ने पूरे भारत का ध्यान आकर्षित किया और गोखले ने 20 सालों से अपने लोगों को जगाने के लिए ग़रीबों में जीवन बिताया। गाँधी जी ने स्पष्ट कहा है कि यदि आप प्रत्येक अंग्रेज से घृणा करेंगे तो आप स्वराज से दूर होते चले जायेंगे।

महात्मा गाँधी 'बंग-भंग' आंदोलन को नींद से जागे हुए की अंगड़ाई कहा है। उन्होंने बताया है कि मिस्टर ह्यूम हमेशा से ही चाहते थे कि भारतीयों में असंतोष का भाव जगाया जाए तभी ये अपने अधिकार की माँग करेंगे। महात्मा गाँधी ने इस असंतोष को सही बताया है पर वे हिंसा के ख़िलाफ़ थे।

महात्मा गाँधी ने पाठक द्वारा अंग्रेजों को भारत से भगाने वाले प्रश्न का जवाब देते हुए कहते हैं कि यदि अंग्रेज भारत छोड़कर चले जाएंगे तो आपकी सारी स्थिति परिस्थिति ठीक हो जाएगी। अंग्रेज क्यों भारत छोड़कर चले जाएं ? तो पाठक कहता है पूरी भारतीय संपत्ति विदेश में भेज रहे हैं। गाँधी जी ने कहा कि यदि ये ऐसा न करे तो । पाठक मानने को तैयार नहीं होता कि अंग्रेज जैसा बाघ अपनी प्रवृत्ति को कैसे छोड़ सकता है ?

महात्मा गाँधी अपने देश को कनाडा जैसे देश बनाने को कहा तो पाठक झट से तैयार हो गया। गाँधी जी ने कहा कि कनाडा बनने के लिए गोला बारूद की ज़रूरत होगी। गाँधी जी आगे कहते हैं कि "मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को अंग्रेज बनाना चाहते हैं। और हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुस्तान नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंगलिस्तान कहा जायेगा। यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं।" [74]

गाँधी जी आधुनिक औद्योगिक क्रांति से मानवीय जीवन के सुख-सुविधा में हुए इजाफे और अपने देश को ताकतवर बनाने की होड़ में बन रहे अत्याधुनिक हथियारों को

[74] महात्मा गाँधी, 'हिन्द स्वराज'- प्रकाशक -शिक्षा भारती , नई दिल्ली पृष्ठ सं. 21

मानव अस्तिव के लिए ख़तरा बताया है। उन्होंने लिखा है, "यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली है और खुद नाशवान है। इससे दूर रहना चाहिए और इसलिए ब्रिटिश और दूसरी पार्लियामेंट बेकार हो गई हैं। ब्रिटिश पार्लियामेंट अंग्रेज प्रजा की गुलामी की निशानी है, यह पक्की बात है।"[75]

महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश पार्लियामेंट को बांझ और वेश्या कहा है क्योंकि पार्लियामेंट मंत्री परिषद के अधीन होती है। वहाँ अक्सर अपने स्वार्थपूर्ति के लिए कानून बनाए और रद्द किए जाते हैं। संसदीय देश का एक अख़बार एक विषय को बहुत गंभीर बताएगा तो दूसरा उसे बहुत छोटी बात बताता है। इसे राजनेता अपने लाभ के लिए भुनाता है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने गाँधी जी के बारे में लिखा है, "पहली बार भारत के इतिहास में करोड़ों भूखे जनों को महत्त्व देने वाला, इनका सगा बननेवाला, एक व्यक्ति सम्मुख आया, जिसने उसी ग़रीब दबी-कुचली जनता को नैतिक साहस प्रदान करके क्या का क्या बना दिया ! उस नैतिकतापूर्ण जन-शक्ति के आघात से, ब्रिटिश साम्राज्य चूर–चूर हो गया। नए भारत के उस प्रणेता की मृत्यु भी उसी शहीदाना तरीके से हुई। बिस्तर पर मरने या चलते हुए हार्टफेल होने के बजाय, वह महान आत्मा हमारा राष्ट्रपिता रामनाम का पाठ करते हुए एक तुच्छ हिन्दू सम्प्रदायवादी की गोली का शिकार हुआ !"[76]

भारत में नवजागरण के संघर्ष में कई सदियाँ गुज़र गयी। यहाँ सामंतवाद का अब तक ख़ातमा न होने का बड़ा कारण है, कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था। भारत का बड़ा समूह आज भी इस व्यवस्था में ही जीवन यापन करने के लिए अभिशप्त है। भारत के हिन्दी क्षेत्र जो अब भी पिछड़े राज्यों में शुमार हैं, इसका मुख्य कारण है कृषि पर आधारित जीवन यापन। यहाँ के लोग अब भी दक्षिण भारत के राज्यों की अपेक्षा कम उद्यमी हैं। यहां प्रेमचंद की परंपरा के मानने वाले अधिक हैं। जिस खेती ने होरी का पूरा जीवन नरक बना दिया है, फिर भी होरी

---

[75] महात्मा गाँधी 'हिन्द स्वराज' प्रकाशक -शिक्षा भारती , नई दिल्ली पृष्ठ सं. 27

[76] सं. नेमिचंद्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं. 572

गोबर की चाय की दुकान को अपनी हेठी समझता है और कहता है 'खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में नहीं।'

यूरोप के नवजागरण को विद्वानों ने चार सदियों का संघर्ष माना है जबकि भारत के नवजागरण को मुश्किल से एक सदी का संघर्ष कहा। यह गलत है, भारतीय नवजागरण की शुरूआत छठी शताब्दी से हुई है और इस उद्देश्य को पाने के लिए भारतीय समाज को 14 सदियाँ लगी। 14 सदियाँ लगने के पीछे बड़ा कारण वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज का विघटन, यह विघटन ही निम्न आयवर्ग के तबके को इस तरह बाँट रखा था कि ये कभी भी एक न हो सके, न हुए भी।

शताब्दियों से चल रहे संघर्ष में क्या ऐसा कोई समय नहीं आया होगा, जब भारत की आम जनता अपने को पहले से बेहतर स्थिति में पायी हो ? ऐसे कई मौके आये और प्रतिक्रियावादियों की भेंट चढ़ गए। अच्युतानंद मिश्र अपने एक लेख में क्रांति के असफल हो जाने वाली स्थिति के विषय में लिखते हैं, "शोषितों का संघर्ष जब किसी क्रांतिकारी प्रक्रिया को जन्म देता है तो उनका आत्म नए सिरे से रूपांतरित होता है। इस रूपांतरण की प्रक्रिया के साथ-साथ समाज की चेतना भी रूपांतरित होती है। लेकिन क्रांति के पश्चात् जब पराजय का सामना शोषितों को करना पड़ता है तो ऐसी स्थिति में शोषितों को 'आत्म विघटन' की स्थिति से गुजरना होता है। क्या इस 'आत्म विघटन' के बाद सर्वहारा उसी चेतना के स्तर पर खुद को और समाज को ला पाता है जहाँ से उसने आरंभ किया था ? क्या इस पराजय के बाद जो दमन की प्रक्रिया तीव्र होती है वह शोषितों को कहाँ ले जाती है ?"[77]

अंततः हम कह सकते हैं कि नवजागरण का संघर्ष मेहनतकश और स्त्री वर्ग का संघर्ष है। जब तक सबको उनकी रुचि के आधार पर कार्य नहीं करने दिया जा रहा था, तब तक मानव समाज का विकास भी अवरुद्ध रहा जैसे ही रुचि और योग्यता के आधार पर कार्य

---

[77] पहल, अंक 107 –पृष्ठ सं.-21

किया जाने लगा, समाज का जीवन स्तर तेजी से बदला। अब सभी स्त्रियों को बराबर का हक़ मिला तो है, पर कानून के काग़ज़ों पर। मानवतावाद तब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा, जब तक सभी इंसानों को बराबर का हक़ नहीं मिल जाता है।

नवजागरण की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं, "किसी देश या उसके प्रदेश के सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन को हम नवजागरण कहते हैं। इसमें सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के प्रयत्न शामिल हैं। शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति को बदलने के प्रयत्न नवजागरण के अंग है। धार्मिक सुधार, अंधविश्वासों के विरुद्ध प्रचार नवजागरण के अंतर्गत हैं ही। स्वाधीनता आन्दोलन विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चलाया हुआ राजनीतिक आन्दोलन है। वह नवजागरण का एक भाग है, उसका पर्याय नहीं। वह नवजागरण को प्रेरित कर सकता है, उसमें घुल-मिल सकता है पर उसका स्थान नहीं ले सकता है।"[78]

[78] रामविलास शर्मा, 'स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य'- पृष्ठ सं.121

## द्वितीय अध्याय

# हिन्दी नवजागरण का उद्भव एवं विकास

### 2.1. 1857 की क्रांति और हिन्दी क्षेत्र

सन् 1857 की क्रांति को इतिहासकारों ने उतना महत्त्व नहीं दिया जितना उसे महत्त्व देना चाहिए था। अजय वर्मा अपने लेख '1857, राष्ट्रवाद और नवजागरण : मिथक और यथार्थ' जो 'आलोचना' के जनवरी 2007 अंक में प्रकाशित है, में बताया है कि कुछ विदेशी विद्वानों ने खासकर 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' (1931) ने 1857 की क्रांति के प्रमुख कारणों में भारत में अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे विभिन्न सामाजिक सुधार और अंधविश्वास से भरे रीतिरिवाजों और विचारों के ख़िलाफ़ जागरण को बताया है। भारतीय विद्वानों में सुरेन्द्र नाथ सेन, आर. सी. मजूमदार ने इस क्रांति का कारण अंग्रेजों द्वारा निम्नजातियों को दिए जा रहे प्रोत्साहन को माना है क्योंकि सवर्ण हमेशा से निम्नजातियों पर अधिकार समझते थे। इसलिए सवर्णों के 1857 के विद्रोह में दलितों ने भाग नहीं लिया। भारतीय इतिहास के तत्कालीन स्त्रोतों को देखें तो उपर्युक्त दोनों स्थापनाएँ गलत सिद्ध होती है क्योंकि 1857 की क्रांति में जनसामान्य ने बढ़–चढ़ कर हिस्सा लिया था।

ऐसे निष्कर्षों को देखकर अंग्रेजों के भारत आगमन और उनकी सत्ता पर क़ाबिज़ होने की महत्वाकांक्षा पर विचार करना ज़रूरी है। अंग्रेज भारत में व्यापारिक उद्देश्य से आए थे। उस समय भारत अपने संक्रमणकाल से गुजर रहा था, पहले से स्थापित केन्द्रीय शक्ति कमजोर हो चुकी थी और क्षेत्रीय शक्तियाँ अपने को केन्द्रीय शक्ति के रूप में स्थापित करने में लगी थी। अंग्रेजों और फ्रांसीसियो ने इस मौके का फायदा उठाने की सोची और किसी एक क्षेत्रीय शक्ति की मदद कर अपने लिए बड़े-बड़े व्यापारिक क्षेत्र बनाने लगे। अंग्रेजों को व्यापारिक क्षेत्र स्थापित करने में सबसे बड़ी समस्या फ्रांसीसी बन रहे थे। इस प्रतिस्पर्धा के जंग में अंततः अंग्रेजों ने अपने समकक्षी व्यापारिक कंपनियों को पराजित कर भारतीय व्यापार पर

एकाधिकार स्थापित कर लिया। रविभूषण अपने लेख 'महावीर प्रसाद द्विवेदी का संपत्ति शास्त्र' में अंग्रेजों के आने से पहले भारत की आर्थिक स्थिति पर ठीक ही लिखते हैं, "अंग्रेजों के आगमन के पहले भारत विश्व में कई अर्थों में एक महान शक्ति था। व्यापार करने के लिए अंग्रेज, डच, फ्रेंच, पुर्तगाली भारत में यों ही नहीं आये थे। पॉल कैनेडी ने अपनी पुस्तक 'महान शक्तिओं का उत्थान और पतन' में 1750 ई. में विश्व उत्पादन में भारत के 24.5 प्रतिशत की बात कही है। यह प्लासी की लड़ाई से 27 वर्ष पहले की बात है। डेढ़ सौ वर्ष में 1900 ई. तक विश्व उत्पादन में भारत का प्रतिशत घटकर 1.7 रह गया।"[79]

1757 ई. की प्लासी की जीत में अंग्रेजों को भारत का सबसे संपन्न राज्य बँगाल मिला। बँगाल से मिले धन का प्रयोग अंग्रेजों ने अन्य भारतीय राज्य जीतने में लगा दिये। फिर शुरू हुई लूट और शोषण की प्रक्रिया जिससे बँगाल तबाह हो गया। अंग्रेज लूट को कानूनी अमली जामा पहनाने के लिए कानून बनाये जिससे उनका शासन सुदृढ़ हो सके। मुक्तिबोध ठीक ही लिखते हैं, "कंपनी राज में भारत नंगा हो गया। बँगाल में लूट मची। 'लूट' अंग्रेजी शब्द बन गया। बँगाल के धन से इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात हुआ। अब वहाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू हो गया। तैयार माल भारत आने लगा। देशी वस्त्रोद्योग ठप हो गया। लाखों कारीगर बेकार हो गये। अकाल पड़े। भयानक अकाल !! कंपनी राज ने परंपरागत भारतीय अर्थव्यवस्था को बलपूर्वक नष्ट कर दिया। पंचायती आत्मनिर्भर ग्राम-समाज चौपट हो गया।"[80]

भारत में अंग्रेजों ने अपनी लूटखसोट पर कानून बनाकर उसे सुदृढ़ और उचित बता रहे थे। प्लासी के युद्ध के ठीक 100 वर्ष बाद ऐसी क्रांति हुई जिसने अंग्रेजी शासन की नींव हिला डाली। इस क्रांति की संकल्पना का मूल इस तथ्य में निहित है कि शासक और शासित के बीच संबंध कैसा है ? यदि शासक या सत्ता पक्ष शासित जनता की अपेक्षाओं पर पूर्ण या

---

[79] 'बहुवचन' 40 पृष्ठ संख्या 141

[80] सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं.549- 550

आंशिक रूप से भी खरा उतरने का प्रयास नहीं करता तब शासित वर्ग अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संगठनात्मक संरचना में परिवर्तन को प्रेरित होता है। जो एक प्रक्रिया के रूप में कम समय में घटित होता है और एक नयी व्यवस्था को बागडोर सौप दी जाती है। अंग्रेजों के सन्दर्भ में भी यही प्रवृत्ति लागू होती है और यह प्रक्रिया आदर्श और हितकारी व्यवस्था को प्राप्त करने तक चलती रहती है। क्रांतियाँ विविध स्वरूप की हो सकती हैं- राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि। वैश्विक सन्दर्भ में ऐसी अनेक क्रांतियाँ हुई हैं जिन्होंने आमूल चूल परिवर्तन कर दिया और नयी व्यवस्था को जन्म दिया। इनमें प्रमुख क्रांतियाँ रहीं हैं -1688 में इंगलैंड की गौरव पूर्ण क्रांति, 1789 में फ़्रांस की क्रांति, 1911 में चीन और 1917 में रूस की क्रांति। इन देशों में हुए सत्ता परिवर्तन के पीछे यही विचारधारा काम कर रही थी।

भारत में 1857 की क्रांति इन्हीं विचारों से प्रेरित रही, पर सफल न हो सकी। इसकी व्यापकता किसी भी बड़ी क्रांति से कम न थी। पहले–पहल अंग्रेजों ने अपने आप को भारत में एक व्यापारी के रूप में स्थापित किया और 1760 ई. में फ़्रांस की पराजय अंग्रेजों को निर्विरोध स्थायित्व व उत्तरदायित्व प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुई। धीरे–धीरे उनके स्थायित्व की प्रयत्नशीलता ने ऐसे घटकों को जन्म दिया जिससे 1857 ई. में एक सशक्त क्रांति ने जन्म लिया।

भारत में अंग्रेज अपनी सत्ता के अस्तित्व को सेना के कारण ही बचाए रखने में सफ़ल रहे। सेना में ज़्यादातर सिपाही अवध प्रान्त (उत्तर भारत ) से संबद्ध थे। कंपनी की छावनियों में कई सेवा व शर्ते इस प्रकार से व्यवस्थित थी कि वे ऊँची जाति के हिन्दू सिपाहियों की धार्मिक भावना को आहत करती थी। पहले सिपाहियों की आपत्ति पर प्रशासन ने ऐसी व्यवस्था की कि वे अपनी धार्मिक मान्यताओं के साथ रह सके पर बाद में सेना की ज़िम्मेदारी बढ़ती गयी। भारतीय सैनिकों को सिर्फ़ देश के अलग-अलग हिस्सों में ही नहीं बल्कि विदेशों

में भी भेजा जाने लगे। हिन्दू धर्म में उस समय की मान्यता यह थी कि समुद्र यात्रा करने से धर्म नष्ट हो जाता है और इसी आधार पर 1824 में सबसे पहले बैरकपुर की 47वीं रेजीमेंट ने बर्मा जाने से मना कर दिया जिसके फलस्वरूप विद्रोहियों को फाँसी पर चढ़ा दिया गया, पर धर्म और जाति की भावना ज़्यादा ताकतवर सिद्ध हुई क्योंकि ऐसी घटना हमें आगे के वर्षों में भी देखने को मिलती है। ब्रिटिश सेना में यह भी अफ़वाह फैली की सरकार छिपे तौर पर धर्म परिवर्तन को भी बढ़ावा दे रही है। ईसाई मिशनरियों व सरकार के आपसी रिश्तों से अफ़वाह को बल मिला। इसके अलावा आटें में हड्डी का चुरा मिलाने की ख़बर और नई इनफिल्ड राईफल के प्रयोग ने सरकार के प्रति संदेह और भी गहरा किया। नई राईफल में प्रयोग होने वाली कारतूसों को राईफल में भरने से पहले दांत से खींचकर खोलना पड़ता था इसमें जो ग्रीस होती थी, वह गाय व सूअर की चर्बी से बनती थी। इससे हिन्दू और मुस्लिम सिपाहियों को लगा कि उनका धर्म ख़तरे में है उनके क्षोभ का कारण यह भी था कि उनके साथ हर कदम पर भेदभाव होता है। यह विभेदी नीति गोरे सिपाही की तुलना में भारतीय सिपाहियों को अधिकार और पदोन्नति के स्तर पर कमतर समझती थी। सिपाही जानता था कि वह चाहे जितना ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादार रहे अपने तीस साल तक की नौकरी में भी वह सूबेदार से बड़ा पद नहीं प्राप्त कर सकता है। वास्तव में सिपाही वर्दी में किसान थे जो अब तक गाँव की मिट्टी से अटूट रूप से जुड़े थे। ब्रिटिश सेना देश के किसानों के बीच बनी थी, किसानों पर हो रहे अत्याचार से सिपाही सीधे प्रभावित होते थे। देवेन्द्र चौबे अपने लेख में पंकज राग के 1857 की क्रांति में धर्म संबंधी विचार से सहमत होते हुए, उनका उद्धरण उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है, “वस्तुतः 1857 के संघर्ष में विभिन्न लोगों में ‘धर्म’ की धारणा भिन्न हो सकती थी एवं इसके अंदर भी कुछ भिन्नताएँ हो सकती थीं। जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है कि 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध के भारत में ‘धर्म’ की अवधारणा में सम्पूर्ण नैतिकता और सामाजिक मूल्यों का पूरा ताना-बाना शामिल था। इसके द्वारा मान्यताएँ,

प्रथाएँ, रीति-रिवाज़ आदि निर्धारित होते थे, जिनके अनुसार जीवन चलाना अपेक्षित था। लिहाजा 1857 के वातावरण में धर्म की रक्षा का अर्थ पूरी जीवन -पद्धति को बचाना था। अत: उनसे छेड़-छाड़ करनेवालों से टकराव तो होना ही था।"[81]

1857 की क्रांति अपने तीन उद्देश्यों को लेकर चली जिसका जिक्र मैनेजर पाण्डेय 'लोकगीतों और गीतों में 1857' की भूमिका में करते हैं -

1. भारत की आज़ादी हासिल करना

2. अंग्रेजी राज की गुलामी से मुक्ति

3. भारत के सभी धर्मों और समुदायों की रक्षा और उनके बीच एकता कायम करना।

भले ही 1857 की क्रांति के दस्तावेज़ अंग्रेजों द्वारा दबा या जला दिए गये हों और तत्कालीन समाज के लिखित साहित्य में इसका जिक्र तक न हो पर फिर भी लोक साहित्य में आमजन की पीड़ा बखूबी देखी जा सकती है। 1857 की क्रांति के महत्त्व को हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि स्वतंत्रता सेनानियों को भारत के इतिहास खासकर 1857 की क्रांति को जानने-समझने पर खूब जोर दिया गया है। शायद इसीलिए 19वीं सदी का स्वतंत्रता संग्राम सफल हुआ। महात्मा गाँधी अपनी आत्मकथा में एक घटना का जिक्र करते हैं जिससे 1857 की क्रांति के महत्त्व को बखूबी समझा जा सकता है। फ्रेडरिक पिन्कट गाँधी जी को सलाह देते हैं, "अब मैं तुम्हारी कठिनाई को समझ गया। तुम्हारी साधारण पढ़ाई बहुत थोड़ी है। तुम्हें सांसारिक ज्ञान नहीं है। वकील का काम उसके बिना नहीं चल सकता। तुमने तो हिन्दुस्तान का इतिहास भी नहीं पढ़ा है। वकील को मनुष्य स्वभाव का ज्ञान होना आवश्यक है। उसे चेहरा देखकर मनुष्य की परख करना आना चाहिए। इसके सिवा, हर एक हिन्दुस्तानी को हिन्दुस्तान के इतिहास की भी जानकारी होनी चाहिए। वकालत से इसका लगाव न होने पर

[81] आलोचना, अप्रैल –जून 2010, पृष्ठ सं.79

भी तुम्हें उसका ज्ञान होना ज़रूरी है। मैं देखता हूँ कि तुमने तो 'के और मैलेसन' का लिखा 1857 के ग़दर का इतिहास भी नहीं पढ़ा है, उसे तो तुरंत पढ़ डालो।"[82]

1857 की क्रांति के तुरंत बाद उर्दू में तो कुछ लिखा भी गया पर हिन्दी में 19 सदी के आरम्भिक दशक तक बहुत कम लिखा गया। जबकि उर्दू शायरी में क्रांति के 2-3 साल बाद ही 1863 में 'फुगाने देहली' उर्दू के तत्कालीन शायरों का संयुक्त काव्य संग्रह निकला। ये वही शायर थे जो क्रांति के बाद की विभीषिका को देखे ही नहीं बल्कि उस सफ़र से गुज़रे भी। पर इन पर बहुत कम चर्चा हुई है। खड़ी बोली हिन्दी के प्रबल समर्थक राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद अपने ग्रन्थ 'इतिहास तिमिर नाशक' में 1857 की क्रांति को बलवा कहा है। ये ही नहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी 1929 में लिखे अपने इतिहास में 1857 की क्रांति को 'बलवा' कहा है। अंग्रेजों के भय के कारण लोगों ने इस क्रांति पर बहुत कम लिखा। हम उर्दू में रचे साहित्य पर ध्यान नहीं देते जबकि हमें यह मालूम है उर्दू साहित्य भी हिन्दी क्षेत्र का अभिन्न अंग है, उसमें रचित समस्याएँ हिन्दी क्षेत्र की हैं।

1857 की क्रांति भले असफल रही पर पूरे भारत को एक इकाई में बांधने का काम किया और हमें यह शिक्षा दे दी कि अब पुराने ढंग की लड़ाईयों का समय नहीं रहा कि किसी राज्य पर चढ़ाई कर उसको हड़प लिया जाए। अब अंग्रेजों को भारत की सत्ता से तभी बेदखल किया जा सकता है, जब पूरा भारत एक उच्च महत्वाकांक्षा से क्रांति करे और सत्ता संभालने की एक पहले से तैयार व्यवस्था हो।

1857 की क्रांति का विस्तार मूलतः हिन्दी क्षेत्र में ही रहा, उन क्षेत्रों की पहचान पी. एल. गौतम इस प्रकार करते हैं, "इस विद्रोह में अवध, रोहिलखण्ड, नर्मदा एवं चम्बल के बीच का क्षेत्र, बिहार, बँगाल के पश्चिमी भाग और पंजाब का पूर्वी क्षेत्र सम्मिलित था।"[83]

---

[82] आलोचना, अप्रैल –जून 2010, पृष्ठ सं 51

[83] पी.एल.गौतम, 'आधुनिक भारत' -पृष्ठ सं.443

ऐसा नहीं है कि सिर्फ हिन्दी क्षेत्र में ही अंग्रेजों के ख़िलाफ़ बगावत की शुरूआत हुई। जहाँ भी अंग्रेजों ने अपना कब्ज़ा जमाया वहाँ इनका जमकर विरोध हुआ। चाहे पंजाब, मैसूर हो या मराठा साम्राज्य। पी. एल. गौतम लिखते हैं, "कहा जा सकता है कि जिन क्षेत्रों के सैनिकों एवं जनता ने 1857 से कुछ अरसे पूर्व अंग्रेजों से संघर्ष किया था मोटे रूप में उन क्षेत्रों में शांति बनी रही। पंजाब के 1857 में न सम्मिलित होने को इस दृष्टि से भी देखा जा सकता है।"[84]

हिन्दी क्षेत्र में क्रांति के व्यापक प्रसार पर विचार करते हुए पी.एल. गौतम लिखते हैं "विद्वानों की मान्यता है कि अवध से अधिक अंग्रेजों का समर्थक तथा आज्ञाकारी राज्य कोई न था। सातारा से पुराने तथा नागपुर से प्रतिष्ठित राजघराने कम ही थे। जब इन राज्यों को ही अंगरेजी राज्य में मिला लिया गया तब शेष राज्यों का अस्तित्व कभी भी समाप्त किया जा सकता था। केवल अपदस्थ राज्यों में ही नहीं बल्कि शेष राज्यों में भी अंगरेजी साम्राज्यवाद के सामने उनके हित सुरक्षित नहीं थे।"[85]

अंग्रेजों की लूट-खसोट की निति के बारे में हिन्दी क्षेत्र की जनता वर्दीधारी किसानों से सुन रखी थी कि कैसे उन्होंने बँगाल को उजाड़ दिया। जिससे हिन्दी क्षेत्र पहले से ही सजग बैठा था, सिपाहियों के विद्रोह ने उन्हें अंग्रेजों के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष का मौका दिया। कुछ स्वतंत्रता सेनानियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को लेकर ही क्रांति में भाग लिया जैसे कुंवर सिंह जिन पर काफ़ी कर्ज था, ऐसे ही झाँसी की रानी लोगों के दबाव में बगावत की, नाना साहब तो क्रांति के दौरान भी अंग्रेजों से पत्रव्यवहार द्वारा अपने को माफ़ करवाने की कोशिश में लगे रहे और ऐसे ही बहादुर शाह जफ़र को भी अनचाहे ही क्रांति का सर्वप्रमुख नेता घोषित कर दिया गया। पर ऐसे भी लोग थे जिन पर न कोई कर्ज था न अंग्रेजों से कोई द्वेष वे भी इस क्रांति में ख़ुशी से लड़ें। पी. एल. गौतम लिखते

[84] पी.एल.गौतम, 'आधुनिक भारत' –पृष्ठ सं. 439
[85] पी.एल.गौतम, 'आधुनिक भारत' -पृष्ठ सं. 431

हैं, "परन्तु बहुत से ऐसे जमींदारों ने विद्रोह में भाग लिया जिन्हें भूमि बंदोबस्त के दौरान कोई भी हानि नहीं उठानी पड़ी थी। गोंडा के राजा तथा बहराइच जिले में स्थित भिंगा और छर्दा के राजाओं से गाँव नहीं छीने गए थे। तब भी उन्होंने आख़िरी दम तक अंगरेजों का मुकाबला किया था।"[86]

सभी क्रांतिकारियों के मन में यह बात घर कर गयी थी कि उनकी जहालत के मूल में ये अंग्रेज ही हैं, उनको यहाँ से निकालना है। क्रांतिकारी अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए लड़ रहे थे, पर इनमें आपसी फूट बरकार रही। क्रांति के बड़े नेता अपने सहयोगियों पर विश्वास नहीं कर पा रहे थे। पी. एल. गौतम लिखते हैं, "उदाहारण के लिए अवध की बेगम मौलवी अहमदुल्ला के साथ और बहादुरशाह सेना प्रमुख के विवाद में फँसे रहे। मुग़ल बादशाह के समक्ष छोटे पड़ जाने के भय से नाना साहब के सलाहकार अजीमुल्ला ने उन्हें दिल्ली जाने से रोका।"[87]

1857 की क्रांति के केंद्र में दिल्ली और बहादुरशाह जफ़र रहे, जिन्हें इसकी सज़ा भी मिली। उन्हीं के सामने उनके बेटों को मौत के घाट उतार दिया गया। बहादुरशाह निःसंदेह भारतीय मानस में बहुत लोकप्रिय रहे यही कारण रहा कि हिन्दू और मुस्लिमों ने अपना नेता माना और उन्हीं की अगुआई में पूरे भारत से अंग्रेजों को निकाल बाहर करने का दोनों ने ख़्वाब देखा था। 1857 के नायक के बारे में उस समय के बड़े शिक्षाविद सर सैयद अहमद खां ने मुग़ल बादशाह के प्रति उनकी अपनी धारणा थी, "दिल्ली के मआजूल बादशाह की सल्तनत का कोई भी आरजूमंद न था। इस खानदान की लागू और बेहूदा हरकात में सबकी आँखों को उसके कद्रो –मंजिलात गिरा दी थी। हाँ, बैरुने जात के लोग जो बादशाह के हालात और हरकात और इक्तिदार और अख़्तियार से वाकिफ़ न थे बिला शुबा बादशाह की बड़ी कद्र समझते थे और उसको हिन्दुस्तान का बादशाह और औनरेबल ईस्ट इण्डिया कंपनी

---

[86] पी.एल. गौतम, 'आधुनिक भारत'-पृष्ठ सं. 450

[87] पी.एल. गौतम, 'आधुनिक भारत' -पृष्ठ सं.444

को मुंतजिम हिन्दुस्तान जानते थे। इल्ला ख़ास दिल्ली के और इसके कुर्बे–ज्वार के रहने वाले बादशाह की कुछ वकअत ख़्याल में न लाते थे। बावजूद इन सब बातों के हिन्दुस्तान के सब आदमियों को बादशाह के मआदुम होने से कुछ रंज न था। याद होगा कि जब 1827 ई. में लार्ड एमहिस्ट साहब बहादुर ने एलानिया कह दिया था कि हमारी गवर्नमेंट अब कुछ तैमूरियन खानदान के ताबे नहीं है, बल्कि वह हिन्दुस्तान की बादशाह है तो उस वक्त रियाया और वालियान-ए-हिन्दुस्तान को कुछ भी ख़्याल नहीं हुआ था, गो ख़ास बादशाही खानदान को कुछ रंज हुआ हो।" [88]

1857 की क्रांति अंग्रेजों की क्रूरता से छुटकारा पाने का जन आंदोलन था जो सुनियोजित न होने के कारण बुरी तरह असफल हुआ। इसकी प्रतिक्रिया में अंग्रेजों ने पूरे हिन्दी क्षेत्र पर ऐसा कहर बरपाया कि इस क्रांति पर बात करते हुए भी उसकी संतति डरती रही। अपने लोकगीतों में इसके दर्द को छुपाये रखा, लिखित रूप में न रख सके क्योंकि लिखने से न वह किताब बचती न लिखने वाला ही। चाँद के फाँसी अंक में ऐसी घटनाओं का हृदयविदारक वर्णन किया गया है, "फाँसी देने के वक्त एक बात बड़ी नामुनासिब पाई जाती थी कि फाँसी पाने वालों की एक क़तार खड़ी की जाती थी, उसमें से आधे लटका दिए जाते और आधे खड़े हुए देखते रहते कि इसके बाद हमारा नंबर आएगा ! सभ्य जातियों में यह बात बहुत अनुचित और दोषपूर्ण समझी जाती है। देहली के बाज शरीफ लोग अलवर रियासत में बड़े-बड़े ओहदों पर थे। जब देहली में गिरफ्तारियाँ और कत्लाकारियाँ हुईं तो सैकड़ों भले आदमी भाग–भाग कर अलवर पहुँचे। उनका ख़्याल था कि अलवर में हमें पनाह मिल जाएगी। मगर गुलाम फखरुद्दीन खां जासूस मौत का फरिस्ता बनकर अलवर पहुँचा और एक एक को चुनकर गिरफ्तार कर लाया।"[89]

[88] आलोचना, अप्रैल जून 2010, पृष्ठ सं. 65
[89] चाँद, फाँसी अंक, पृष्ठ सं. 111

1857 की क्रांति क्या एक सिपाही विद्रोह ही था या कुछ और ? क्यों यह विद्रोह जन आन्दोलन का रूप ले लिया, इसके विभिन्न पहलुओं पर 8 मई 1858 को मज़दूर नेता और कवि अर्नेस्ट जोन्स ने भारत के किसानों के शोषण और दमन के बारे में लिखा था, "उन्हें (भारत के किसान) याद है कि इसके बाद जब खेती करना असंभव हो गया, उन्होंने अपनी खेती छोड़ने की कोशिश की क्योंकि वे उन पर फ़सल पैदा करने की स्थिति में ही नहीं थे, लेकिन वास्तव में उन्हें उन ज़मीनों पर कर देने के लिए मज़बूर कर दिया गया जिन पर उन्होंने हल चलाना भी नहीं था। उन्हें यह भी याद है कि जब वे माँगी जा रही रक़म अपने संबंधियों से जुटाने में विफल रहे, किस तरह उन्हें यातना दी गयी थीं। किस तरह उन्हें दिन की तपती दोपहर में पांव बांधकर उलटा लटकाया गया था या फिर पांव में पत्थर बांध सर के बल लटकाया गया था। कैसी लकड़ी की पैनी पिपेंट नाखूनों में धसायी गयी थी। कैसे बाप बेटों को एक साथ बाँधकर, एक साथ उन पर कोड़े बरसाए जाते थे, जिससे एक की तकलीफ़ से दूसरे की पीड़ा और बढ़ जाए। किस तरह औरतों को कोड़े मारे जाते थे। किस तरह उनकी छाती पर बिच्छू बाँधे जाते थे और आँखों में मिर्च का चूरा बुरक दिया जाता था।"[90]

जो किसान मज़दूर इतने डरे और सताये गये हों वो क्यों न चाहेंगे कि ऐसी क्रूर सत्ता के चंगुल से उनकी संतति बच जाए ? इस सत्ता को बदलने के लिए उन्होंने अपनी जान की कत्तई परवाह नहीं की। ऐसी जहालत से बचने के लिए यह आंदोलन जन महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक बना और बहुत जल्द ही जनांदोलन का रूप ले लिया।

1857 की क्रांति के समय भारतवासियों में ग़ज़ब की एकता थी, हिन्दुओं ने अपना नेता मुसलमानों को माना और मुस्लिम बहुल क्षेत्र में मुसलमानों ने हिन्दुओं को अपना नेता बनाया। इरफान हबीब लिखते हैं, "रही कथित मुस्लिम पक्ष की बात तो जिस तरह दिल्ली में 1857 की मई में जामा मस्जिद से जेहाद का परचम हटाया गया था कि कहीं इसका निशाना

[90] सं. मैनेजर पाण्डेय, 'लोकगीतों और गीतों में 1857', सं. पृष्ठ सं 7

हिन्दुओं के खिलाफ़ न मान लिया जाय और जिस तरह जुलाई में ईद उल जुहा के मौके पर गाय तथा बकरे काटने पर पूरी तरह पाबंदी लगा दी गयी थी, यह दिखाता है कि किस तरह विद्रोही इसके लिए दृढ़ संकल्प थे कि कोई धार्मिक झगड़ा खड़ा न हो जाय।"[91]

अंग्रेज इस गठबंधन को तोड़ने के लिए खुल कर ऐलान करने लगे कि जिन्होंने अंग्रेजों की हत्या नहीं की है हम उन्हें माफ़ कर देंगे यदि वो अपने को तुरंत विद्रोहियों से अलग कर ले। अंग्रेजों की यह नीति काफ़ी कारगर सिद्ध हुई। पी. सी. जोशी लिखते हैं, "उन्होंने राजभक्त जमींदारों को बड़ी जागीरों से पुरस्कृत किया और राजभक्ति न दिखलाने वालों से वायदा किया कि वे समर्पण कर दें तो उनकी जमीनें वापस कर दी जायेंगी। इस तरह दो-तिहाई अवध वापस ताल्लुकेदारों के हाथ में पहुँचा। अलबत्ता, किसानों के प्रति ऐसी कोई उदारता नहीं दिखाई गयी, विद्रोही गाँवों को जला डाला गया, लड़ाके सीधे फाँसी पर लटका दिए गए और संदिग्ध लोगों को कालापानी या जेल भेज दिया गया।"[92]

1857 की क्रांति का प्रसार भारत के एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र पर रहा जिसमें इंग्लैंड, फ्रांस जैसे 4-5 देश के भौगलिक क्षेत्रफल के बराबर रहा और क्रांति में बड़ी संख्या में लोगों ने भाग भी लिया। मार्क्स ने इस क्रांति को फ्रांस की महान क्रांति से तुलना की जिसका जिक्र इरफान हबीब अपने लेख में करते हैं, "फ्रांसीसी राजशाही पर पहला प्रहार कुलीन वर्ग की ओर से ही आया था न कि किसानों की ओर से (इसी तरह) भारतीय विद्रोह रैयतों से शुरू नहीं हुआ था, जिन्हें अंग्रेजों ने यातनाएँ दी थीं, अपमानित किया था और नंगा करके छोड़ा था बल्कि सिपाहियों से आया था जिन्हें अंग्रेजों ने वर्दी से सजाया था, दुलारा था, तगड़ा किया था और सिर चढ़ाया था।"[93]

भारत की परतंत्रता के ठीक 100 वें वर्ष 1857 का महान विद्रोह हुआ। इस क्रांति का होना अंग्रेजों की पूरी प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करता है। इस क्रांति ने

---

[91] सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह \चंचल चौहान, '1857 इतिहास कला तथा साहित्य' पृष्ठ सं.30

[92] सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह \चंचल चौहान, '1857 इतिहास कला तथा साहित्य' पृष्ठ सं. 16

[93] सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह \चंचल चौहान, '1857 इतिहास कला तथा साहित्य' पृष्ठ सं. 22

भारतीयों को भी यह दिखा दिया कि सिर्फ़ सेना और शक्ति के बल पर सत्ता परिवर्तन नहीं किया जा सकता बल्कि उसके लिए आपसी मतभेदों को परे रख सभी वर्गों का सहयोग समर्थन और राष्ट्रीय भावना आवश्यक है। 1857 के विद्रोह से भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का बीजारोपण हुआ। इस विद्रोह ने भारतीयों को एकता व संगठित होने का पाठ पढ़ाया और राष्ट्रीय जीवन में यह उनकी प्रेरणा का स्रोत बना। विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार का ध्यान देश की आतंरिक दशा को सुधारने की ओर उन्मुख हुआ और संवैधानिक सुधारों का सूत्रपात हुआ। धीरे –धीरे भारतीयों को अपने देश के शासन में भाग लेने का अवसर दिया जाने लगा। इस तरह भारत में प्रजातांत्रिक शासन का बीजारोपण हुआ और अब सत्ता ईस्ट इण्डिया कंपनी के हाथों निकलकर ब्रिटिश क्राउन के नियंत्रण में चली गयी और मुग़ल साम्राज्य सदा के लिए समाप्त हो गया।

एक सशक्त विद्रोह जो अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेकने के लिए तत्पर था वह असफल हुआ। विद्रोहियों को सफलता नहीं मिली इसलिए उनके बारे में सिर्फ अनुमान ही किया जा सकता है कि अगर वे सफल हो जाते तो इतिहास के प्रवाह की दिशा क्या होती ? लेकिन फिर भी विदेशी शासन से राष्ट्र को मुक्त कराने की उनकी दिशा देशभक्त पूर्ण और प्रगतिशील कार्यवाही थी। यदि किसी ऐतिहासिक घटना का महत्त्व उसकी तात्कालिक उपलब्धियों तक ही सीमित नहीं होता तो 1857 की क्रांति महज़ एक ऐतिहासिक दुर्भाग्यपूर्ण घटना नहीं होती। अपनी विफलता में भी इस क्रांति ने एक महान उद्देश्य की पूर्ति की। यह राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की प्रेरणा स्रोत रही। जिसने वह हासिल कर दिखाया जो यह क्रांति हासिल न कर सकी ।

## 2.2 भारतेंदु युगीन साहित्य में नवजागरण की अभिव्यक्ति :

भारतेंदु युग, 1857 के बाद का वह काल है जब अंग्रेजी हुकूमत अपने को भारत में इस प्रकार स्थापित करने में लगी थी कि कभी भी भारत में दुबारा 1857 जैसी कोई परिघटना न घटे, इसके लिए सरकार सुनियोजित ढंग से भारत को अपने में समेटने में लगी थी। किसी को एहसास भी न होने दे रही थी कि भारत में कुछ अलग हो रहा है पूरा भारत अंग्रेज और अंग्रेजी को अपनाने के लिए लालायित हुए जा रहा था। शम्भुनाथ लिखते हैं, "भारतेंदु के उस दौर में क्या हिन्दू कट्टरतावादी, क्या नवशिक्षित पश्चिमवादी, क्या राजा-महाराजा, क्या मध्यवर्ग सभी लोग राज-राजेश्वरी विक्टोरिया की जय–जयकार में लगे थे।"[94]

अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन अध्यापन पर सुन्दर लाल अपने ग्रन्थ में चार्ल्स ट्रेवेलियन का 1853 की संसदीय कमेटी के सामने दिए वक्तव्य का उद्धरण इस प्रकार देते हैं कि किस प्रकार भारतीय नौजवानों की मनोदशा को अंग्रेजी साहित्य से बदला जा रहा है - "अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अंग्रेजी राज के लिए हितकर हुए बिना नहीं रह सकता। जो भारतीय युवक हमारे साहित्य द्वारा हमसे भली-भाँति परिचित हो जाते हैं, वे हमें विदेशी समझना प्राय: बंद कर देते हैं।...भारतीय राष्ट्र के विचारों को दूसरी ओर मोड़ने का केवल एक ही उपाय है, उनके अन्दर पश्चिमी विचार पैदा किया जाए।...हम भारतवासियों को यूरोपियन ढंग की उन्नति में लगा दें ...(इससे) भारत पर अपना साम्राज्य कायम रखना बहुत काल के लिए असंदिग्ध हो जाएगा। शिक्षित भारतवासी ... संभवतः हमसे चिपटे रहेंगे।"[95]

भारतेंदु हरिश्चंद्र को क्वींस कालेज से सम्बद्ध अंग्रेजी माध्यम के बड़े स्कूल से शिक्षा दी जा रही थी। भारतेंदु को बीच में ही स्कूली शिक्षा छोड़नी पड़ी। उन पर अंग्रेज और उनके साहित्य के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता और वे तत्कालीन बनारस के बड़े साहूकारों में से थे। इसलिए भारतेंदु के यहाँ अन्तर्विरोध देखा जा सकता है बाद में उन्होंने अपने

[94] आलोचना, जनवरी –मार्च 2001, पृष्ठ सं.16
[95] आलोचना, जनवरी मार्च 2001, पृष्ठ सं. 18

अंतर्विरोधों से किनारा कर लिया और तन-मन-धन से एक जागरूक भारत के निर्माण में लगे रहे। वसुधा डालमिया लिखती हैं, “हरिश्चन्द्र की हैसियत में जो अन्तर्विरोध था, उससे एक रचनात्मक तनाव पैदा होता था जिसने उन्हें अपने दायरे से बहुत दूर तक एक गहरा अधिकार दे दिया था। अपनी आदतों, जीवन शैली और सत्ता के पदों तक अपनी पहुँच के लिहाज़ से वह अपने वर्ग के प्रतिनिधि थे। परंतु वह इस वर्ग से भिन्न भी थे क्योंकि वह अपने दौर के सामाजिक व राजनीतिक मुद्दों पर ग़ैर–रूढ़िवादी विचार भी रखते थे और फलस्वरूप वह अपने जन्म और संबंध के सामाजिक समूह से एक दूरी पर भी दिखाई पड़ते थे। इस तरह वह एक अभिजात साहूकार और एक लेखक के रूप में विद्रोही भी थे क्योंकि वह देशी रजवाड़ों और ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ नियमित रूप से लिखते रहे ।”[96]

भारतेंदु ने हिन्दी क्षेत्र में एक पाठक वर्ग को तैयार किया बाद में इसी पाठक वर्ग ने भारतेंदु हरिश्चंद्र की परम्परा को संभाला और आगे बढ़ाया। भारतेंदु के पास कोई वैधानिक पद नहीं था पर फिर भी उनका सम्मान खूब होता था। वसुधा डालमिया लिखतीं हैं, “हालाँकि हरिश्चंद्र के पास कोई अधिकृत पद नहीं था लेकिन वह एक कवि, नाटककार, शिक्षाविद और सबसे बढ़कर एक पत्रिका के संपादक के रूप में बहुत बड़ी हस्ती रखते थे। अंग्रेज़ भी उनकी इस हैसियत को मानते थे और 1882 में डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में बनाए गए एजुकेशन कमीशन के सामने अपना मत प्रस्तुत करने के लिए उन्हें भी आमंत्रित किया गया था।”[97]

अपने समय में अपने समकक्ष साहित्यकारों और पत्रकारों के बीच भारतेंदु इतने लोकप्रिय थे कि लोग उनके पहनावे से लेकर बोलने की अदा तक की नक़ल करते थे। ‘प्रेमघन’ भारतेंदु के महत्त्व को प्रतीक के रूप में नागरीप्रचारिणी सभा को देखते हैं। हरिश्चंद्र के कवि मित्र और समकालीन ‘प्रेमघन’ ने इसे भली–भाँति पहचान लिया था : “काशी हमारी

[96] वसुधा डालमिया, ‘हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19वीं सदी का बनारस )’ पृष्ठ सं.124
[97] वसुधा डालमिया, ‘हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19वीं सदी का बनारस)’ पृष्ठ सं. 122

सदी का विद्यापीठ है। वहाँ से यदि संस्कृत की धारा बहती थी, तो उसकी बच्ची हमारी भाषा की सोती का भी वहाँ से निकलना परम स्वाभाविक है। भारतेंदु के अस्त होने पर जो वहाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा खुली, मानों वह आज भी उनकी प्रतिनिधि बनी बहुत कुछ उनके किये का लाज रख रही है।"[98]

भारतेंदु का संबंध काशी से था जो हिन्दुओं की पवित्र नगरी के साथ ही साथ पूरे हिन्दू समाज का सांस्कृतिक केन्द्र भी है। हिन्दुओं के लिए काशी का रहन-सहन और वहाँ की हर बात अनुकरणीय है। आज भी यहाँ परिवर्तन की बात करने वालों का हश्र बहुत बुरा होने की पूरी संभावना है। भारतेंदु रूढ़िवादियों से डरे बिना समाज के लिए बहुत कुछ करते रहें और साथ ही अपने अंतर्विरोधों से जूझते भी रहें। उन पर यह आरोप है कि मल्लिका से उनके संबंध थे तो वो कैसे महिलाओं के पक्षधर हुए ? हाँ यह सही है कि मल्लिका उनकी महिला मित्र थी और उनके बीच प्यार था। पर भारतेंदु ने मल्लिका को सार्वजनिक रूप से स्वीकार ही नहीं करते बल्कि उनकी पढ़ने की लालसा को जगाकर तथा उनकी रचनाओं को भी अपनी पत्रिका में जगह देते हैं। भारतेंदु ने मल्लिका की प्रतिभा का पूरा सम्मान भी किया। वसुधा डालमिया लिखती हैं, " सार्वजनिक रूप से तो मल्लिका को कभी मान्यता नहीं मिली क्योंकि उनकी रचनाओं पर उनका नाम कभी नहीं छपा लेकिन वह हरिश्चंद्र की सार्वजनिक गतिविधियों में साझीदार ज़रूर थीं क्योंकि वह उनके साथ ही छपती थीं। महिलाओं के बारे में हरिश्चन्द्र के विचारों में अंतर्विरोध इस लिहाज से पैदा हुए कि यद्यपि वह एक रईस की जीवन शैली पर कायम थे लेकिन दूसरी तरफ़ वह उत्तरवर्ती उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों द्वारा सुझाए जा रहे, महिलाओं के लिए सीमित आज़ादी के हिमायती भी थे। उन्होंने महिलाओं की शिक्षा का समर्थन किया और उस समय प्रचलित विक्टोरियाई मत को स्वीकार करते हुए घरेलू जीवन तथा सामाजिक संबंधों में प्यूरिटन संयम पर ज़ोर दिया। महिलाओं की

[98] वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण (भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19वीं सदी का बनारस)', पृष्ठ सं.126

उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'बालबोधिनी' में उनके रवैए में निहित अन्तर्विरोध के पर्याप्त साक्ष्य देखे जा सकते हैं।"[99]

भारतेंदु ने देखा कि हिन्दू समाज में मंदिर और उसके महंत का दिन-ब-दिन महत्त्व बढ़ता जा रहा है और कुछ धूर्त पण्डे इस लोकप्रियता को खूब भुना भी रहे हैं। इन्होंने 2 सितंबर 1872 को 'कवि वचन सुधा' में 'गुरु महंत' शीर्षक से एक बेनाम संपादकीय लिखा कि किस प्रकार ये अपने अनुयायियों से पैसे ऐंठते रहते हैं और उन पैसों का उपयोग अनर्गल कार्य में लिप्त रहने के लिए करते हैं। वे लिखते हैं, "ओ प्यारे हिन्दुओं ! तुम इनके जाल में कब तक फंसे रहोगे ! और क्या तुमको यही संसार से बचावेंगे और इन्हीं के भरोसे तुमको भगवान मिलेगा ? निश्चय जानो कि ये लोग परलोक में कुछ काम न आवैंगे ये तो केवल पत्थर की नाव हैं, परलोक में वही काम आवैंगे जो सब विद्या से भूषित निष्कलंक चरित्र और ईश्वर में निश्छल भक्ति रखते हैं।"[100]

भारतेंदु ने 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में 'भ्रूण हत्या' शीर्षक से एक निबंध प्रकाशित किया जिसमें लेखक अनचाहे गर्भ से निजात पाने के लिए ही भ्रूण हत्या कर रहे समाज की समस्या पर विचार किया है। लेखक की नज़र में यह अनचाहा गर्भ विधवा विवाह न होने का परिणाम है। काम की शक्ति को बताते हुए लिखते हैं, 'समुद्र के वेग को किसने रोका है।...बड़े ऋषि – मुनि जिस वेग को नहीं रोक सके, उस वेग को आप इस काल की अबलाओं से रुकवाना चाहते हैं।'

भारतेंदु हिन्दू शास्त्रों की सहायता से विधवा विवाह जैसे कई उपायों को बताते हैं जिससे भ्रूण हत्या को रोका जा सके और विधवा विवाह को समाज में उचित स्थान मिल सके। "मिताक्षरा ने पुनर्भू यानी पुनः विवाह करने वाली तीन तरह की स्त्रियाँ बताई हैं : ऐसी स्त्रियाँ जिन्होंने कभी पति के साथ सहवास नहीं किया था; ऐसी स्त्रियाँ जो सहवास कर चुकी

[99]वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19वीं सदी का बनारस)' पृष्ठ सं.116
[100] वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19वीं सदी का बनारस)' पृष्ठ सं.337

थीं; और ऐसी स्त्रियाँ जिनका बाद में देवर से विवाह कर दिया गया । तीनों के मिलन को शास्त्रों में मान्यता प्राप्त थी इस तरह बहुत सारे जीवन बचा लिए गए ।"[101]

भारतेंदु का अपने समकालीन नवजागरण के बड़े–बड़े नामों से व्यक्तिगत संबंध था । जैसे, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशव चन्द्र सेन और वे तत्कालीन बड़ी–बड़ी पत्रिकाओं के पाठक भी थे । इन सभी के प्रभाव में भारतेंदु ने एक स्कूल खोला उसमें वे स्वयं और उनके भाई पढ़ाते थे, बाद में पढ़ाने के लिए अध्यापकों की व्यवस्था की गयी । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की किताब 'बहुविवाह' पर 'कविवचन सुधा' में हिन्दी क्षेत्र के लोगों को इस कुप्रथा से परिचित कराने के लिए 'कन्या विक्रय' शीर्षक से व्यंग छपा । पंच से महेश्वर कहता है कि "महाराज हम भूखे ! क्या करैं, कन्या ही तो हमारी खेती है । उन्हीं के कारण आप ऐसे मनुष्यों से हमको प्रतिवर्ष दो–चार सहस्त्र मुद्रा मिल जाती है । यदि ऐसा न करैं तो फिर खांय क्या ? हमारी तो यही जीविका है ।"[102]

भारतेंदु नवजागरण के अंधानुकरण पर कटाक्ष भी करते हैं । जैसे, आधुनिक वही है जो मदिरा मांस खाता है । इसी को लेकर 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' लिखा । इस नाटक को पूरा करते हुए यह घोषणा करते हैं कि "विदित हो कि यह प्रहसन दयार्द्र चित्त वालों के लिए अनुकूल है तथापि वैदिक यज्ञादि कर्मकांड तथा बलिदान तथा तांत्रिक चक्रपूजा मद्यपानादि के विरुद्ध है । यह हिन्दी में हिंदू की लेखनी से निकला हुआ पहला ही लेख है जो हिन्दू धर्म के कुछ अंशों के विरुद्ध होकर उसकी हँसी करता है पर जो हो उसका परिणाम फल तो सव्वर्जनानुकूल है कि हिंसा और मद्यपान की चाल हिंदुस्तान से उठ जाए ।"[103]
उन्होंने इस लेख में हिन्दू धर्म के प्रतीक ब्राह्मणों के मद्यपान पर लिखा है -

"ब्राह्मण सब छिपि–छिपि पियत जामैं जानि न जाय

[101]वसुधा डालमिया, ' हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं.289
[102] वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं.240
[103] वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं.333

पोथी के चोंगान भरि बोलत बगल छिपाए ।"[104]

वसुधा डालमिया भारतेंदु को उभरते हुए मध्यवर्ग के नेता के रूप में देखती हैं। भारतेंदु मध्यवर्ग की महत्वाकांक्षाओं को एक ठोस रूप देने में लगे रहे । उनकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान नहीं थे बल्कि हिंदुस्तान और उसकी जनता थी जिसको वो जगाना चाहते थे। अंग्रेजों ने जिनकी महत्वाकांक्षाओं को अभी कुछ दिन पहले 1857 की क्रांति में बुरी तरह कुचल दिया था। उनकी लालसा भारतीय जनता को अपने पैरों पर खड़े देखने की रही। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के आखिरी अंक (1.7-8 अप्रैल-मई, 1874 ) में एक लंबा लेख छपा जिसका शीर्षक था 'पब्लिक ओपिनियन' । भारतेंदु ने इसमें कई कहानियाँ भारतीय इतिहास की बताई हैं, जिसमें जन मत को न ध्यान देने से कितनी बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं। इस लेख पर वसुधा डालमिया टिप्पणी करती हैं, "कहानी का संदेश स्पष्ट था। अगर मध्यवर्ग एकजुट होकर हालात की बागडोर अपने हाथ में ले ले तो उसकी आवाज़ निश्चय ही इतनी मज़बूत होगी कि अंग्रेजों को उसकी ज़रूरतों पर ध्यान देना ही पड़ेगा । जनमत की उपेक्षा सिर्फ़ अन्यायी और अलोकप्रिय शासक ही करते हैं और अंग्रेज़ों को चेतावनी देते हुए कहा गया- इसके परिणाम शासक के लिए इतने विनाशकारी हो सकते हैं जितने कभी दुर्योधन के लिए हो गए थे।...कुल मिलाकर नए मध्यवर्ग की जगह को गढ़ने और उस पर कब्ज़ा जमाने के लिए नाना साहित्यिक विधाओं का आविर्भाव हुआ। लघु-नाटिकाओं के माध्यम से औपनिवेशिक प्रभुओं द्वारा किए जा रहे अपमान का सामना करने के लिए एक नया स्वाभिमान पैदा करने की कोशिश की गई, चाहे वह ज़लालत कर के मामले में हो या जूतों के मामले में। उचित शिष्टाचार व नैतिकता की नई चेतना ने कुलीनों और रईसों के क्षय एवं पतन की निंदा और दूसरी तरफ़ बँगाल के कुलीन ब्राह्मणों जैसे तबकों को मिली धार्मिक सत्ता व सुविधाओं के दुरुपयोग की निंदा का रास्ता खोला।"[105]

---

[104] संपादक मण्डल डॉ धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ. रघुवंश 'हिन्दी साहित्य' तृतीय खण्ड (1850 ई. के बाद )' पृष्ठ सं. 335

[105] वसुधा डालमिया 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं. 249-250

भारतेंदु की हिन्दी भाषा को लेकर उनकी अपनी पक्षधरता थी। वसुधा डालमिया बताती हैं कि हरिश्चंद्र हिन्दी को अंग्रेजों की देन नहीं मानते न प्रेमसागर की भाषा को अच्छी हिन्दी मानते हैं, उन्हें ऐसी भाषा की तलाश रही जो व्यापक रूप से समझी जा सके। उनकी हिन्दी पक्षधरता को देखते हुए विद्वानों ने उन्हें हिन्दू धर्म का नेता तक कह डाला पर वो यह भूल जाते हैं कि भारतेंदु ने पांच पैगम्बरों की जीवनी लिखी और उनकी कई ऐसी रचनाएँ हैं जिसमें हिन्दू-मुस्लिम को मिलकर काम करने पर जोर भी दिया गया है। गणपति चन्द्र गुप्त भारतेंदु के 'अपुनै काटै अंग' शीर्षक लिखे निबंध पर टिप्पणी करते हुए क्षोभ व्यक्त करते हैं, "'अपुनै काटै अंग' में कैसी दूरदर्शिता छिपी है। भारतेंदु ने काँग्रेस की स्थापना से भी वर्षों पूर्व यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि हमने दूसरे धर्मों के खंडन का मार्ग अपनाया तो यह अपना ही अंग काटने के समान सिद्ध होगा कि यद्यपि उस युग में पाकिस्तान की कोई कल्पना ही नहीं थी, किन्तु भारतेंदु इस दुष्परिणाम को भांप चुके थे। विद्वान भारतेंदु की राष्ट्रीयता को हिन्दू राष्ट्रीयता तक सीमित मानते हैं।"[106]

भारतेंदु का साहित्य राष्ट्रीयता और सामाजिक चेतना से भरा हुआ है। विजय वल्लरी (1882 ) विजय वैजयन्ती (1884) जैसी रचनाओं में अपने पुराने कौशल को याद करते हुए रानी विक्टोरिया से अपना दुखड़ा सुनाया है और साथ ही यह बताना नहीं भूले हैं कि भारतीयों की प्रवृत्ति संघर्ष की रही है।

भारतेंदु ने अपने लेख 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में दयानंद सरस्वती (1824 -83 ) तथा केशवचंद्र सेन (1834 -84 ) पर टिप्पणी करते हुए उनके महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। वसुधा डालमिया लिखती हैं, "भारतेंदु अपने मत को लेकर जितने दृढ़ थे, उसके चलते वे किसी भी तरह के ख़तरे की ओर से निश्चिंत रहकर छूटें दे सकते थे। लेख का अवसर वास्तविक भी था और फर्जी भी। दोनों नेता गुज़र चुके थे और अब सार्वजनिक

[106] गणपति चन्द्र गुप्त, 'साहित्यिक निबंध', पृष्ठ सं.693

आकलन में उन्हें स्थान देने का सवाल दरपेश था। हरिश्चंद्र ने मौजूदा धार्मिक समूहों के पूरे मंडल को स्वर्ग में चित्रित किया। वहाँ यह मंडल लगभग एक संसद की तरह काम करता है, लेकिन स्वामी ईश्वर, जो उत्तरोत्तर जराजीर्ण होता गया है, अभी भी पुराने स्वेच्छाचारी तरीके से स्वर्ग में प्रतिनिधित्व पाए हुए दलों पर शासन करने का प्रयास करता है। यह एक दुहरा व्यंग्य था। अगर एक ओर द्वंद्वरत दलों का मज़ाक उड़ाया गया था, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक सत्ता के कल्पित अधिकारों को, जो अभी भी निरंकुश शक्ति का इस्तेमाल कर रही थी, आंशिक रूप से ही असरदार और स्वीकार्य बताया गया था।"[107]

भारतेंदु अपने नाटक 'भारत दुर्दशा' में बड़ी-बड़ी बाते करने वालों पर व्यंग करते हैं कि यहाँ सब बड़ी-बड़ी बातें करते हैं बाहर निकलते ही भीगी बिल्ली बन जाते हैं। भारतेंदु ने जाति व्यवस्था का मजाक उड़ाया है 'सबै जाति गोपाल की' । 'विषस्य विषमौषधम' (1876) में बड़ौदा नरेश मल्हारराव को हटाने के बाद जब वहाँ का शासन अंग्रेजों के हाथ में आ गया फिर भी अंग्रेजों ने धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहितों पर कोई अंकुश नहीं लगाया। क्योंकि अंग्रेज भारत को पिछड़ा देखने के आदी थे और पुरोहित वर्ग खुश था कि उनका भोंड़ापन अब भी जारी है। इस पर भारतेंदु ने अच्छा व्यंग्य किया है।

भारतेंदु अंग्रेजों की शिक्षा व्यवस्था के बहुत बड़े प्रशंसक थे। और वे चाहते थे कि पूरा भारत इस शिक्षा व्यवस्था का लाभ उठाये। अपने बलिया वाले भाषण जिसे आधुनिक भारत का घोषणा पत्र कहना अत्युक्त न होगा, में कहते हैं- "अबकी चढ़ी, इस समय में सरकार का राज्य पाकर और उन्नति का इतना सामान पाकर भी तुम लोग अपने को न सुधारो तो तुम्हीं रहो। और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोजगार में, शिष्टाचार में, चाल–चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, ग़रीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था, सब जाति

[107] वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं.372-373

सब देश में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पंथ के कंटक हो, चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहैं या नंगा कहैं, कृस्तान कहैं या भ्रष्ट कहैं। तुम केवल अपने देश की दीनदशा को देखो और उनकी बात मत सुनो।"[108]

भारतेंदु के सहयोगी लेखकों के यहाँ भी अपने देश के लिए चिंता तथा अंग्रेजों के लिए गुस्सा है। क्योंकि इनकी लूट खसोट से भारतीय जनता दिन-ब-दिन बदहाल होती जा रही है। अंग्रेजों के खिलाफ़ वैसे तो पूरा भारतेंदु मंडल बोलता और लिखता है पर उन सब में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ खुलकर मोर्चा खोलने का साहस, जितना बालकृष्ण भट्ट में था उतना अन्य में नहीं। बालकृष्ण भट्ट के लेखन से नाराज अंग्रेज सरकार ने उनके पत्र 'हिन्दी प्रदीप' को कई बार प्रतिबंधित किया। भट्ट जी का स्पष्ट सिद्धांत था कि एक साथ दो काम नहीं हो सकते उसी प्रकार जैसे बहुरी चबाना और और शहनाई बजाना एक साथ नहीं हो सकते। बच्चन सिंह ने भट्ट जी के बारे में ठीक ही लिखा है "राजनीति में वे लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे। अंग्रेजों को इतनी खरी खोटी न तो भारतेंदु सुना सके थे न तो प्रताप नारायण मिश्र। 'सांप बन के काटना, और ओझा बन झारना' यह हिमाकत भर लोगों को ही मालूम हैं। अंग्रेज बाहर से भले भले लगें, हैं कुटिलता के खान।"[109]

भारतेंदु ने हिन्दी क्षेत्र में पहली बार रूढ़ियों, अंधविश्वासों पर चोट की है और साथ ही अपनी सरकार की हकीकत को बताना भी नहीं भूले। हां, इनके यहाँ अपनी परंपरा से मोह भी रहा यह अंतर्विरोध स्वाभाविक ही था क्योंकि कोई भी परिवर्तन ख़ासकर सामाजिक परिवर्तन धीरे–धीरे ही होता है। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक परिवर्तन पर ठीक ही लिखा है, "इस शताब्दी का अध्ययन कोई आसान काम नहीं है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है, और चूँकि हम उसके इतने नजदीक हैं इसलिए यह हमें पहले के सदियों के बनिस्बत ज़्यादा बड़ी और घनी मालूम होती है। जब हम इस सदी के गूंथने वाले

---

[108] जनवरी मार्च 2001 आलोचना पृष्ठ सं.14

[109] बच्चन सिंह 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.68

हजारों धागों को सुलझाने की कोशिश करते हैं तो उसकी यह विशालता और उलझन कभी–कभी हमें घबड़ा देती है। यह सदी मशीनों की आश्चर्यभरी उन्नति की सदी थी, औद्योगिक क्रांति की। रेत, तार, टेलीफोन, जहाज इत्यादि का अविष्कार इसी युग में हुआ था। यह सदी यूरोप की समृद्ध, ख़ासकर इंग्लैण्ड मोटर और अंत में हवाई जहाज की उन्नति की सदी थी। इसी सदी में यूरोपीय साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका की छाती पर जमकर बैठ चुका था।"[110]

भारतेंदु का मात्र 35 वर्ष में ही देहावसान हो गया। पर उन्होंने अपने जीवनकाल में ही हिन्दी के लिए एक पाठक वर्ग तैयार कर दिया था। बाद में इन्हीं पाठकों में से कुछ साहित्यकार हुए तो कुछ क्रान्तिकारी जो अपने अस्तित्व के लिए हिन्दी को अनिवार्य और अंग्रेजी सरकार को क्षय रोग के समान मानने लगे। अंग्रेजों से मुक्ति के लिए वैचारिक संघर्ष शुरू कर दिया। वसुधा डालमिया ने ठीक ही लिखा है, "हरिश्चंद्र की पत्रिकाओं ने हिन्दी में एक नई भाषा और नया साहित्य गढ़ने का पथ–प्रदर्शक का काम किया। इसके लिए उनके पास एक अभूतपूर्व अधिकार और लोगों को आकृष्ट करने वाला गुण था, क्योंकि उनका ठिकाना उन्नीसवीं सदी का बनारस था और उनके पास कलकत्ता में हो रहे प्रयोगों की जानकारी थी जबकि उनकी जड़े हिन्दूकरण की इस शताब्दी में नए सिरे से विन्यस्त परंपरा में जमी थीं। हरिश्चंद्र की अपने समय से आगे की साहित्यिक प्रतिभा एक स्थिर लपट का रूप लेने से पहले ही समाप्त हो गई, लेकिन फिर भी उसकी लौ इतनी देर ज़रूर रही कि दूसरे उससे अपना दीया जला सकें।"[111]

भारतेंदु ने अंग्रेजी सरकार को क्षय का रोग कहा था और यह महज़ इत्तफ़ाक था कि उनकी मृत्यु भी क्षय रोग से हुई थी। अपने मृत्यु के समय भारतेंदु यह कहने का जिगरा रखते

---

[110] 'हिन्दी साहित्य' संपादक मण्डल डॉ.धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा.नगेन्द्र, डा.ब्रजेश्वर वर्मा, डा.रघुवंश 'हिन्दी साहित्य तृतीय खण्ड (1850 ई. के बाद)' पृष्ठ सं.117

[111] वसुधा डालमिया 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं. 300

थे, "हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया-नया छप रहा है-पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खांसी की सीन हो चुकी, देखें लास्ट नाइट कब होती है।"[112]

भारतेंदु की मृत्यु पर तत्कालीन पत्रिका 'इंडियन क्रानिकल' ने विचार किया कि यदि भारतेंदु की शिक्षा सुचारू रूप से होती तो वे क्या होते ? यह टिप्पणी भारतेंदु के महत्त्व को स्पष्ट करने में समर्थ है कि उनको लेकर तत्कालीन समय में कितनी उम्मीदें जुड़ी हुई थी, "बहुत थोड़े दिन बनारस क्वींस कालेज में रहे। और यह अच्छी बात हुई कि केवल थोड़े ही दिन तक रहे। नहीं तो कौन जानता है कि एक अर्धशिक्षित डिपुटी मजिस्ट्रेट अथवा एक निठल्ले वकील को पाकर यह देश एक उत्तम कवि को खो न बैठता।"[113]

## 2.3 द्विवेदी युग और मराठी नवजागरण

हिन्दी नवजागरण बांग्ला और मराठी नवजागरण से प्रभावित रहा है। हिन्दी क्षेत्र पर मराठी नवजागरण का प्रभाव इसलिए स्वीकार्य रहा क्योंकि मराठियों में स्वाभिमान चेतना बड़ी प्रखर थी। मराठी नवजागरण में पेशवाओं का स्वाभिमान प्रमुखता से ग्रहण किया गया और वहाँ राष्ट्रीयता हावी होने लगी। मराठी नवजागरण में राष्ट्रहित और देश सर्वोपरि है। बालगंगाधर तिलक ने राष्ट्रीयता को लोकप्रिय बनाया। हिन्दी क्षेत्र के चिंतकों के आदर्श मराठी नवजागरण के पुरोधा रहे हैं।

मराठी नवजागरण ने प्रारंभिक अवस्था में हिन्दू धर्म की रूढ़ियों को त्यागकर उसमें आमूलचूल परिवर्तन पर बल दिया जिसको ज्योतिराव गोविन्दराव फुले के जीवन संघर्ष ने लोकप्रिय बनाया।

बालगंगाधर तिलक के समकालीन उदारवादी नेता फिरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले तिलक की उग्र राष्ट्रवादी नीति का विरोध करते रहे। बाद में तिलक पंथी

[112] आलोचना, जनवरी- मार्च 2001, पृष्ठ सं.11
[113] वसुधा डालमिया, 'हिन्दू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण ( भारतेंदु हरिश्चंद्र और 19 वीं सदी का बनारस )' पृष्ठ सं.114

महाराष्ट्र या यों कहें कि भारत में उग्र राष्ट्रवाद के पर्याय बन गए। भारतीय नवजागरण का दुर्भाग्य है कि जब इसे मनुष्य के जीवन स्तर के सुधार पर बात करनी थी, उस समय भारतीय परतंत्रता ने इसे राष्ट्रवाद का पाठ पढ़ाया। नवजागरण के विकास में सबसे ज़्यादा रूकावट राष्ट्रवाद से हुई। इसलिए भारतीय मानस में देश हित पर एकता तो देखी जा सकता है किन्तु आज भी देश धर्म, जाति के नाम पर विघटित है।

बांग्ला नवजागरण पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित है। यहाँ आम जन की समस्या को प्रमुखता से दिखाया गया है। बँगाल में हिन्दू धर्म में व्याप्त रूढ़ियों, अंधविश्वासों का खंडन राजाराम मोहनराय, केशव चन्द्र सेन, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जैसे विद्वानों ने प्रमुखता से किया और इन अंधविश्वासों को प्रतिबंधित करने के लिए सरकार से हस्तक्षेप करने की गुहार भी लगाई। ऐसा नहीं है कि बांग्ला नवजागरण में राष्ट्रहित की भावना पीछे रही हो एक वर्ग ऐसा भी था जो राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानकर उसी की मंगल कामना कर रहा था। इस वर्ग के लोगों के आदर्श बंकिमचन्द्र और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। समाज में व्याप्त अशिक्षा-अंधविश्वास को दूर करने हेतु एक बड़ा बँगाली बुद्धिजीवी वर्ग सक्रिय था जो पुरे देश को ध्यान में रखकर योजना बना रहा था। इस वर्ग में अपेक्षाकृत उदारवादी हिंदू थे जिसका प्रतिनिधित्व राजा राममोहन राय ने किया और बाद में रवींद्रनाथ टैगोर ने।

हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग की समय सीमा 1900 से 1920 ई. तक मानी गयी है। यह समय भारतीय राजनीति के इतिहास में तिलक युग का था यह वह समय था जब उग्र राष्ट्रीयता का बोलबाला था। देश में उग्र राष्ट्रीयता अपना स्वरूप तब गढ़ने लगी जब यूरोपियों की श्रेष्ठतावादी मानसिकता एशिया और अफ्रीका में पराजित हुई। जैसे रूस पर जापान की विजय (1904 -1905 ) ने पूरे एशिया में नवीन उत्साह का संचार किया। इससे पहले सन् 1896 में इथोपिया (अफ़्रीकी राष्ट्र) ने इटली की सेना को पराजित किया था। जिससे भारतीयों में नया आत्मविश्वास जगा। अब काँग्रेस में उदारवादियों की लोकप्रियता

छीजती जा रही थी और देश में फैले असंतोष ने उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया । तिलक उदारवादियों के पहले से ही प्रखर आलोचक रहें । उन्होंने बहुत हद तक उदारवादियों की लोकप्रियता पर ग्रहण लगा रखा था । रही सही कसर बँगाल विभाजन ने पूरी कर दी । अब शुरू हुआ उग्र राष्ट्रीयता का दौर जो अपनी माँग और समस्या को लेकर सरकार और उसकी नीतियों का खुलकर विरोध करने लगा ।

बालगंगाधर तिलक का प्रभाव अभी तक आम जनता पर उतना नहीं था कि वो काँग्रेस को चुनौती दे सके पर बँगाल विभाजन ने उन्हें यह मौका दे दिया । 1905 में बनारस के काँग्रेस अधिवेशन में तिलक ने बँगाल के उग्रवादियों से गठबंधन कर लिया । अब वे गरमदल के सर्वमान्य नेता हुए । तिलक के समर्थकों (अरविन्द पाल, अश्विनी कुमार दत्त, जी. एस. खडपरे) ने 1906 में कलकत्ता के काँग्रेस अधिवेशन में तिलक को काँग्रेस अध्यक्ष बनाना चाहते थे । फिरोजशाह मेहता और अन्य कांग्रेसी नेताओं ने एक असाधारण चाल चली । उन्होंने दादा भाई नौरोजी को काँग्रेस के अध्यक्ष पद को स्वीकार करने के लिए तार भेज दिया । जब दादा भाई नौरोजी ने अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया तो गरमदल के नेताओं को वस्तुस्थिति स्वीकार करनी पड़ी और इस तरह तिलक को अध्यक्ष बनाये जाने की कोशिश नाकामयाब रही ।

तिलक भले ही काँग्रेस अध्यक्ष पद न प्राप्त कर सकें पर उन्होंने अपने चाहने वालों का एक ऐसा दल बनाने में सफल रहे जो हमेशा उदारवादी विचारों का विरोध करता रहा । इसी विरोध के चलते काँग्रेस अधिवेशन में यूनियन जैक का फहराया जाना और ब्रिटिश राष्ट्र गान का गाया जाना हमेशा के लिए रोक दिया गया । तिलक काँग्रेस को राष्ट्रवादी दल के रूप में देखना चाहते थे । सन् 1906 में कलकत्ता के काँग्रेस अधिवेशन से जब नरम दल के नेता जाने लगे तो अपने को अपमानित और बेचैन महसूस कर रहे थे । तिलक के प्रभाव में काँग्रेस अधिवेशन में यूनियन जैक का फहराना और ब्रिटिश राष्ट्र गान गाया जाना बंद हो गया ।

स्वदेशी आन्दोलन में काँग्रेस के दोनों भाग नरम पंथी और गरम पंथी शामिल हुए, पर उनका स्वदेशी को लेकर अपना अलग-अलग मत था। बालगंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, और अरविन्द के लिए बहिष्कार का दोहरा आशय था। भौतिक रूप से ये मानचेस्टर पर आर्थिक दबाव के रूप में होना था जिसकी प्रतिक्रिया भारत सरकार पर मानचेस्टर द्वारा दबाव के रूप में होनी थी। गोखले के लिए स्वदेशी मुख्य रूप से एक आर्थिक सन्देश था-भारतीय उद्योग में नवजीवन के संचार का संदेश। सुरेन्द्र नाथ की दृष्टि से स्वदेशी आन्दोलन एक संरक्षणवादी आन्दोलन था।

स्वदेशी आन्दोलन ने भारत के सभी नेताओं में राष्ट्रीयता जगायी। सभी नेता एक राज्य को एक करने के लिए एक हुए थे, बाद में उन्हें खुद ऐसा लगने लगा कि यह आन्दोलन अब एक बड़े फ़लक की ओर बढ़ गया है अर्थात् समग्र भारत पहलीबार एकता का एहसास करने लगा। इसी आन्दोलन से सीख लेकर आन्दोलनकारी भारत को जगाते रहे और वह दिन भी आया जब भारत स्वतंत्र हुआ।

भारत की स्वतंत्रता में स्वदेशी आन्दोलन और तिलक का अविस्मरणीय योगदान है। तत्कालीन उदारवादी नेता फिरोजशाह मेहता तिलक के विचारों से सहमत न हो पा रहे थे कि कहीं काँग्रेस तिलक के प्रभाव से नष्ट न हो जाये। इसलिए वे कभी भी तिलक को काँग्रेस का अध्यक्ष न बनाने के लिए कृतसंकल्प थे। कलकत्ते के अधिवेशन में गरम दल वालों की उदंडता और आमजन में उनकी लोकप्रियता से डरे कांग्रेसियों ने पहले से प्रस्तावित नागपुर के स्थान पर सूरत में काँग्रेस अधिवेशन बुलाया और यहाँ वे अपने मर्जी के अध्यक्ष को चुन सकते थे। इस अधिवेशन में काँग्रेस अध्यक्ष के रूप में रासबिहारी घोष को चुना गया। तिलक पंथियों ने यहाँ उपद्रव मचा दिया और डंडा तक चल गया फलत: काँग्रेस का विभाजन हो गया।

काँग्रेस के विभाजन से भारतीय नौकरशाह बहुत खुश थे, इसका एहसास तिलक जी को भी  था। नरम दल काँग्रेस का दिमाग था और गरम दल उसकी अंत:प्रेरणा। अब ब्रिटिश सरकार गरम दल के नेताओं को किसी न किसी आरोप में जेल में ठूस रही थी, इसने तिलक को भी न बख्शा उन पर राजद्रोह का मुक़दमा लगाकर जेल में डाल दिया।

स्वदेशी आंदोलन की वैचारिक शक्ति, 1904 में प्रकाशित 'देश की बात' किताब थी। जिसके लेखक महाराष्ट्र मूल के सखाराम गणेश देउस्कर थे। इसमें लेखक ने मराठी विचारकों की विचारधारा और अपनी समझ बांग्ला भाषा में लोगों के सामने प्रस्तुत की। यह किताब लोगों में बहुत लोकप्रिय हुई और एक साल के भीतर ही इसके कई संस्करण निकले। इस किताब को अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया। 'देश की बात' अंग्रेजों के शासनकाल की शुरूआती दौर से 1904 तक की सारी नीतियों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देती है।

इस किताब में मुख्य रूप से निम्न बातों का उल्लेख मिलता है जो हमें जान लेना आवश्यक जान पड़ता है कि किस प्रकार अंग्रेज भारतीय उद्योगों को बर्बाद कर, लोगों में भ्रम फैलाते हैं कि इनके तबाह होने में अंग्रेजी सरकार का दोष नहीं बल्कि इनका वैज्ञानिक उपकरणों के न प्रयोग से ऐसी स्थिति हुई है। लेखक बताता है कि अंग्रेज हमारे सारे संसाधन पर अधिकार कर हमें यह कहते हैं कि उपकरण न होने की वजह से हम पिछड़ गए जबकि उपकरण उपलब्ध कराना सत्ता की ज़िम्मेदारी होती है। क्या अन्य देशों में जहाँ अंग्रेजी सरकार नहीं है वहाँ के लोग वृद्धि नहीं कर रहे हैं ?

अंग्रेज सरकार में पड़ने वाले अकाल पर लेखक विचार करता है कि यूरोप के देशों में बीस इंच से कम हुई वर्षा के बाद ही अकाल पड़ता है जबकि भारत में पचास इंच तक बरसात होने के बावजूद भी अकाल पड़ रहा है। इसका मुख्य कारण वर्षा के जल का उचित संरक्षण न हो पाना है जबकि इस सरकार में दिन–ब-दिन भूमि कर बढ़ रहा है इसीलिए जब कभी अकाल पड़ता है तो भारत में बहुत लोग भूखें मर जाते हैं।

भूख से मरने वालों की संख्या को देखकर लेखक इसके पीछे के कारणों पर विचार करता है तो उसे पता चलता है कि “हमारे भारतवर्ष से ही हर साल प्राय: साढ़े सोलह करोड़ रुपये का गेहूं और चावल उन देशों में भेजा जाता है। यूरोप के लोग हजारों कोस दूर से धान्य मँगाकर सुख से दिन काटते हैं, और भारत संतान पड़ोस में ही विशाल हरे–भरे खेतों के रहते हुए भी भूख से प्राण त्याग करते हैं ! इसका कारण क्या है ?”[114]

भारत में भूख और अन्य कारणों से बड़ी मात्रा में लोगों की मृत्यु होती रही फिर भी सरकार की कान में जूं तक न रेंगी। जब 1901 की जनगणना में भारत की जनसंख्या पहले से कम हो गयी तो सिर्फ अंग्रेज सरकार ही नहीं पूरा हिन्दुस्तान हतप्रभ रह गया कि अब तक मानव इतिहास में ऐसी घटना न घटी थी कि पहले से लोगों की जनसंख्या कम हुई हो इसी का ब्यौरा लेखक इस प्रकार देता है, “पहली आदम-सुमारी आंकड़ो में 1901 की आदम-सुमारी के आंकड़ों को मिलाकर देखने से मालूम हो जायेगा कि इन दस वर्षों में बरार प्रदेश में 5 लाख 80 हजार और पंजाब में 7 लाख 50 हजार जनसंख्या घटी है। मध्य प्रदेश में इन्हीं दस वर्षो में 13 लाख 70 हजार 5 सौ अधिवासी घट गए। इलाहबाद, गोरखपुर और बनारस जिले की जनसंख्या 24 लाख 46 हजार 2 सौ 58 घट गई।”[115]

भूख की तपिस से बचने के लिए कई हजार भारतीय जो आम तौर पर अपना घर नहीं छोड़ते थे, पर पेट भरने के लिए लोग ब्रिटिश उपनिवेशों में मजदूरी के लिए गए। कुछ को तो सरकार जबरदस्ती ले गयी और इनसे किये अमानवीय व्यवहार से तत्कालीन समाज बखूबी परिचित था।

‘देश की बात’ में यह बताया गया है कि अंग्रेजों ने 1857 की क्रांति को दबाने में हुए खर्च और नुकसान का पूरा खर्च भारतीय जनता से लिया। जो 40 करोड़ था जबकि इसी सरकार के अधीन ट्रांसवाल के साथ इस सरकार का रवैया दूसरी तरह का है, वे लिखते हैं,

---

[114] सखाराम गणेश देउस्कर\सं. मैनेजर पाण्डेय, ‘देश की बात’- पृष्ठ सं.22

[115] सखाराम गणेश देउस्कर, सं. मैनेजर पाण्डेय, ‘देश की बात’ पृष्ठ सं.103

"उन्होंने भी अंग्रेजों के साथ युद्ध किया, भारत के सिपाहियों से बढ़कर अंग्रेजों की हानि की पर इस काम के बदले में उन्होंने पाया स्वराज्य ! वहाँ के युद्ध में अंग्रेजों के 450 करोड़ रुपये खर्च हुए थे। खर्च इंग्लैण्ड ने उठाया और ट्रांसवाल वासियों को इनाम में स्वराज दिया ! एक ही बात के यह दो भिन्न प्रकार के फल क्यों ? क्या हमारी निर्मल राजभक्ति का यही पुरस्कार है ?"[116]

भारतीय उपनिवेश में अंग्रेजों की कमाई का मुख्य साधन कृषि है तो क्यों नहीं अंग्रेज इसको विकसित करने की सोचता। जबकि यूरोप के सभी देशों में कृषि कार्य के लिए कई विश्वविद्यालय खोले जा रहे हैं तो भारत में इसकी संख्या बहुत ही कम है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर लेखक ने लिखा है कि "प्राय: डेढ़ सौ वर्ष व्यापी अंग्रेजी शासन के बाद भी भारत में 88 प्रतिशत आदमी निरक्षर है, इससे बढ़कर सुसभ्य शासकों के लिए कलंक की बात और क्या हो सकती है ? पृथ्वी के किसी भी सभ्य देश में निरक्षरों की संख्या इससे अधिक नहीं है, यहां तक कि जनसंख्या के हिसाब से उनका प्रमाण भी इतना अधिक नहीं है।"[117]

अंग्रेज जो अपने आप को बहुत सभ्य मानते हैं उनके देश में भी शिक्षा व्यस्था ठीक नहीं रही बहुत बाद में वहाँ शिक्षा पर ध्यान दिया गया और तब जाकर वहाँ के बहुसंख्यक लोग शिक्षित हो पाए यह तब हुआ जब अंग्रेज अपने उपनिवेशों से पैसा उगाही कर अपने यहां की अर्थव्यस्था मज़बूत की। लंदन की ईस्ट इण्डिया एसोशियेशन के सभापति लार्ड रे के 11 जुलाई 1906 के भाषण जिसमें उन्होंने कहा कि उपनिवेशों में शिक्षा देने का काम अंग्रेज सरकार ने किया है। भारत में चुनने का अधिकार तब तक नहीं दिया जायेगा जब तक कि भारतीयों में शिक्षा का पर्याप्त प्रचलन नहीं हो जाता। गणेश देउस्कर ने अपनी किताब में उद्धरण सहित अंग्रेजों के सभ्य होने के ग़ुरूर पर चोट करते हैं, "इतिहास के पाठकों को मालूम

---

[116] सखाराम गणेश देउस्कर, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'देश की बात' पृष्ठ सं 182

[117] सखाराम गणेश देउस्कर सं. मैनेजर पांडये ,'देश की बात'- पृष्ठ सं.194

होगा कि सन् 1860 तक खास लंदन शहर के तीन चतुर्थांश बालकों को किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिलती थी। जब राजधानी की यह हालत थी, तब गावों की अवस्था का अनुमान पाठक ही कर लें। किंतु छठे एडवर्ड के समय ही जब समूचे इंग्लैंड में 359 से अधिक पाठशालाएँ नहीं थीं, इंग्लैंड के लोगों को 'हाउस आफ कामंस' महासभा या सम्पूर्ण आत्म-शासन के अधिकार मिल गए थे।"[118]

कुछ लोग जो भारतीयों की विविधताओं में एकता का अभाव देखते हुए कहते हैं कि भारत में इतनी विविधता है कि इनमें एकता का हमेशा अभाव रहेगा और रहा भी है। इसलिए ये स्वशासन की न सोचे तो बेहतर है भारत कभी भी एक होकर नहीं चल सकता जैसे आज के प्रश्न का भी उत्तर 'देश की बात' में हमें मिलता है, "स्विटजरलैंड के समान अति क्षुद्र देश में दो धर्म और तीन भाषाओं का प्रचार रहने पर भी वहाँ के अधिवासियों में जातीय भाव, स्वदेश-प्रीति और स्वाधीनता का अभाव नहीं है। फ्रांस में भी धर्मगत और भाषागत पार्थक्य बहुत अधिक है। हालैंड की भी ऐसी ही अवस्था है। आस्ट्रिया में भारतवर्ष की अपेक्षा जातिभेद, धर्मभेद, भाषाभेद अधिक ही है, कम नहीं है। इटली और जर्मनी के उदाहारण भी हमारे पक्ष के अनुकूल हैं।"[119]

'देश की बात' किताब में अंग्रेजों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ने की नीति पर भी विचार किया गया है। अंग्रेजों ने कूटनीति से प्रेरित होकर जो भारत का इतिहास लिखा है, उसमें मुसलमानों को पूरे हिन्दू समुदाय के बीच खलनायक सिद्ध किया है। उस समय के बुद्धिजीवियों ने इस विभाजन रेखा को पहचानने में देर नहीं लगाई इसीलिए स्वदेशी आन्दोलन सफल भी हुआ। स्वदेशी आन्दोलन के पहले भी कई आंदोलन हुए किन्तु सब जल्दी ही ख़त्म हो जाते थे। इस आंदोलन को व्यापक रूप देने में मुसलमानों का उतना ही योगदान है जितना हिन्दुओं का। लेखक मुसलमानों के खिलाफ़ फैलाये जा रहे नफ़रत का जवाब इस

---

[118] सखाराम गणेश देउस्कर, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'देश की बात'- पृष्ठ सं.243
[119] सखाराम गणेश देउस्कर, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'देश की बात' पृष्ठ सं.250

प्रकार देते हैं, "चीन-साम्राज्य के चौथाई अधिवासी मुसलमान हो गए हैं; वह भी क्या तलवार के बल से ? चीन में मुसलमान कभी भी विजेता के रूप में प्रवेश नहीं कर सके थे, वहाँ उन्होंने कभी भी राज्य नहीं किया था । सुमात्रा, बोर्निया और अफ्रीका में अरब व्यापारियों के अक्लांत परिश्रम और अध्यवसाय से इस्लाम फैला है ।"[120]

भारतीय सेना पर भारत के बजट से लगभग 32 करोड़ खर्च किए जा रहे हैं और ये सेना ब्रिटिश हुकूमत के अंतर्गत अन्य उपनिवेशों की रक्षा करने में लगी रहती है । इससे देश का क्या भला हो रहा है । जहाँ इतनी बड़ी राशि सेना पर खर्च हो रही है वहाँ की आम जन की हालत बेहद ख़राब है लोग बड़ी संख्या में भूखे मर रहे हैं । इस राशि का बड़ा भाग इंग्लैण्ड को जा रहा है क्योंकि सेना के गोरे सिपाहियों पर सरकार पैसा पानी की तरह बहाया करती है, "सन् 1894 तक भारत गवर्नमेंट गोरे फौजी सिपाहियों के लिए हर साल 891 रुपये खर्च किया करती थी, पर देशी सिपाहियों के लिए केवल 343 रुपये । इसके बाद गोर सैनिकों का खर्च वार्षिक 123 रुपये के हिसाब से बढ़ाया गया । सन् 1904 में पहली अप्रैल से उन लोगों का वेतन वार्षिक 146 रुपये और भी बढ़ा दिया गया । सारांशत: हर गोरे सिपाही के लिए सरकार आज कल हर साल 1,01,060 रुपये खर्च कर रही है ।"[121]

तिलक से प्रभावित माधवराव सप्रे के लेख भी 'सरस्वती' पत्रिका के चर्चित निबंधों में से हैं । तिलक की पत्रकारिता से प्रभावित माधवराव सप्रे ने पत्रकारिता के माध्यम से जन जागरण की सफल कोशिश की । उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र', 'हिन्दी केसरी', 'हिन्दी ग्रन्थ माला' जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता को समृद्ध किया है ।

द्विवेदी युगीन लेखक तिलक और अन्य राष्ट्रवादी नेताओं से प्रभावित रहे । 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके शिष्य मैथिलीशरण गुप्त पर मराठी नवजागरण का प्रभाव रहा है । गुप्त जी का भारत का प्यार मराठी नवजागरण से ही

[120] सखाराम गणेश देउस्कर सं. मैनेजर पाण्डेय, 'देश की बात' पृष्ठ सं -276
[121] सखाराम गणेश देउस्कर सं मैनेजर पाण्डेय, 'देश की बात' पृष्ठ सं.-201

प्रेरित लगता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से भारतीय समाज को उत्साहित करते रहे हैं। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में भारत और अन्य एशियाई देशों की प्रसंशा और अंग्रेजों की क्रूरता पर कटाक्ष किया है, "जापान ने प्रतिज्ञा कर ली कि विदेशियों में जो जाति सबसे अच्छी दशा में है उसकी बराबरी किये बिना हम न रहेंगे। इस प्रतिज्ञा को उसने तीस चालीस वर्ष में पूरी कर दिखाया। पर विदेशियों की नकल करने में जापान ने अपना जापानीपन नहीं छोड़ा। जो बातें उसे औरों में अनुकरणीय जान पड़ीं उनका अनुकरण उसने जापानी ढंग से किया। अपनी जातीयता-अपना स्वदेशप्रेम उसने नहीं जाने दिया। पश्चिमी सभ्यता को उसने जापानी साँचे में ढाला। जापान की अनुकरणशीलता में यही विशेषता है। इसी के कारण जापान फिर भी जापान बना हुआ है।"[122]

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका में कई ऐसे निबंध प्रकाशित किये हैं जिसमें यूरोप के वर्चस्व को चुनौती दी जा सके। उन्होंने पत्रिका में एशियाई देशों की प्रसंशा की है और इस पर गंभीर बातचीत भी कि कैसे एशियाई देश यूरोपियों को पछाड़ रहे हैं। रामविलास शर्मा अपनी किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में लिखते हैं "भारतीय नवजागरण पर लिखने वाले शोधकर्ता, अध्यापक और राजनीतिज्ञ अंग्रेजी प्रभाव का वर्णन खूब विस्तार से करते हैं। पर 'सरस्वती' में एक भी ऐसा लेख नहीं छपा जिसमें इंग्लैण्ड की प्रगति की चर्चा करते हुए उससे भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न इस तरह जोड़ा गया हो जैसे इस लेख में जापान की जीत के कारणों का विश्लेषण करते हुए, भारतीय समाज के सर्वांगीण विकास, उसके आमूल परिवर्तन से राष्ट्रीय स्वाधीनता का प्रश्न जोड़ा गया है।"[123]

महावीर प्रसाद द्विवेदी की लोकप्रियता का आलम यह था कि कई बड़े विचारक जिसमें 'प्रताप' पत्रिका के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी और मैथिलीशरण गुप्त ने इन्हें गुरु माना। द्विवेदी जी ने संपादक बनने के लिए अपनी रेलवे की नौकरी छोड़ दी जिसकी

[122] रामविलास शर्मा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पृष्ठ सं.49-50

[123] रामविलास शर्मा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पृष्ठ सं.53

तनख़्वाह 200 रुपये प्रति माह थी जबकि ‘सरस्वती’ के संपादक के रूप में इन्हें 20 रुपये प्रति माह मिलते थे। इनका हिन्दी की सेवा करने का जूनून ऐसा रहा है। इन्होंने देखा कि लगभग हर भारतीय भाषाओं में अर्थशास्त्र पर किताब लिखी जा चुकी है तो इन्होंने भी हिन्दी में एक किताब लिखने का मन बनाया। इनके इस विचार को जानकार माधवराव सप्रे ने इन्हें अपनी अर्थशास्त्र संबंधी हस्तलिखित पाण्डुलिपि दे दी जिसका द्विवेदी अपने ‘संपत्तिशास्त्र’ की भूमिका में उल्लेख करते हैं।

हिन्दी क्षेत्र और साहित्य की ‘सरस्वती’ प्रतिनिधि पत्रिका थी। ऐसा नहीं है कि अन्य पत्रिकाओं में नवजागरण संबंधी लेखों का अभाव था पर ‘सरस्वती’ पत्रिका जैसी किसी भी पत्रिका की लोकप्रियता न थी। इस पत्रिका ने हिन्दी मानस के निर्माण में महती भूमिका अदा की है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस पत्रिका में लेखों के चयन कई पहलुओं को ध्यान में रखकर किये हैं। जिसमें स्त्री का सम्मान, अंधविश्वासों के खंडन और किसानों की समस्या संबंधित लेखों के चयन में विशेष लगाव देखा जा सकता है। ‘सरस्वती’ मात्र साहित्यिक पत्रिका न होकर समसामयिक पत्रिका भी थी, जिसमें सामाजिक समस्याओं को उजागर कर उसका समाधान एशिया में ढूँढ़ने संबंधी विचार का प्रचार-प्रसार किया गया है। पत्रिका में औपनिवेशिक सत्ता में हो रहे अमानवीय कृत्यों का हृदयविदारक चित्रण कर अंग्रेजों के मानवतावाद संबंधी झूठे आवरण से पर्दा उठाने की कोशिश की गयी है। ‘सरस्वती’ में अर्थशास्त्र संबंधी लेखों के प्रकाशन से आम भारतीय को भारतीय अर्थव्यवस्था के विषय में जानकारी उपलब्ध कराने की सफल कोशिश की गयी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं विज्ञान वार्ता कालम में विज्ञान संबंधी नयी–नयी जानकारी पर लेख लिखा करते थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन से प्रभावित प्रेमचंद ने ‘हंस’ पत्रिका में के 1933 अंक में उन पर विशेषांक निकाला। द्विवेदी जी के देहावसान पर मई 1929 के ‘सरस्वती’

अंक में लिखा गया था कि "संस्कृत के आचार्य और जाति के ब्राह्मण होकर भी आपने हिन्दू समाज की दकियानूसी रूढ़ियों का सदा तिरस्कार किया । जाति-पाँति और ऊँच-नीच के झमेलों की आपने कभी परवा नहीं की ।"[124]

## 2.4 छायावाद पर मराठी और बांग्ला नवजागरण का प्रभाव :

छायावाद पर बांग्ला और मराठी नवजागरण का लगभग समान प्रभाव रहा है, दोनों के प्रभाव में इस समय रचनाएँ खूब लिखी गयी । इस समय की रचनाओं पर विहंगम दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि कई ऐसे विचारक हैं जो मराठी और बांग्ला नवजागरण से समान रूप से प्रभावित हैं । जैसाकि हमें मालूम है कि मराठी नवजागरण राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति का मुखर रूप से प्रचारक है जबकि बांग्ला नवजागरण के केंद्र में जीवन पद्धति में सुधार और तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों का मुखर विरोध है ।

छायावाद के प्रमुख लेखकों में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पन्त और महादेवी वर्मा जी हैं और लघुत्रयी में रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी और भगवतीचरण वर्मा हैं । यही समय प्रेमचंद का है जो एक बड़े सामाजिक सरोकार के कथाकार हैं और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का भी जो हिन्दी के इतिहासकार एवं बड़े आलोचक हैं । मुख्यतः छायावाद के इन्हीं चार प्रमुख स्तम्भों की रचनाओं का और कथाकार प्रेमचंद, इतिहासविद आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारों को केंद्र में रखकर छायावाद पर पड़े मराठी और बांग्ला नवजागरण के प्रभाव का विश्लेषण करने की कोशिश की जाएगी ।

सर्वप्रथम हमें छायवाद विषय पर बातचीत करते हुए इसकी विशेषताओं को जान लेना आवश्यक जान पड़ता है । छायावाद में प्रकृति प्रेम, व्यक्तिवाद की प्रधानता, रहस्यभावना एवं स्वतंत्रता प्रेम, वेदना की प्रवृत्ति, राष्ट्रीय चेतना और लोक मंगल की कामना

[124] रामविलास शर्मा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पृष्ठ सं.119

और सांस्कृतिक गरिमा है। लगभग सभी छायावादी रचनाकार इन्हीं विषयों पर अपने विचार कविता, कहानी, नाटक, आलोचना और निबंध के माध्यम से व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं।

छायावाद नाम पर विचार करते हुए हम यही पाते हैं कि यह नाम कुछ आलोचकों द्वारा चिढ़कर दिया गया है। बहुत से विद्वानों ने इस नाम की सार्थकता को ढूँढ़ने की कोशिश की पर कोई सफल नहीं हो पाए। सफल न होने का मुख्य कारण छायावाद पर आलोचकों की एकांगी दृष्टि ही थी क्योंकि जिस समय भारत अपने-अपने तमाम अंतर्विरोधों को समेटे हुए अपने एक मात्र उद्देश्य स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहा था, उस समय के हिन्दी के साहित्यकार आखिर प्रकृति प्रेम से क्या सन्देश देना चाहते थे ? इस पर नामवर सिंह ने विचार किया है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मत का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा है कि देश प्रेम का आरंभ प्रकृति प्रेम से होता है, "यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, कण, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है।"[125]

जयशंकर प्रसाद की कविताएँ बांग्ला नवजागरण से प्रभावित हैं जिसमें मानव के विभिन्न मानवीय गुणों का प्रचार-प्रसार किया गया है। प्रसाद जी ने न तो अंग्रेजी के किसी ग्रन्थ का अनुवाद किया है न बांग्ला भाषा साहित्य का ही। वे अपनी स्वयं की भावना को सबकी भावना बनाने में सफल कवि हैं। प्रसाद जी का पहला कविता संग्रह 'चित्राधार' है जिसमें लेखक ने पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों पर इतिवृत्तात्मक कविता लिखी है और साथ ही प्रकृति के स्वतंत्र रूप का चित्रण किया है। दूसरा कविता संग्रह 'प्रेम पथिक' है जो पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था बाद में उसे खड़ी बोली में लिखा, इसका विषय प्रणय-भावनाओं से ओत-प्रोत है। इसलिए कुछ आलोचक इस संग्रह का विषय श्रीधर पाठक द्वारा

[125] नामवर सिंह, 'छायावाद' पृष्ठ सं. 35

अनूदित 'एकांतवासी योगी' से मिलता-जुलता मानते हैं। 'महाराणा का महत्त्व' नामक काव्य संग्रह में लेखक ने भारतीय संस्कृति में स्त्री के सम्मान को स्पष्ट किया है। महाराणा प्रताप के सैनिकों ने जब अब्दुल रहीम खानखाना की पत्नी को बंदी बनाया तो महाराणा प्रताप ने उन्हें ससम्मान दुश्मन खेमे में वापस भेज दिया। 'कानन कुसुम' में लेखक अपने आराध्य की भक्ति में लीन है तो कहीं उनके दया भाव का वर्णन कर रहा है। 'झरना' में कवि ने प्रकृति के विभिन्न मनोहरण चित्र का सजीव चित्रण किया है और इसमें रहस्यात्मकता का भी समावेश किया है। 'आँसू' एक स्मृति काव्य है। यह विश्व कल्याण की भावना से प्रेरित है। इसमें कवि अपने निजी दुःख को सबका दुःख बना देने में सफल हुआ है। क्योंकि मानव की प्रवृत्ति और समस्याएँ एक समय में लगभग समान होती हैं, इसलिए एक आदमी का दुःख एक आदमी का न होकर उस समय, उस परिस्थिति में रह रहे उन सभी लोगों का है जो ऐसी समस्याओं से जूझ रहे हैं। 'लहर' में कवि अब चिंतक का रूप लेते चलता है, अब यहाँ भावुकता का कोई स्थान नहीं है। 'कामायनी' एक प्रबंध काव्य है जिसमें हिन्दू धर्म में मान्य मान्यता के अनुसार पहले मनुष्य मनु और उसकी विलासी प्रवृत्ति से देव संस्कृति के विनाश और मानव संस्कृति के विकास के आरम्भिक अवस्था पर विचार किया है। इस प्रबंध काव्य के माध्यम से यह बताया गया है कि मानव समाज में मानवता के विकास में रूकावट उसकी प्रवृत्ति ही ज़िम्मेदार है। यहाँ मनु–मन, श्रद्धा–हृदय, इड़ा–बुद्धि के प्रतीकों द्वारा बुद्धि और हृदय का द्वंद्व दिखाया गया है। डा. नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है, "कामायनी में बुद्धिवाद के विरोध में हृदयतत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने शैव दर्शन के आनंदवाद को जीवन के पूर्ण उत्कर्ष का साधन माना है। जहाँ उन्होंने काम को 'मंगल से मंडित श्रेय' माना है, वहाँ श्रद्धा की प्रेरणा से मनु को कामना के बंधन से ऊपर उठकर सामरस्य के आनंद की उपलब्धि से तत्पर दिखाया है।"[126]

[126] सं. डॉ नगेन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं. 532

प्रसाद के काव्य में भावुकता और रहस्यवाद जैसी चीज़ें देखने को मिलाती हैं पर उनके गद्य में राष्ट्र के नायकों के प्रति विशेष लगाव है। प्रसाद जी ने नाटकों के माध्यम से सोये हुए भारतीयों को जगाने और उन्हें अपनी परम्परा और संस्कृति से परिचित कराने का सफल प्रयास किया है। प्रसाद जी के नाटकों में नारी पात्र एक निर्णायक भूमिका में प्रस्तुत की गयी हैं।

नाटककार जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों के माध्यम से तत्कालीन भारतीयों में ऐतिहासिक चेतना जागृत की। कुछ लोग उन्हें अतीत जीवी भले कहते हैं, पर उनके ऐतिहासिक नाटक तत्कालीन सरोकारों से जुड़े हैं। प्रसाद जी ने कई नाटक लिखे उनमें प्रमुख- 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' हैं। प्रसाद जी ने इन ऐतिहासिक नाटकों में देश प्रेम और त्याग का गुणगान किया है।

प्रसाद के नाटकों पर यह आरोप है कि उनके नाटक रंगमंच की दृष्टि से सफल नहीं हैं, पर ये नाटक साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं। गिरीश रस्तोगी बताती हैं कि हिन्दी का उस समय अपना रंगमंच नहीं था इसलिए प्रसाद के नाटकों को रंगकर्मी पारसी थियेटर की शैली में नहीं बैठा पाए और यह निष्कर्ष निकाला की प्रसाद के नाटक रंगमंच के योग्य नहीं हैं। वे लिखती हैं "हिन्दी रंगमंच और रंगकर्म की सत्ता स्थापित हो जाने और उनकी लंबी सक्रियता के बाद प्रसाद के नाटकों को सातवें-आठवें दशक में मंचन और गोष्ठियों का विषय बनाया गया। इसी बीच उनके नाटकों का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनर्मूल्यांकन भी हुआ। डॉ. गोविंद चातक , डॉ. सिद्धनाथ कुमार की पुस्तकों ने प्रसाद के नाटकों पर हुई समीक्षा को नयी दिशा दी।"[127]

'चंद्रगुप्त' नाटक में शूद्र राजा नंद और उसके बेटे अम्भिक के अदूरदर्शी नीति के कारण जनता परेशान थी। अम्भिक के विदेशी आक्रांता से हाथ मिलाने और उससे उपजी

[127] गिरीश रस्तोगी, 'बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच' पृष्ठ सं. 52

स्थिति का लाभ उठाते हुए एक कुशल गुरु चाणक्य का शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य मगध साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर लेता है।

'चंद्रगुप्त' नाटक की पूरी कथावस्तु चाणक्य के इर्दगिर्द घूमती है। चाणक्य को अपने ब्राह्मण होने पर बहुत गर्व है और साथ ही उसे अपने और अपने पूर्वजों के निःस्वार्थ भाव से आर्यावर्त की सेवा से मिली आत्मसंतुष्टि पर भी। यह ब्राह्मण राजा बनने की योग्यता रखते हुए भी बस शिक्षक की भूमिका में देश की सेवा करना पसंद करता है। शिक्षकों को अपमानित करना किसी भी राष्ट्र के पतन का कारण होगा। 'चन्द्रगुप्त' नाटक ऐसे ही एक देशप्रेमी शिक्षक और उसके योद्धा शिष्य चन्द्रगुप्त की ऐतिहासिक कहानी है।

चाणक्य की राजनीति में स्त्रियाँ भी बराबर की सहायक हैं। चाणक्य के मित्र की बेटी सुवासिनी जो राजा नन्द के यहाँ अपने जीवन यापन के लिए नृत्यांगना बनी, जहाँ उसे राक्षस (नंद के मंत्री) से प्यार हो जाता है। सुवासिनी के द्वारा चाणक्य, राक्षस पर नियंत्रण रखता है। जब सुवासिनी को उसके पिता मिल जाते हैं तो वह राक्षस से विवाह करने से मना कर देती है कि अब विवाह अपनी मर्जी से नहीं बल्कि पिता जी के आज्ञा से करेगी। बाद में सुवासिनी चाणक्य के कहने से राक्षस से शादी करती है। चाणक्य राजनीति को अपने पक्ष में करने के लिए अलका को पर्वतीय राजा से शादी करने का वादा करने को कहते हैं, जिससे वह सिकंदर से हुई संधि को तोड़ दे।

'स्कंदगुप्त' नाटक में रामगुप्त की मृत्यु से उपजी स्थिति और स्कंदगुप्त के राजगद्दी पर बैठने और हूणों को सिन्धु नदी के पार तक खदेड़ देने की घटना को केंद्र में रखकर कथानक को गढ़ा गया है। स्कंदगुप्त हर कदम पर अपनी सौतेली माँ अनंतदेवी और उसके प्रमुख सहायक भट्टार्क के षडयंत्र से बचते-बचाते देश में अशान्तिपूर्ण माहौल को शांत करने में लगा रहा। इसी दौरान मालव प्रदेश में आक्रान्ताओं ने हमला कर दिया था। जहाँ देवसेना और

उसके भाई बंधुबर्मा युद्ध करते हुए अपने को हारा हुआ मान लिए थे। उसी समय स्कंदगुप्त मालव प्रदेश से हुई रक्षा संधि का पालन करते हुए राज्य की रक्षा करता है।

स्कंदगुप्त जब सिन्धु नदी के पास हूणों से युद्ध कर रहा था तभी अचानक भट्टार्क ने नदी का बांध तोड़ दिया जिससे स्कंदगुप्त नदी के बहाव में बह गया, बाद में घायल अवस्था में वे मिलते हैं तब तक स्थिति बदल चुकी होती है, उनकी माँ देवकी की मृत्यु हो चुकी होती है और प्रेमिका देवसेना जोगिनी हो चुकी होती है। स्कंदगुप्त, भट्टार्क के साथ हूणों को सिन्धु नदी के पार खदेड़ कर, युद्ध भूमि में ही पुरुगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देता है।

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक स्त्री अधिकार की बात करता है और समाज से यह अधिकार मांगता है कि यदि पुरुष अपनी स्त्री की रक्षा करने में असमर्थ है तो वह स्त्री उससे अपना संबंध विच्छेद कर सकती है। प्रसाद जी के नाटकों के बारे में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "'स्कन्दगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' से उन्होंने यह अवश्य सिद्ध किया कि वह भारतीय इतिहास के अन्वेषण के साथ-साथ, अध्ययन-चिंतन के द्वारा, अतीत के गौरव की स्मृति दिलाकर एक ओर सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रयास कर रहे थे दूसरी ओर हिन्दी नाट्यकला, नाट्यभाषा की नयी संरचना के साथ 'रंगमंच' शीर्षक गंभीर निबंध लिखकर हिन्दी रंगमंच की चिंता भी कर रहे थे।"[128]

छायावाद के दूसरे प्रमुख स्तंभों में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लिया जाता है। निराला के साहित्य में दलित पिछड़ों को विशेष महत्त्व दिया गया है। इन्होंने अपनी कुछ रचनाओं में मिथकों का आधुनिक पाठ प्रस्तुत किया है जैसे 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा'। इसमें तत्कलीन राजनीतिक अस्थिरता में स्थिरता की खोज की है। निराला अपने समय के बड़े विचारकों से रचनात्मक ऊर्जा प्राप्त करते रहें। इनका साहित्य रवींद्रनाथ टैगोर, विवेकानंद, महर्षि अरविंद, तिलक और गोखले के विचारों से प्रभावित है।

[128] गिरीश रस्तोगी 'बीसवीं सताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच' पृष्ठ सं. 50

इनकी छायावादी कविताओं के संग्रह इस प्रकार हैं - 'अनामिका' 1922 में, 'परिमल' 1930, 'गीतिका' 1936, 'अनामिका' 1938 । निराला अपने पहले काव्यसंग्रह 'परिमल' में आध्यात्मिकता की भावना से परिपूर्ण कविताओं का संकलन किया है । कुछ कविताएँ सांस्कृतिक चेतना को वाणी प्रदान करने वाली हैं । निराला भारतीय समाज में दलितों की दयनीय स्थिति से बहुत दुःखी है, यह दुःख परिमल की कविताओं में दिखता है । इस संग्रह में निराला की प्रसिद्ध कविताएँ हैं- 'तुम और मैं', 'माया', 'विधवा', 'भिक्षुक', 'बादल राग' एवं 'जागो फिर एक बार' ।

'गीतिका' काव्य संग्रह में कुल 101 गीतों का संग्रह है, इस संग्रह की कविताओं में निराला ने कई प्रयोग किये हैं । इस संग्रह की ज़्यादातर कविताएँ अद्वेतवाद से प्रभावित हैं । इस संग्रह की प्रसिद्ध कविता है –'कौन तम के पार रे कह' एवं 'पास ही रे हीरे की खान' इन कविताओं में रहस्यभावना को स्पष्ट देखा जा सकता है । इस संग्रह की कुछ कविताएँ राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत हैं जैसे –'वर दे वीणावादिनी' और 'भारत जय विजय करे' ।

निराला के तीसरे काव्य संग्रह 'अनामिका' में कुल 56 कविताओं को संग्रहीत किया गया है जिसमें 'सरोज स्मृति', 'वह तोड़ती पत्थर' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी प्रसिद्ध कविताएँ हैं । निराला की एक और महत्त्वपूर्ण कविता है जो अपने में प्रबंध काव्य का गुण लिए हुए है और वह एक समय का यथार्थ पूर्ण वर्णन करती है, उसका नाम –'तुलसीदास' ।

निराला की कविताओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निराला अपने समय के विभिन्न सरोकारों से परिचित थे । उनके साहित्य का विषय बहुआयामी है । जिससे उनके साहित्य पर राष्ट्रवाद और मानवतावाद दोनों का अच्छा समायोजन देखा जा सकता है । निराला एक तरफ़ एक आम भिक्षुक और एक मेहनत कश औरत पर कविता लिखते हैं तो दूसरी तरफ़ 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी कविताएँ लिखते हैं । इंद्रनाथ मदान ने ठीक ही लिखा है- ''वह काव्य और छंद की मुक्तावस्था का निरूपण इसलिए करते हैं कि

उन्हें सामंती संस्कृति के जड़ बंधन असह्य एवं अमान्य हैं। इस प्रकार वे बंधन का विरोध करते हुए स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता की मान्यताओं को स्थापित करना चाहते हैं। इसके साथ ही वे काव्य की कल्पना छन्द के अभाव में भी नहीं करते। उनके काव्य के वास्तविक स्वरूप को पाने के लिए इस सूक्ष्म अंतर से अवगत होना आवश्यक है। निराला के लिए छन्द का बंधन बाह्य न होकर आतंरिक है, यांत्रिक न हो कर स्वाभाविक है, परम्परागत न हो कर वैयक्तिक है। यह उनके जीवन का मूल उद्देश्य है और उनके काव्य का मूल स्वर है।"[129]

छायावाद के प्रमुख कवि सुमित्रानंदन पंत के साहित्य के केंद्र में मानवतावाद और अरविन्द दर्शन प्रमुख रूप से आया है, बाद में मार्क्सवाद और गाँधीवाद भी। पन्त जी का मन प्रकृति चित्रण में ही रमा रहा। इनकी छायावादी रचनाओं में 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन' तथा 'ज्योत्सना' है। इन संग्रहों में कवि के कोमल हृदय का पता चलता है और इन कविताओं में प्रकृति–सौंदर्य का भी।

'पल्लव' की भूमिका से पन्त के प्रखर चिंतन का पता चलता है। यह कवि कविता में भावुक है पर अपने चिंतन में विद्रोही। इन्होंने 'पल्लव की भूमिका' में ब्रजभाषा और रीतिकालीन कविता के पक्षकारों की ख़बर ली है। केशव दास को तो 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कह दिया गया है। पन्त के 'पल्लव' की भूमिका को रेखांकित करते हुए विद्वानों ने इसे वर्ड्स वर्थ की 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका से तुलना की है। जो महत्त्व पश्चिम के स्वछंदता में 'रिलिकल बैलेड्स' की भूमिका का है, वही महत्त्व छायावाद में 'पल्लव' की भूमिका का है।

छायावादी प्रमुख स्तम्भों में महादेवी वर्मा ही पूर्णतया बँगला नवजागरण से प्रभावित थीं। उनके यहाँ आम जन प्रमुखता से आया है। देश और उसकी समस्याओं पर इन्होंने ज़्यादा कुछ न लिखा बल्कि समाज में व्याप्त कुरीतियों पर इनकी कलम खूब चली। इनकी

---

[129] संपादक परमानन्द श्रीवास्तव, 'निराला की कविताएँ : मूल्यांकन और मूल्यांकन' पृष्ठ सं.162

कविताओं का विषय प्रिय के मिलन और विक्षोभ रहा है। रहस्यवाद इनकी करुण वेदना को व्यक्त करने का माध्यम है। इनकी कविताओं में प्रकारांतर से उनके और उन जैसी स्त्रीयों का दर्द है जो समाज के कोढ़ बाल विवाह, विधवा आदि का शिकार हुई हैं।

महादेवी जी ने गद्य में और प्रखरता से स्त्रियों के प्रति हो रहे अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध, आवाज बुलंद कर उसके सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन कर उसका बड़ा ही अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। उनके 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में आधुनिक स्त्री विमर्श की अनुगूँज सुनाई देती है। उनकी इस किताब में विधवाओं, वैश्याओं और अवैध संतानों के प्रति सहानुभूति है। महादेवी जी समाज से इन लोगों के बहिष्कार करने वाली शक्ति को कटघरे में खड़ी करती हैं। प्रमोद वर्मा ने ठीक ही लिखा है, "महादेवी में अपार करुणा और सहानुभूति है। यह करुणा और सहानुभूति उनके व्यक्तिगत जीवन में और उनकी काव्येतर रचनाओं में भी अभिव्यक्त हुई है-परंतु उन्होंने अपनी कविता को इसके प्रभाव से सदा बचाया है। इसके आधार पर अपने काव्य की काव्यभूमि का विस्तार करने की अपेक्षा वे गिनी-चुनी अनुभूतियों को व्यक्त कर संतोषलाभ करती हैं। महादेवी का गद्य, वस्तु और प्रभाव में, उनकी कविता से भिन्न ही नहीं उसका विरोध भी है। उनकी गद्य रचनाओं में जितनी सामाजिकता है, कविता में उतनी ही नि:संगता।"[130]

प्रेमचंद छायावाद के समकालीन रचनाकार थे, इनके साहित्य के माध्यम से यहाँ यह स्पष्ट करने की कोशिश की गयी है कि किस तरह भारतीय मानस खासकर हिन्दी क्षेत्र का अपने समय की समस्याओं से प्रभावित था। चूँकि तब तक भारतीय राजनीति में कुछ स्पष्ट नहीं था कि आगे क्या होगा, लेकिन प्रेमचंद के साहित्य को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि भारत अपनी स्वतंत्रता के नजदीक था और समस्या जमींदारों द्वारा उत्पन्न की जा रही थी क्योंकि स्वतंत्रता से उनका कोई लाभ नहीं था और न ही इनका कोई राजनेता खुलकर विरोध ही कर

---

[130] संपादक परमानन्द श्रीवास्तव, 'महादेवी' पृष्ठ सं.19

रहा था। प्रेमचंद इस स्थिति को लेकर काफी चिंतित थे। उन्हें डर था कि कहीं स्वतंत्रता पाने के बाद गोरे अंग्रेज की जगह काले अंग्रेज न बैठ जाएँ और कोई परिवर्तन ही न हो।

प्रेमचंद का पूरा लेखन बांग्ला नवजागरण से प्रभावित था। ये उस समय जब खेती बिना जमींदार की सहायता से संभव नहीं मानी जाती थी (क्योंकि लोगों के पास खेती करने के लिए पैसे नहीं हुआ करते थे) तब इन्होंने जमींदारी उन्मूलन पर जोर दिया। इनके उपन्यास और कहानियों में भारत का आम जन अपना सच्चा रूप अख्तियार कर सका। इनके यहाँ कहीं भी अंध देशभक्ति देखने को नहीं मिलती। इनके साहित्य में आने वाले भविष्य की चिंता है और आज की समस्याओं का उद्घाटन उद्देश्य।

प्रेमचंद के कथासाहित्य में सामाजिक पक्षों की पड़ताल से डरी सरकार ने 'सोजेवतन' को प्रतिबंधित कर दिया था। इन्होंने अपने विभिन्न लेख और संपादकीय के माध्यम से खुलकर  सामंतवाद, पूँजीवाद का विरोध करते हुए अंग्रेजों की नीतियों का भी विरोध किया है। प्रेमचन्द अपने समय के क्रांतिकारियों की मंशा पर भी प्रश्न चिन्ह लगाते हैं कि ये बड़े-बड़े जमींदार ताल्लुकेदार भी काँग्रेस के साथ हैं, ज़रूर ही आज़ादी के बाद इनके भी स्वार्थ की पूर्ति होगी। अगर ऐसा होगा तो गोरे अंग्रेज की जगह काले अंग्रेज सत्ता पर क़ाबिज़ होंगे। सत्ता में कोई अमूल चूल परिवर्तन से होने  से रहा।

प्रेमचंद, गाँधी जी के महत्त्व से वाकिफ़ थे वे बताते हैं कि गाँधी जी के आने से ही हम भारतीय, अंग्रेजों की कूटनीति समझ सके। अंग्रेज साम्राज्य सामंतवाद और जागीरदार के बलबूते भारत में फल फूल रहा है। कुछ लोग ख़ासकर दलित भाई अंग्रेजी शासन में अपनी उन्नति के अवसर देखकर इस साम्राज्य के स्थायित्व की कामना कर रहे थे। इस पर प्रेमचंद लिखते हैं, "अंग्रेज जाति उनका उद्धार करने पर अमादा हो गयी है।...डाक्टर साहब (अम्बेडकर) तो विद्वान् आदमी हैं क्या वे नहीं जानते कि विजेताओं ने हमेशा कमजोरों को दबाया है, यहाँ तक कि वही अंग्रेज जाति जिन्हें वह अपना उद्धारक समझ रहे हैं, अपनी

पराधीन जातियों पर किस प्रकार शासन कर रही है? अफ्रीका वालों से अंग्रेजों की न्यायप्रियता की कथा पूछिए, रेड इंडियन से पूछिए, आस्ट्रेलिया के मवारियों से पूछिए, भारत वालों से पूछिए।"[131]

प्रेमचंद खुली आँखों से समाज का निरिक्षण कर सामाजिक लाभ और हानि से परिचित थे, शायद इसीलिए उन्होंने बाबासाहेब अम्बेडकर का विरोध किया था। फिर भी प्रेमचंद जाति विभेद को लेकर बाबासाहेब अम्बेडकर के साथ थे। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में दलितों के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहार की बहुत ही कारुणिक कथा कही है और दलितों के सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोही स्वभाव को उचित बताया है। प्रेमचंद मानते थे कि देश की उन्नति में जाति व्यवस्था बहुत बड़ी हानि पहुँचा रही है, इसका खात्मा जल्दी से जल्दी हो जाना चाहिए। वे लिखते हैं, "हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उनमें जन्मगत वर्णों की गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन।"[132]

शिक्षित समाज हमेशा से स्वार्थी रहा है जो अपने स्वार्थ और नौकरी के लिए किसी भी देश की अवनति की कामना कर सकता है। ये शिक्षित वर्ग अपने ओजस्वी भाषणों और तर्कों से मज़दूर और किसानों को भड़काकर विद्रोह तक करवा देता है। शिक्षित वर्ग अपने समाज के किसान और मज़दूरों की भलाई के लिए कुछ नहीं करता। ये सड़क पर तभी उतरते हैं जब इनकी नौकरी ख़तरे में हो। प्रेमचंद लिखते हैं, "सरकारी नौकरियों के लिए शिक्षित समाज में मोह है। वही मोह, वही लोभ इस भिन्नता का कारण है। वास्तविक राष्ट्र शिक्षित समाज की संकीर्ण स्वार्थपरता से विद्रोह करेगा। मुट्ठी भर पढ़े-लिखे आदमियों को अधिकार नहीं कि वह अपने हलुए-माड़े के लिए संपूर्ण राष्ट्र का जीवन संकटमय बनाएँ। वह जमाना

---

[131] राजकुमार, 'हिन्दी की साहित्यिक सांस्कृतिक और भारतीय आधुनिकता' पृष्ठ सं. 73
[132] राजकुमार, 'हिन्दी की साहित्यिक सांस्कृतिक और भारतीय आधुनिकता' राजकुमार पृष्ठ सं. 74

आ रहा है जब भारत के किसान, भारत के दुकानदार, भारत के मज़दूर खुद अपना नफा-नुकसान समझेंगे और अपने हितों को शिक्षित समुदाय के पैरों तले कुचला जाना गवारा न करेंगे। शिक्षितों ने जीवन के पश्चिमी, नकली आडम्बरपूर्ण आदर्शों की गुलामी करके भारत को सर्वनाश की गर्त में ढकेल दिया।"[133]

भारतीय मानस अंग्रेजों की भौतिकवादी संस्कृति से बहुत प्रभावित है। अब भारतीयों को अपने यहाँ के आदर्श और उसूल निरर्थक लगने लगे हैं। ऐसे ही लोग अंग्रेजों के विभिन्न उद्योग को देखकर उनकी संस्कृति को श्रेष्ठ मान लेते हैं और इन लोगों को अपनी संस्कृति में दोष ही दोष दिखने लगते हैं। इन्हें अपनी संस्कृति से घृणा हो जाती है। प्रेमचंद बताते हैं कि बहुत सी विकसित संस्कृतियाँ बर्बर संस्कृति के हमले से तबाह हो गयी हैं।

प्रेमचंद अपने प्रसिद्ध लेख 'महाजनी सभ्यता' में पूँजीवादी व्यवस्था को जागीरदारी और सामंतवादी व्यवस्था से भी क्रूर बताते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में धन का होना प्रमुख है। इस महाजनी सभ्यता में रिश्ते-नाते भी बिजनेस है। डाक्टर, वकील लोगों की समस्या तभी सुनता है जब उन्हें उनके समय का उचित मूल्य मिल रहा हो। महाजनी सभ्यता में किसान और मज़दूरों की हालत यह है कि "उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनियाँ से विदा हो जाए, अधिक दुःख की बात यह है कि शासक वर्ग के विचार और सिद्धांत शासित वर्ग के भीतर भी समा गए हैं, जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को शिकारी समझता है और उसका शिकार है समाज।"[134]

प्रेमचंद महाजनी सभ्यता का उन्मूलन देखना चाहते हैं और इसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करने के पक्ष में हैं। इनके लिए स्वराज्य का अर्थ है कि लोगों की मूलभूत आवश्यता रोटी, कपड़ा, मकान, बिजली और पंखा सस्ते दाम पर उपलब्ध

---

[133] राजकुमार, 'हिन्दी की साहित्यिक सांस्कृतिक और भारतीय आधुनिकता' पृष्ठ सं. 70-71

[134] 'प्रेमचंद रचना संचयन' पृष्ठ सं. 890-10

हो। प्रेमचंद का दलबंदी डेमोक्रेसी में विश्वास नहीं है कि जिनके पास पैसा है वही इस लोकतंत्र में सफल होगा। प्रो.राजकुमार अपनी किताब 'हिन्दी की साहित्यिक सांस्कृतिक और भारतीय आधुनिकता' में प्रेमचंद के लोकतंत्र संबंधी विचार का उद्धरण इस प्रकार देते हैं- 'संसार का कल्याण तभी हो सकता है जब संकुचित राष्ट्रीयता का भाव छोड़कर व्यापक अंतराष्ट्रीय भाव से विचार हो।'

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दौर में हिन्दी साहित्य को वैज्ञानिक चेतना के रंग में रंगने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नाम हिन्दी आलोचना, निबंध और इतिहास में गर्व से लिया जाता है। इन्होंने अपनी आलोचना और निबंध से हिन्दी साहित्य का मान बढ़ाया साथ ही हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखकर विधेयवादी पद्धति को लोकप्रिय बनाया। आचार्य शुक्ल के इतिहास को लिखे अब तक लगभग 90 वर्ष हो चुके हैं पर सभी हिन्दी साहित्य के इतिहासकार कमोबेश शुक्ल जी की ही परम्परा का अनुकरण करते आ रहे हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की व्यवहारिक समीक्षा के मानदंड 'तुलसीदास' और उनका 'रामचरितमानस' है। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल जायसी और सूरदास पर स्वतंत्र पुस्तक लिखकर इन कवियों को प्रतिष्ठापित करते हैं। शुक्ल जी आलोचना करते समय भाव, व्यवहार, समय और परिस्थिति को ध्यान में रखते हैं। आचार्य शुक्ल अतिवादियों पर कटाक्ष करने से भी नहीं कतराते। सिद्धों की आलोचना करते हुए उनके ग्रंथों को सांप्रदायिक प्रचारक कहा फिर भी हिन्दी के आरंभ इन्हीं रचाओं में ढूँढ़ते हैं। कबीर और संत साहित्य की अतिवादी दृष्टि पर उन्हें भी कटघरे में खड़ा किया पर कबीर और अन्य संतों के सामाजिक महत्त्व को इनकार भी नहीं करते और संतों के व्यक्तिगत ज्ञान की प्रशंसा भी करते हैं। कबीर दास के बारे में आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिन्दू साधु, संन्यासियों से ग्रहण की जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने प्रेमतत्त्व का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड की

प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम रहीम की एकता समझ कर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया ।"[135]

शुक्ल जी सूफी कवियों की प्रेम विषयक विषय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । कृष्ण भक्ति शाखा के प्रमुख कवि सूरदास के यहाँ शुक्ल जी पाते हैं कि इनकी बड़ी विशेषता नवीन प्रसंगों की उद्भावना है । सूरदास की दृष्टि 'श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक पहुँची है वहाँ तक किसी और कवि की नहीं ।' आचार्य शुक्ल तुलसी की कविताओं की आलोचना करते हुए उनकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता सर्वांगपूर्णता को माना है । आचार्य शुक्ल का मानना है कि जहाँ -जहाँ तुलसी दास ने अपने पूर्ववर्ती कवि सूरदास का अनुकरण किया है वहाँ-वहाँ वे असफल हुए हैं जैसे तुलसी दास ने 'गीतावली' में बाललीला का वर्णन करते हुए अधिक विस्तार दिया, पर बाल स्वभाव का वर्णन न कर सके बस रूप वर्णन में ही लगे रहे । आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "उत्तरकाण्ड में जाकर सूरपद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्व तिरोहित सा हो गया है ।... 'सूरसागर' में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्री कृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाए गए हैं । इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्यभाव ही प्रकट होता है ।"[136]

केशवदास पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- 'वे मुक्तक रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबंध रचना के नहीं ।' आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रन्थ में सभी कवियों का उचित मूल्यांकन किया है । मुस्लिम कवियों में रहीम की दानवीरता और रसखान की भक्ति का बखान करते हुए शुक्ल जी नहीं अघाते । आधुनिक काल में सदासुखलाल नियाज की भाषा को 'साधु' भाषा कहा है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास लेखन में किसी भी रचनाकार का मान मर्दन नहीं करते यदि कहीं हुआ भी है तो वह तत्कलीन समय में शोध की

---

[135] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.51
[136] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं. 90

कमी का परिणाम है । जैसे सिद्ध, नाथ, जैन के साहित्यिक महत्त्व को न मनाने का आरोप लगाया जाता है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सिद्ध, नाथ, जैन साहित्य और कबीरदास पर जितना लिखा यदि उसमें आज हो रहे विभिन्न शोध के निष्कर्ष जोड़ दिया जाए तो उनका इतिहास ग्रन्थ और भी मुकम्मल हिन्दी साहित्य और भाषा का इतिहास सिद्ध होगा । आचार्य शुक्ल लिखते समय हमेशा भविष्य में होने वाले शोध के प्रति सजग थे, आदिकाल को वीरगाथा काल कहते हुए उन्होंने जिन बारह ग्रंथों को लिया है उनमें से कुछ ग्रंथों को संदिग्ध बताया पर उन्हें भविष्य में होने वाले शोध पर विश्वास था कि निश्चय ही शोधकर्ता इन किताबों को ढूँढ़ लेंगे शायद इसी आधार पर उन्होंने इन ग्रंथों की मूल प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर वीरगाथा काल कहा ।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी की पहली कहानी 'इंदुमती' को इस शर्त पर माना कि यदि यह किसी विदेशी भाषा की अनूदित कृति न हुई तो यह हिन्दी की पहली कहानी है । भविष्य में होने वाले शोधों को ध्यान में रखकर ही उन्होंने एक समय में हुई घटना को दो नाम दिये । जिससे भविष्य के शोध उनकी इतिहास की किताब में जोड़े जा सके ।

आचार्य शुक्ल तत्कालीन समय में लिखे जा रहे हिन्दी साहित्य के इतिहास से परिचित थे, जिसमें पाश्चात्य विद्वान जार्ज ग्रियर्सन ने रहस्यवादी रचनाओं को 'क्रिस्टोमैथी' कहा है और उसकी खूब प्रशंसा भी की है । इसलिए शुक्ल जी को हिन्दी साहित्य का इतिहास और समीक्षा लिखते समय साहित्यिक और असाहित्यिक रचनाओं में विभेद बताना ज़रूरी लगा । आचार्य रामचंद्र शुक्ल को आध्यात्म और रहस्यवाद में लिखी रचनाएँ तनिक भी नहीं भाती थी । उन्होंने आदिकाल और भक्तिकाल के रहस्यवाद को दो भागों में बांटा है एक साधनात्मक रहस्यवाद दूसरा भावात्मक रहस्यवाद । शुक्ल जी ने भावात्मक रहस्यवाद को साहित्य के भीतर माना है क्योंकि यह मनुष्य के स्वाभाविक जिज्ञासा का एक रूप है, पर साधनात्मक रहस्यवाद को साहित्य में जगह देने के पक्ष में नहीं थे । आधुनिक काल में किसी

भी प्रकार के रहस्यवाद में इनका विश्वास नहीं है। नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है, "आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आध्यात्मवाद के उस काव्यात्मक रूप रहस्यवाद के विरुद्ध पूरी एक पुस्तक 1928 में 'काव्य में रहस्यवाद' के नाम से लिखी और दिखाने की कोशिश की कि किस प्रकार उपनिषदों और तंत्र से लेकर आज तक रहस्यवाद की कड़ी पूरी-की-पूरी जोड़ी जाती है। उसके बारे में उनका पक्ष था कि अन्यत्र रही होगी परम्परा, लेकिन काव्य के क्षेत्र में नहीं थी, साधना के क्षेत्र में भले ही रही हो। किन्तु एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है। वह यह कि उस क्रांतिदर्शी आचार्य ने रहस्यवाद के राजनीतिक पक्ष को, राजनीतिक उपयोग को पहचानना था, जो दूसरे लोग नहीं पहचान सके थे।"[137]

नामवर सिंह बताते हैं कि शुक्ल जी रहस्यवाद के इतने विरोधी होने पर भी आज के कवि रहस्यवाद से अपना नाता न तोड़ सके जैसे नरेन्द्र शर्मा आदि। आचार्य शुक्ल को ग्रियर्सन का आध्यात्म प्रेम इसलिए भी न अच्छा लगा होगा कि कहीं हिन्दी के रचनाकार अपने अस्तित्व की खोज आध्यात्म में ही न करने लगें। आचार्य शुक्ल ने छायावाद की प्रमुख कृति 'कामायनी' को 'मानवता का रसात्मक इतिहास कहा' और दूसरी तरफ़ छायावादी रहस्यभावना को मधुचर्या कह कर उसकी आलोचना करते हैं। छायावाद के प्रकरण में लिखते हैं, "अब जो आंदोलन चले वे सामान्य जनसमुदायों को भी साथ लेकर चले। इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि आंदोलन संसार के और भागों में चलने वाले आंदोलनों के मेल में लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौमिक धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असंतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम से उठा उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची। दूसरे देशों का धन खींचने के लिए योरप में महायंत्रप्रवर्तन का जो क्रम चला उससे

[137] 'साहित्य सेतु' जुलाई दिसम्बर 2019 'आचार्य शुक्ल और हिन्दी नवजागरण'- पृष्ठ सं. 31

पूँजी लगनेवाले थोड़े से लोगों के पास तो अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिए भोजन वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया।"[138]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य, समीक्षा और इतिहास के साथ ही साथ कुछ अंग्रेजी में सामाजिक और तत्कालीन मुद्दों पर निबंध लिखे हैं। उन्हीं निबंधों में 1907 में प्रकाशित 'व्हाट हैव इण्डिया टू डू' है, जिसमें अंग्रेज कर्मचारियों के अत्याचार और भारतीय कर्मचारियों की चापलुसी पर व्यंग्य किया है। नामवर सिंह ने अपने लेख 'आचार्य शुक्ल और हिन्दी नवजागरण' में शुक्ल जी के इस कथन का उदाहरण देते हैं, "प्रत्येक ग्रामवासी को यह जानना चाहिए कि वह इतनी ज़्यादा मेहनत करने पर भी इतना कम क्यों कमाता है ...। और सचमुच प्रत्येक भारतवासी को यह साफ़ दिखाई पड़ना चाहिए कि उसका देश दिन पर दिन क्यों ग़रीब होता जा रहा है। आप चाहें तो इसे राजनीतिक शिक्षा कह सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा के प्रसार के लिए भिन्न पद्धतियों और माध्यमों का सहारा लेना पड़ेगा। स्कूल और कालेज ही इस शिक्षा में स्थान नहीं होंगे। सार्वजनिक व्याख्यानों के द्वारा हम लोग बहुत कुछ कर सकते हैं। सुविधाजनक स्थानों पर ऐसे व्याख्यानों का आयोजन किया जाना चाहिए और लोगों को सुदूर देहातों में जाकर भारतीय जनसमूह को उन परिस्थियों से परिचित कराना चाहिए, जो उन्हें प्रभावित कर रही है। यहाँ उन्हें इसके साथ ही कर्म का मार्ग भी बताना चाहिए। यहाँ हम देशी भाषाओं के बढ़ते हुए साहित्य की उस भूमिका को नज़र-अंदाज नहीं कर सकते हैं जो भारतीय मनीषा को एक सामंजस्य के स्तर पर लाने का प्रयास करती है।"[139]

आचार्य शुक्ल ने 'रिडल आफ दी यूनिवर्स' का अनुवाद 'विश्व प्रपंच' नाम से 1921 में किया। इस किताब की भूमिका में अनुवादक ने भारतीय भौतिकवादियों की एक परम्परा का विस्तार से उल्लेख किया है। शायद इसलिए परम्परावादियों ने इस किताब का दूसरा

[138] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ सं. 441
[139] साहित्य सेतु, जुलाई -दिसम्बर 2019 पृष्ठ संख्या 34

संस्करण नहीं निकाला। बहुत दिनों तक यह किताब लाइब्रेरी की शोभा बढ़ा रही थी डा. रामविलास शर्मा ने इसको पुनः प्रकाशित कर आचार्य शुक्ल के विचारों से अवगत कराया।

'रिडल आफ दी यूनिवर्स' अपने समय की सबसे विवादित किताब थी, यह डार्विन के विकासवाद के समर्थन में लिखी गयी थी। इस किताब में धर्म संबंधी विचारों की आलोचना की गयी है। इसके विरोध में पोप ने गालियों से भरी किताब लिखी। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं "क्योंकि हैकल ने डार्विन के विकासवाद की मदद से धार्मिक पाखंड, रूढ़िवाद और आतंकवाद का जोरदार खंडन किया था। आचार्य शुक्ल ने हैकल की पुस्तक का केवल अनुवाद ही नहीं किया, उस पुस्तक में व्यक्त विचारों की भारतीय विचारों से तुलना करते हुए उसे पाठकों के लिए सुगम बनाने के उद्देश्य से 126 पृष्ठों की लंबी भूमिका लिखी।"[140]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के वैज्ञानिक विचारों का परिष्कार बहुत हद तक इस किताब का अनुवाद करते समय हुआ। इस किताब की भूमिका में शुक्ल जी ने रहस्यवाद, आध्यात्मवाद, का विरोध किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने एक लेख 'जातिव्यवस्था' जो चिंतामणि भाग चार में प्रकाशित हुआ है। हालाँकि यह लेख पूर्ण रूप में नहीं मिला है। अंग्रेजी में लिखे इस लेख में शुक्ल जी भारत में रक्तशुद्धता पर बात करते हुए बताते हैं कि भारत के खून में शक, हुण, ग्रीक, आर्य, द्रविड़ सबका खून शामिल है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं "जाति पूर्वी सभ्यता की संतान है। मानवता का यह अमानवीय विभाजन उन स्वार्थी पंडितों द्वारा मिथ्या धर्म से जोड़ा गया है जो ग़रीब पद दलित वर्गों की कीमत पर धनी बन रहे हैं और आनंद कर रहे हैं।"[141]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल असहयोग आन्दोलन का विरोध करते हैं। इस बात की प्रशंसा करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं कि वे अपने समय के सबसे बड़े नेता महात्मा गाँधी की अवहेलना करते हैं। जो लोग खेती छोड़कर नौकरी कर रहे हैं, अगर वह भी छोड़ देंगे तो

---

[140] मैनेजर पाण्डेय, 'आलोचना में सहमति असहमति' पृष्ठ सं. 112

[141] मैनेजर पाण्डेय, 'आलोचना में सहमति और असहमति' पृष्ठ सं. 119

खाएंगे क्या ? और गाँधी जी का यह आन्दोलन मात्र सरकारी नौकरी करने वाले भारतीयों पर ही लागू होता है न कि व्यापारिक वर्ग पर। नामवर सिंह, शुक्ल जी के मानवतावादी पक्ष को उनके रचनाकर्म में देखते हैं, "सूर, तुलसी, जायसी ही नहीं, आधुनिक हिन्दी साहित्य की आलोचना के द्वारा भी वे जनता को राजनीतिक शिक्षा दे रहे थे, जन जागरण का सन्देश दे रहे थे, जिस जनजागरण का सन्देश प्रेमचंद अपने ढंग से निराला अपने ढंग से और जयशंकर प्रसाद अपने ढंग से दे रहे थे।"[142]

[142] 'साहित्य सेतु', जुलाई -दिसम्बर 2019 पृष्ठ संख्या 35

## तृतीय अध्याय

## माधवराव सप्रे का शब्द और कर्म

'शब्द कर्म' का शाब्दिक अर्थ है साहित्य में क्रांतिकारी चेतना। साहित्यकार में शब्द कर्म सामाजिक सरोकार और वैचारिक प्रतिबद्धता से आता है। इसमें रचनाकार शोषक व्यवस्था की असली तस्वीर जनसमूह के सामने प्रभावशाली ढंग से रखता है और जनचेतना को आगे बढ़ाने का काम करता है।

कुछ विद्वान शब्द को कर्म से अलग मानते हैं। ये वो विद्वान हैं जो शब्दों से क्रांति तो लाना चाहते हैं, पर क्रांति में कार्यकर्ता की भूमिका अदा नहीं करते। मैनेजर पाण्डेय अपनी किताब 'शब्द और कर्म' में बताते हैं कि कर्म से ही विचार आता है और जनता से कटे हुए बौद्धिकों की भाषा कृत्रिम होने के कारण कमजोर और अल्पजीवी होती है। शब्द और कर्म को अलग मानने वाले रचनाकार का साहित्य सामाजिक परिवर्तन में कोई भूमिका नहीं निभा पाता। मैनेजर पाण्डेय अपनी किताब 'शब्द और कर्म' में लिखते हैं, "शब्द कर्म का प्रेरक होता है और कर्म शब्द की अर्थ-शक्ति का स्रोत। भाषा समाज और व्यक्ति के कर्म, चिंतन और अनुभूति का साधन ही नहीं है वह अनुभव और चिंतन का माध्यम भी है।"[143]

शब्द कर्म को और स्पष्ट करने के लिए मैनेजर पाण्डेय लेनिन के साहित्य में विचारधारा के प्रयोग की तरफ़ इशारा करते हैं। शब्द और कर्म एक दूसरे के आश्रित हैं, अलग नहीं।

भाववादी विचारक शब्द को ब्रह्म मानते हैं और भाषा को विचार से स्वतंत्र। जबकि भाषा सामाजिक संपत्ति है, यह समाज के संघर्ष और उसके कर्म से ऊर्जा पाती है। मैनेजर पाण्डेय प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक वालासिनोव के हवाले से कहते हैं कि "शब्द सामाजिक प्रतीक है, वह सामाजिक संबंधों का माध्यम है और यथार्थ के बोध के संदर्भ में चेतना का भी

---

[143] मैनेजर पाण्डेय, 'शब्द और कर्म' पृष्ठ सं. 263

माध्यम है। साहित्य रचना के दौरान रचनाकार अर्थ-सर्जन का यह प्रयत्न अपने मूलाधार और प्रयोजन की दृष्टि से सामाजिक होता है । अर्थ की सत्ता और सार्थकता का सामाजिक व्यवहारों, संबंधों और विचारों से गहरा संबंध होता है। इस प्रकार शब्द और कर्म का संबंध सतही और स्वैच्छिक नहीं; बुनियादी प्रयोजन परक और अनिवार्य होता है।"[144]

कुछ विद्वान जैसे निर्मल वर्मा शब्द के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं मानते हैं। वे शब्द को स्मृति की एकता से जोड़कर साहित्य को मिथकीय धरातल की ओर ले जाते हैं। निर्मल वर्मा का यह प्रयोग साहित्य को इतिहास और यथार्थ से दूर करने की कोशिश है, जो बुर्जुवा विचारों का समर्थन है।

माधवराव सप्रे के साहित्य में शब्द कर्म को विभिन्न उप-अध्यायों में विभाजित कर आगे अध्ययन किया जायेगा। माधवराव सप्रे के रचना कर्म में शब्द कर्म की विशेषताएँ मिलती हैं। उन्होंने भी अपने साहित्य के माध्यम से लोगों को, आज के समय की समस्याओं को विषय बनाने की अपील की है और साथ ही मिथकीय साहित्य के आधुनिक पाठ पर बल दिया है। भाषा के स्तर पर भी उर्दू अरबी के उन सब शब्दों के प्रयोगों को सही माना है जो समाज में बहुत समय से ग्राह्य हैं।

## 3.1 माधवराव सप्रे का ऐतिहासिक चिंतन

माधवराव सप्रे एक सफल पत्रकार, कहानीकार और समीक्षक ही नहीं थे बल्कि वे इतिहास, समाज और राजनीति के भी छात्र थे। उनके बहुत से निबंध हैं जिसमें तत्कालीन समस्याओं के अतिरिक्त यूरोप के इतिहास का विश्लेषण मिलता है। 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें' नामक निबंध में आधुनिक यूरोप के इतिहास का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया है। माधवराव सप्रे ने तत्कालीन भारत की राजनीति के परिप्रेक्ष्य में भी निबंध लिखे हैं।

[144] मैनेजर पाण्डेय, 'शब्द और कर्म' पृष्ठ सं. 264

अपनी किताब 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट' के इस निबंध 'यह प्रसंग बड़े मार्के का है' में वे लिखते हैं- ''हमारे प्राचीन पुराणों आदि की कथाओं को चाहे क्षण भर झूठ मान लीजिए; परन्तु दुनियाँ के सच्चे माने गए इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जो इस बात को सिद्ध करता हो कि किसी एक राष्ट्र ने (किसी एक जाति ने) अन्य राष्ट्र को (अन्य जाति को) दासत्व की श्रृंखला से ऐसा जकड़कर बाँधा कि वह बंधन कभी ढीला हुआ ही नहीं।''[145]

माधवराव सप्रे अंग्रेजों के विषय में बताते हैं कि ये अपने यहाँ जनता परस्त हैं, इसी जनता परस्तता के कारण अपने सम्राट को मृत्यु दंड भी दे देते हैं। लेखक अंग्रेजों के इस दुचित्तेपन से दुःखी हैं कि यही अंग्रेज हमारे यहाँ जनता पर अत्याचार कर रहे हैं।

माधवराव सप्रे अपने निबंध में 'बायकॉट' में बताते हैं कि किस प्रकार विश्व इतिहास में लोगों के बहिष्कार द्वारा बड़े–बड़े साम्राज्य धराशायी हो गए। उन्होंने बायकॉट को स्पष्ट करने के लिए चार उदाहरण दिये हैं–पहला अमेरिका द्वारा अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार, दूसरा इटली का बहिष्कार, तीसरा चीन द्वारा अमेरिकी वस्तुओं का बहिष्कार चौथा अंग्रेजों द्वारा अपने महाराजा का बहिष्कार। इन बहिष्कारों ने पूरी हुकूमत को ही बदल डाला।

माधवराव सप्रे ने बहिष्कार का नियम अंग्रेजों की नीति से सीखा है। कैसे अंग्रेज मराठी ब्राह्मणों को एक नियम के तहत सरकारी नौकरियों से बाहर कर रहे थे ? बस, सभी भारतीय अंग्रेजी वस्तुओं को खरीदते समय यही नियम ध्यान रखे तो जल्दी ही अंग्रेजी व्यापार भारत में कमज़ोर पड़ने लगेगा। वे लिखते हैं, ''कुछ सरकारी अफसरों की यह इच्छा दिखाई पड़ती है कि महाराष्ट्री ब्राह्मणों को सरकारी नौकरी न दी जाय। परन्तु महाराष्ट्री ब्राह्मणों के सिवा अन्य जाति के बहुत से बुद्धिमान, शिक्षित और होशियार आदमी नहीं मिलते। अतएव, सरकारी नौकरियों के देने में प्राय: इस नियम का पालन किया जाता है कि जहाँ तक हो सके, प्रथम महाराष्ट्री ब्राह्मणों को कोई जगह न दी जाएँ। पहले किसी यूरोशियन क्रिश्चियन,

[145] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 47

मुसलमान, पारसी, कायस्थ या किसी अन्य जाति के मनुष्य को जगह दी जाए; और जब इतने पर भी कोई न मिले तब महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को जगह दी जाए।"[146]

आगे लिखते हैं कि इससे अचानक मराठी ब्राह्मणों की संख्या में तो कोई असर नहीं पड़ेगा, मगर बीस साल बाद सरकारी महकमों में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ढूँढ़ने से भी न मिलेंगे। कहना न होगा कि यह इशारा अंग्रेजी वस्तुओं के बहिष्कार की तरफ़ ही है कि क्यों न हम उन्हीं के बहिष्कार का नियम उन्हीं पर लागू करें ?

माधवराव सप्रे अपने निबंध 'यह समय कभी-न-कभी आने वाला था' में लिखा है कि बहिष्कार की जो मूल समझ विकसित हुई है, वह यूरोप से शुरू हुई अब तक चीन में पहुँच चुकी है जहाँ अमेरिका का व्यापार नष्ट हो गया। यह बहुत जल्द भारत में भी विकसित होगी, "स्वकीया का स्वीकरण परकिया का त्याग" और साथ ही यह भी कहते हैं, "हिन्दुस्तानी को यह निश्चय करना चाहिए कि जिस इंग्लैण्ड के लोगों ने हमारे मुँह की रोटी छीन ली है और जिस इंग्लैण्ड के लोग काले आदमियों को पशु-तुल्य समझते हैं, उस देश की बनी कोई भी चीज़ हम न खरीदेंगे।"[147]

माधवराव सप्रे ने बायकॉट के महत्त्व को बताते हुए लोगों को अंग्रेजों द्वारा दिए गए कष्टों को याद दिलाया। वे कैसे हमारे मुँह का निवाला छीन रहे हैं। फिर उनकी जनविरोधी नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार माया (शक्ति) को पृथक करने से संसार की उत्पत्ति हो नहीं सकती, उसी प्रकार 'बहिष्कार' को पृथक करने से हमारा आन्दोलन शक्तिरहित हो जाएगा, उससे देश की उन्नति कदापि न हो सकेगी।"[148]

सर्वविज्ञ है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'संपत्ति शास्त्र' को बनाने में माधवराव सप्रे की अर्थशास्त्र संबंधी हस्तलिखित पाण्डुलिपि को आधार बनाया। द्विवदी जी अपनी किताब में जगह-जगह उस पाण्डुलिपि का जिक्र करते हैं, इससे सप्रे जी असंदिग्ध रूप से एक

[146] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं 56
[147] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं 61
[148] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं 63

आर्थिक विचारक भी सिद्ध होते हैं। माधवराव सप्रे के लेखन में भारतीय अर्थ व्यवस्था की समस्या और उसकी उन्नति के मार्ग को प्रसस्त करने संबंधी विचार प्रमुखता से आए हैं, "जब तक हमारे देशभाई विदेशी वस्तु के त्याग की प्रतिज्ञा न करेंगे तब तक नई मिलों के खोलने से और चरखों पर काम करने वाले जुलाहों को उत्तेजन देने से या और-और चीज़ों के कारखाने खोलने से क्या लाभ होगा ? विदेशी वस्तु के त्याग ही में हमारी यथार्थ उन्नति की शक्ति है।...जब हमारे पूँजीपतियों को इस बात का दृढ़ विश्वास हो जायेगा कि हम लोगों ने विदेशी वस्तु का त्याग कर दिया है, तब वे लोग बड़ी-बड़ी मिलें और नए-नए कारखाने खोलने में एक भी दिन का विलंब न करेंगे।"[149]

माधवराव सप्रे स्पष्ट कहतें हैं कि इस देश में अंग्रेजों के सिर्फ दो ही कर्तव्य हैं- शासन करना (अर्थात् हिन्दुस्तानियों को सदा दासत्व में रखना) और संपत्ति लूटना।

माधवराव सप्रे ने अंग्रेज अध्यापकों की इस बात की आलोचना की है कि स्वदेशी आन्दोलन में विद्यार्थियों को भाग नहीं लेना चाहिए। उन्होंने इन अध्यापकों को संबोधित करते हुए कहा है कि यदि उनका देश परतंत्र होता तो क्या तब वहाँ भी अपने इस विचार पर कायम रहते ? दुनियाँ के इतिहास में सभी क्रांतियों में छात्र और अध्यापकों ने मिलकर काम किया है। माधवराव सप्रे सच्चे गुरुओं के कर्तव्य बताते हुए लिखते हैं, "सच्चे गुरुओं या अध्यापकों का यही कर्तव्य है कि वे अपने तरुण विद्यार्थियों को राष्ट्रहित के यथार्थ तत्त्व भली-भाँति समझा दें और युवावस्था से ही उनके मन में देशहित तथा देशभक्ति का बीजारोपण करके शील-स्वभाव इस प्रकार बनाएं कि वे जीवन भर अपने कर्तव्य से कभी पराङमुख न हो।"[150]

माधवराव सप्रे स्वदेशी आंदोलन के दूरगामी महत्त्व से परिचित थे। बहुत से लोग स्वदेशी पर भरोसा नहीं कर पा रहे थे और वे तुरंत लाभ के लिए स्वदेशी जैसे बड़े आंदोलन

---

[149] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. .64

[150] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं. 74

को कमजोर कर रहे थे। माधवराव सप्रे ने देशवासियों को तत्कालीन लाभ से बचने और दूरगामी लाभ को देशहित के लिए ज़रूरी बताते हुए लिखा है, "इसलिए कोई–कोई कहते हैं कि स्वदेशी आन्दोलन से लोगों की हानि होती है, परन्तु वे लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि पाँच करोड़ का स्वदेशी माल न लेते हुए यदि चार करोड़ का विलायती माल लिया जाए, तो ये चार करोड़ रुपये सब विलायत को चले जायेंगे; और यदि चार करोड़ के विलायती माल के बदले पाँच करोड़ का स्वदेशी माल लिया जाए तो ये पाँच करोड़ रुपये सब इसी देश में बने रहेंगे।"[151]

अंग्रेजों ने भारत के व्यापार को बरबाद करने के लिए बायकॉट का ही प्रयोग किया। माधवराव सप्रे ने तत्कालीन बँगाल के शहर मुर्शिदाबाद के बारे में लार्ड क्लाइव के विचारों को उद्धृत करते हैं। क्लाइव लिखते हैं, "यह शहर लंदन के समान विस्तृत, आबाद और धनी है; इस शहर के लोग लंदन से भी बढ़कर मालदार हैं।"[152]

माधवराव सप्रे ने कंपनी के डायरेक्टर जनरल के हुक्म को भी उद्धृत किया है, "बँगाल के लोगों को रेशम का कपड़ा बुनने से रोकना चाहिए। वहाँ के लोग सिर्फ कच्चा रेशम तैयार करें। उस रेशम के कपड़े इंग्लैण्ड के कारखानों में बुने जाएँगे। रेशम लपेटनेवालों को कंपनी के ही कारखानों में काम करना चाहिए। यदि वे बाहर (किसी दूसरी जगह) करें तो उनको सख्त सज़ा दी जाए।"[153]

सज़ा देने के बावजूद भी हिन्दुस्तानी कपड़ा बुनते रहे और अंग्रेज औरते पसंद करती रहीं, तो ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक कानून बनाया, "जो व्यापारी हिन्दुस्तानी कपड़ा बेचेगा, उसको दो सौ रुपये और जो मनुष्य हिन्दुस्तानी कपड़ा पहनेगा, उसको पचास रुपये दंड किया जाएगा। सन् 1815 में दूसरा कानून जारी किया गया कि इंग्लैण्ड में कालीकट से आने वाले सौ पौंड के कपड़े पर अड़सठ पौंड छह शिलिंग आठ पेंस 'कर' लगाया जाए; ढाका की सौ

[151] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 81
[152] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 82
[153] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं.84

पौंड की मलमल पर सत्ताईस पौंड छह शिलिंग आठ पेंस 'कर' लगाया जाए और हिन्दुस्तान के रंगीन कपड़े की आमद बिलकुल बंद कर दी जाए।"[154]

अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी व्यापार को बर्बाद करने के लिए प्रशासनिक हथकंडे के अलावा अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग अर्थात् बहिष्कार का प्रयोग किया। माधवराव सप्रे का मानना यह था कि हम प्रशासन में भले नहीं हैं मगर हम अंग्रेजी वस्तुओं का तो बहिष्कार कर ही सकतें हैं।

माधवराव सप्रे भारत में हो रहे आंदोलनों के भविष्य के प्रति चिंतित थे कि यहाँ कोई आंदोलन जैसे ही शुरू होता है, वैसे ही अपने-आप बंद हो जाता है। भारत में स्वदेशी आंदोलन के पहले कोई भी ऐसा आंदोलन नहीं था जो अंग्रेजी सत्ता के ख़िलाफ़ व्यापक रूप से जन समर्थन पाया हो। माधवराव सप्रे स्वदेशी आन्दोलन के संदर्भ में चाहते थे कि यह आन्दोलन अन्य आंदोलनों की तरह तुरंत समाप्त न हो इसके लिए एक तरकीब बताते हैं कि "इन 'स्वदेशी' स्वयंसेवकों का यही काम है कि वे घर-घर, गली-गली जाकर लोगों को 'स्वदेशी' का उपदेश दें, लोगों में 'स्वदेशी' के विचारों की सदा जागृति करते रहें, लोगों को स्वार्थ-त्याग और स्वावलंबन की शिक्षा दें, व्यापारियों को व्यापार संबंधी नई-नई बातों की सूचना दें और विद्यार्थियों को 'स्वदेशी' का व्रत धारण करने के लिए उत्तेजित करें। उनका यह भी काम है कि वे 'स्वदेशी' पर अच्छे-अच्छे लेख लिखे या लिखवाएँ और उनकी लाखों प्रतियाँ छपवाकर बिना मूल्य या अल्प मूल्य पर सर्व साधारण लोगों में वितरण करें।"[155]

माधवराव सप्रे अपने समय के नवजागरण की संक्रमण की स्थिति से परिचित थे । वे बताते हैं कि पचीस–तीस साल पहले लोग कहते थे कि हिन्दुस्तान में अशांति है, अब कहने लगे हैं कि हिन्दुस्तान अपने पुनर्जन्म की अवस्था में है। माधवराव सप्रे ने लोगों को नवजागरण पर दिल्ली के रे. सी. एफ एंड्रूज की अंग्रेजी में 'Renaissaance in India' किताब को पढ़ने और अपने समय में हो रहे एक बड़े परिवर्तन को समझने और सहयोग करने

---

[154] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' -पृष्ठ सं. 85

[155] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 88

के लिए कहा है। इसी किताब का विश्लेषण करते हुए उन्होंने 'राष्ट्रीय जागृति की मीमांसा' नामक निबंध लिखा जिसमें पाश्चात्य शिक्षा के पहले भारत की स्थिति पर विचार करते हुए लिखते हैं 'देश में चारो ओर ज्ञान और प्रकाश के बदले अज्ञान और अँधियारा ही छाया हुआ था।'

माधवराव सप्रे ने बताया कि भारत में हो रही वर्चस्व की लड़ाई में महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों को छोड़कर सम्पूर्ण भारतीयों में स्वदेशाभिमान का लोप हो गया था। भारतीय, यूरोपीय देशों को अजेय मानने लगे थे जैसे ही जापान ने 1904 में रूस को पराजित किया, जिससे पूरे एशियाई देशों में अपराजेय यूरोपीयन का मिथ टूटने लगा। भारतीय भी स्वदेशी और औद्योगिक विकास से अपने देश का खोया हुआ सम्मान प्राप्त कर सकते हैं, उस समय के विचारकों ने यह कहना शुरू कर दिया था कि "हिन्दुस्तान भी कोई चीज़ है, नहीं, वह एक समय बहुत बड़ा प्रसिद्ध राष्ट्र था। वह अब फिर भी उन्नति कर सकता है। हमें चाहिए कि वर्तमान समय की आवश्यकता के अनुसार कर्म मार्ग में प्रवृत्त हों। हम अपने प्यारे देश को, एक ओर अज्ञानयुग के स्वार्थपूर्ण, संकुचित और मिथ्या विचारों में लड़कर मर जाने से बचावें और दूसरी ओर प्रभावशाली पश्चिमीय शिक्षा के सभ्यता में विलीन तथा नष्ट होने से उसकी रक्षा करें।"[156]

माधवराव सप्रे अपने एक बड़े निबंध 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें' में आधुनिक यूरोप के विकास का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है जिसमें उन्होंने बताया कि कैसे यूरोपियों ने अपने विकास में श्रेष्ठतावादी मानसिकता का परित्याग करके एक मज़बूत राष्ट्र की नींव रखी है। वे बताते हैं कि रोम की जनता दो भागों में बटी थी एक श्रेष्ठ तो दूसरी कनिष्ठ। कनिष्ठ जाति के लोगों को न किसी प्रकार की स्वतंत्रता थी और न कोई अधिकार ही दिया गया था। इन दोनों में किसी भी प्रकार का कोई संबंध न स्थापित होता था। जब कोई विदेशी

[156] सं मैनेजर पाण्डेय , 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन'- पृष्ठ सं.54

शक्ति रोम पर हमला करती तो कनिष्ठ जाति युद्ध में भाग न लेती थी, उसकी माँग थी कि हमें भी अपने बराबर हक़ दे तो हम भी युद्ध में भाग लेंगे। अपने ऊपर संकट को बढ़ते देख श्रेष्ठ जातियों ने उनको अपना लिया जैसे ही दोनों एक हुए रोम राष्ट्र अपने वैभव और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में जाना गया। भारतीयों को भी जातिवाद को समय रहते छोड़कर अपने देश की वृद्धि में लग जाना चाहिए और सभी भारतीयों को आपस में संबंध स्थापित करना चाहिए जिससे भावात्मक एकता स्थापित हो सके।

माधवराव सप्रे का मानना है कि किसी एक जाति का शिक्षा पर विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए। वे लिखते हैं, "इस देश की प्राचीन विद्या बहुत समय तक संस्कृत भाषा तथा उस भाषा को जानने वाले कुछ पंडितों के अधीन बनी रही। ईश्वर, धर्म, नीति, लोक व्यवहार, राज्य पद्धति इत्यादि विषयों की बातें एक विशिष्ट जाति के कब्ज़े में रही। इसका परिणाम वही हुआ जो यूरोप में हुआ था। अर्थात् सर्वसाधारण लोगों की स्वतंत्र विचारशक्ति नष्ट हो गई।"[157]

माधवराव सप्रे भारतीयों को यूरोपीय इतिहास से सीख लेने की ज़रूरत पर बल देते हैं। इसीलिए उन्होंने यूरोप के आधुनिक इतिहास का विश्लेषण करते हुए वहाँ के प्रमुख आन्दोलनों के बारे में बताया है कि कैसे इंग्लैण्ड में गौरवपूर्ण क्रांति हुई जिसमें एक भी बूँद खून का कतरा तक नहीं गिरा और सत्ता परिवर्तित हो गयी। माधवराव सप्रे गौरवपूर्ण क्रांति के पहले हुए भीषण रक्तपात को भी बताना नहीं भूलते। 'प्रजा के हक़ों की रक्षा करने में इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट सभा का इतिहास अत्यंत चित्ताकर्षक और शिक्षादायक है।' इंग्लैण्ड में पार्लियामेंट की प्रतिबद्धता अपने नागरिकों और राष्ट्र के हितों के प्रति थी। पहले तो इस पार्लियामेंट ने अपनी खोयी हुई ताक़त को प्राप्त किया और बाद में जनता पर अत्याचार करने वाले राजा चार्ल्स प्रथम पर मुक़दमा चलाकर 30 जनवरी 1649 को मृत्युदंड दे दिया गया।

[157] सं मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं 70

अब पार्लियामेंट की शक्ति बढ़ती चली गयी, इसकी शक्ति पर अंकुश लगाने की कोशिश करने वाले जेम्स द्वितीय को 1688 में अपना देश छोड़कर भागना पड़ा। अब इंग्लैण्ड में पार्लियामेंट ही वास्तविक शक्ति के रूप में स्थापित हुआ। इंग्लैण्ड में राजा का पद बना रहने दिया गया, पार्लियामेंट ने विलियम नामक एक विदेशी सरदार को, जो कि चार्ल्स मेरी नामक लड़की का पुत्र था को अपना राजा बनाया।

माधवराव सप्रे अंग्रेजों के शासन पद्धति और उनके इतिहास से बहुत प्रभावित थे। उनका मानना है कि अंग्रेजों ने जैसे अपनी उन्नति की वैसे ही हमें भी करना चाहिए, उन्होंने लिखा है, "उत्पद्यन्ते विलियन्ते दरिद्राणाम मनोरथा: । यदि अंग्रेजी राज्य के कृपा छत्र का आश्रय पाकर भी हम लोग अंग्रेजों के इतिहास से दृढ़ता, स्वार्थ त्याग और न्याय प्रेम की शिक्षा न ग्रहण कर सकेंगे तो उक्त संस्कृत वाक्य में सूचित की हुई दशा सदा ही बनी रहेगी। सफलता उचित गुणों के विकास तथा वृद्धि से होती है।"[158]

माधवराव सप्रे ने फ्रांस की राज्य क्रांति और वहाँ क्रांति से उपजी परिस्थितियों का विश्लेषण एक इतिहासविज्ञ की तरह किया है। फ्रांस में ऐतिहासिक क्रांति के बाद लोकतंत्र की स्थापना भले ही पूरे संसार के लिए अनुकरणीय रही हो, पर फ्रांस के शासक वर्ग ने उसे आख़िरी दम तक असफल करने की कोशिश करते रहे। शासक वर्ग अपने को लोकतंत्र में सुरक्षित नहीं मानता और लोकतंत्र को हटाने के लिए जर्मनी को गुप्त सूचना देता रहता है जिससे फ्रांस की संप्रभुता ख़तरे में पड़ जाती है। इस प्रकार तत्कालीन शासन ने 1792 में भेदियों से क्रूरता से निपटने और उनका दमन करने के लिए प्रशासन को छूट दे रखी थी। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "ज्योंही किसी मनुष्य के विषय में यह संदेह होता है कि वह राजा का पक्षपाती है या विदेशियों की सहायता करता है त्यों ही वह पकड़ लिया जाता और कारागार में बंद कर दिया जाता। इसके बाद इन कैदियों की थोड़ी-ही जाँच की जाती और

---

[158] सं मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' - पृष्ठ सं.75

सबके सब फाँसी पर लटका दिए जाते। कम-से-कम एक हजार आदमी इस प्रकार, सितम्बर महीने में मारे गए यद्यपि इस घोर अत्याचार के कारण सारे देश में हाहाकार मच गया। तथापि उससे यह फल प्राप्त हुआ कि लोग गुप्त रीति से, राजा, हक़दार वर्ग या विदेशियों का पक्षपात करने से डरने लगे।"[159]

माधवराव सप्रे ने इटली के एकीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले मेजिनी पर ऐतिहासिक निबंध लिखा है। जिसमें उन्होंने मेजिनी की प्रतिभा और उसके साथी गेरीबाल्डी से मिलकर काम करने की प्रशंसा की है। दोनों मिलकर काम करने से ही इटली एक राष्ट्र के रूप में उभरा। भारत में गेरिबाल्डी पर, सप्रे के समय चार भाषाओं में जीवनी आ चुकी थी - मराठी, गुजराती, बँगला और उर्दू में तो लाला लाजपत राय ने लिखी है। इससे इटली के एकीकरण के नायकों के प्रति भारत में लोकप्रियता स्पष्ट हो जाती है। इटली की पराधीनता और देशप्रेम को उत्साहित करने में इन नायकों का संघर्ष किसी भी परतंत्र देश के लिए अनुकरणीय होगा। परतंत्र भारतीय समाज को भी मेजिनी, गेरीबाल्डी जैसे राष्ट्रीय नेताओं की ज़रूरत थी जो देशहित के लिए आगे आ सके।

माधवराव सप्रे ने मेजिनी के कार्यों और विचारों को बखूबी उद्घाटित किया है। मेजिनी बहुत कम उम्र में ही देश की स्थिति से चिंतित रहने लगे और जब इनके उम्र के लड़के हँसी मजाक में जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय उन्हें अपने देश को स्वतंत्र कराने के विचार उद्वेलित किये रहते थे, जिससे वे गुपचुप रहते थे। 21 साल की अवस्था में वकालत की पढ़ाई करने के बाद वे चार–पाँच साल तक वकालत की पर वहाँ मन न लगा तो वकालत छोड़कर 'कराबोनरी' नामक एक गुप्त क्रांतिकारी संस्था से जुड़ गए। 1830 के बलवे में मेजिनी की सहभागिता होने के संदेह में इसको देश से बाहर निकाल दिया। उन्होंने फ्रांस में एकांतवास करते हुए मार्सेली में 'नौजवान इटली' नामक क्रान्तिकारी संस्था का गठन किया और इसी

[159] सं मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.87

नाम से एक समाचार पत्र 'नौजवान इटली' निकाला। पत्रिका के हजारों प्रतियाँ इटली में बाँटी गयी। इस पत्रिका में मेजनी के लेखों से आतंकित शासकों ने इससे जुड़े लोगों को तुरंत गोली मारना शुरू कर दिया। मेजनी को पकड़ने के लिए फ्रांस, आस्ट्रिया और इटली की पुलिस पीछे पड़ गयी थी, जिससे वे भागकर स्विटजरलैंड में जा बसे। वहीं से क्रांतिकारी गतिविधियों पर नज़र रखते थे। गेरिबाल्डी, केवूर यह चाहते थे कि इटली में परदेसियों का राज्य न रहे पर परदेसी राजा का नाश न करना चाहिए। इस मत से मेजिनी सहमत न हुए और देश छोड़कर चले गए, फिर भी देश के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी और देश को आज़ाद कराने के लिए संघर्ष करते रहे।

मेजिनी को संयुक्त इटली का सदस्य चुना गया पर राजभक्ति उनके चाहत के विरुद्ध की बात थी। मेजिनी जीवन काल में ही स्वदेश में परदेसी शासन को तिरोहित होते देख लिया। मेजिनी प्रत्यक्ष लड़ाई से घबराते थे। सप्रे जी ने मेजिनी के विचारोत्तेजक विचारों के बारे में लिखा है, "मेजिनी की कल्पना यह थी कि सभी मनुष्यों को कुछ हक़ ईश्वर की तरफ़ से मिले हुए हैं, उन्हीं में स्वराज्य और स्वतंत्रता के भी हक़ हैं। इसी तरह उसका यह मत था कि सब मनुष्यों के हक़ बराबर हैं और उन हक़ों का व्यवहार श्रेष्ठ और कनिष्ठ या जीत और जेता के नाते से न करना चाहिए अर्थात् सिर्फ प्रजासत्ताक राज्य ही न्याययुक्त है बाकी सब संस्थाएँ जुल्म की होती हैं ; इसी विचार के अनुसार उसने जन्म भर प्रयत्न किया।[160]"

## 3.2 माधवराव सप्रे का सामाजिक चिंतन

नवजागरण कालीन चिंतक माधवराव सप्रे की एक कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' पर तो खूब चर्चा हुई है। उनके द्वारा लिखे अन्य वैचारिक निबंधों को लोग भुला बैठे हैं। इस

[160] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' सं मैनेजर पाण्डेय- पृष्ठ सं.105

अध्याय में समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता और सिद्धांत को उनके विभिन्न निबंधों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

माधवराव सप्रे ने आक्सफोर्ड की प्रसिद्ध 'फैरंडन प्रेस' से प्रकाशित रिचर्ड की किताब 'आक्सफोर्ड सर्वे आफ दी ब्रिटिश इम्पायर' पर एक निबंध 'राजभक्ति की विलायती परिभाषा' शीर्षक से लिखा है। जिसमें उन्होंने रिचर्ड की 'राजभक्ति और देश द्रोह' नामक अध्याय पर कड़ी आपत्ति दर्ज करते हैं। रिचर्ड उन लोगों को राजभक्त कहते हैं जो अपने देश में विदेशियों की तरह रहते हैं। उनमें भारत के रजवाड़े भी सम्मिलित हैं। भारत के रजवाड़ों के संबंध में माधवराव सप्रे बस इतना लिखते हैं, 'यह हमें ज्ञान नहीं है कि कश्मीर, जयपुर और उदयपुर के महाराज कहाँ तक गृहस्थ हैं।' पर रिचर्ड का पारसियों को विदेशी कहना कि ये यहाँ विदेशी ही तो हैं और ये विदेशियों की तरह रहते हैं। माधवराव सप्रे ने रिचर्ड की जानकारी पर खेद व्यक्त करते हुए कहा कि पारसी यदि रिचर्ड की परिभाषा सुनेंगे तो इनसे घृणा करेंगे। काँग्रेस के अध्यक्षों में अब तक कोई जाति सबसे अधिक अध्यक्ष बनी है तो पारसी ही। क्या रिचर्ड दादा भाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता जैसे भारतीय लोकप्रिय नेता का नाम न सुने थे ?

माधवराव सप्रे अपने 'हमारे सामाजिक ह्रास के कारण' निबंध में पाश्चात्य और भारतीय समाज की सामाजिक परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने सामाजिक उन्नति के तीन कारण बताए हैं, 1. मनुष्य को स्वयं अपना और अपने कुटुंब की रक्षा करने में समर्थ होना चाहिए। 2. सुख की वृद्धि करने और दुःख को दूर करने से मनुष्य की आयु बढ़ती है। 3. अपने कुटुम्ब और जाति की स्थिरता के लिए संतान की वृद्धि करना। माधवराव सप्रे सामाजिक ह्रास के कारणों को बताते हैं- 1. मस्तिष्क का अमर्यादित व्यय 2. शहरों में रहने की प्रवृत्ति 3. विदेशी शिक्षा बुद्धि स्वातंत्र्य।

पूरे निबंध में इन्हीं प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है कि कैसे मस्तिष्क के अमर्यादित व्यय की हमारे समाज में होड़ सी मची हुई है। जिनके बाप-दादाओं ने किताब तक नहीं देखी, आज वही अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य पर एकाधिकार करने की प्रबल कोशिश कर रहे हैं। इससे छात्रों में आत्महत्या, शादी न करने जैसी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा है। माधवराव सप्रे यह बताना भी नहीं भूलें हैं कि इस शिक्षा से कुछ लोग बड़े-बड़े सरकारी ओहदे प्राप्त करने में सफल हुए हैं पर उनका क्या जो बड़ी मात्रा में असफल हो रहे हैं ?

माधवराव सप्रे इस कहावत को चुनौती देते हैं 'जैसे बाप वैसा बेटा' उन्होंने अपने निबंध में विभिन्न उद्धरणों से यह सिद्ध किया है कि अमूमन यह देखा गया है कि सफल बाप के बेटे की मानसिक स्थिति कमजोर ही रहती है। माधवराव सप्रे ऐसे कई उदाहरणों की चर्चा करते हैं और कहते हैं कि आज जो भी बड़े-बड़े नौकरशाह, वकील हैं इनके बाप दादा कभी बहुत सामान्य बुद्धि के रहे हैं। इसी प्रकार इनके बच्चे अपने अभिभावकों की तरह मानसिक वृद्धि न कर सकेंगे और धीरे-धीरे नीचे की ओर जाते रहेंगे। माधवराव सप्रे शिक्षा सुधार पर लिखते हैं, "यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि जहाँ-जहाँ यूरोप वालों ने बस्ती की है वहाँ-वहाँ के मूल निवासी नष्ट हो गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस सुधार और सभ्यता के प्रचार में उन लोगों का हेतु शुद्धि और प्रशंसनीय होता है, परन्तु परिणाम की ओर देखकर उन लोगों को भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।"[161]

माधवराव सप्रे सामाजिक ह्रास के दूसरे कारणों की पड़ताल करते हुए पहले यूरोपीय समाज की स्थिरता और उन्नति के नियमों का स्पष्ट विश्लेषण कर लेना ज़रूरी समझते हैं। जहाँ उन्होंने पाया कि यूरोप के समाज में विवाह बड़ी उम्र में करने का चलन है, वहाँ संतति उत्पन्न करने को महत्त्व कम दिया जाता है। वहीं ग़रीब किसान मज़दूरों के यहाँ विवाह की प्रबल इच्छा देखी जाती है। इनके यहाँ संतान उत्पन्न करने को महत्त्व दिया जाता है, जिससे

---

[161] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.114

संतुलन बना रहता है। यूरोपीय समाज में शक्ति संतुलन भी सदियों से इसी प्रकार होता आ रहा है जो परिवार कभी भूखा नंगा था बाद में सत्ता पर वही काबिज होता है। जो परिवार कभी सत्ता के केंद्र में था वह धीरे –धीरे नष्ट हो जाता है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "यूरोप के समाज की वृद्धि केले के पेड़ के समान है। उसकी जड़ से नए–नए कल्ले फूटते रहते हैं और पेड़ तैयार होकर फल देते हैं। पेड़ में फलों के जो गुच्छे या गहरें लगती हैं वे केवल परोपकार के काम आती हैं। वे बीज के काम की नहीं होतीं।"[162]

सामाजिक ह्रास के कारणों की पड़ताल करते हुए सप्रे जी ने शहरों के विकास को प्रमुख कारण बताया है। गाँव में रहकर लोग खेतों और अन्य उद्योगों में शारीरिक श्रम कर वे एक स्वस्थ्य समाज की नींव रखतें हैं। इसी नींव पर समाज की विभिन्न इमारतों का निर्माण होता है। इन्हीं इमारतों की चोटियों का (श्रेष्ठ वर्गों का) नाश हुआ करता है। जैसे जो संतति अधिक सामर्थ्यवान हुई वह शहरों की ओर चल पड़ी वहाँ वह अपनी योग्यता और श्रम से प्रतिष्ठित होती है, तब तक ये शारीरिक श्रम छोड़ चुके होते हैं। दो तीन पीढ़ी के बाद यह श्रेष्ठ परिवार नष्ट हो जाता है। सप्रे जी लिखते हैं, "जो लोग देहात से बुद्धि और आरोग्य का संग्रह अपने साथ लेकर शहरों में आए उन लोगों ने अपनी पूर्वार्जित शक्ति की सहायता से शहरों में रहकर विद्या प्राप्त की और बड़े-बड़े अधिकारों के पद पर आरूढ़ होकर बहुत-सा द्रव्य भी उपार्जित किया। परन्तु ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि का विस्तार होता गया त्यों-त्यों उसका उथलापन भी बढ़ता गया।...इस प्रकार देहाती जीवन में परिवर्तन हो जाने के कारण वहाँ की संपत्ति नष्ट हो गई और ऊँचे दर्जे के मस्तिष्क का उपयोग करने वालों के कुटुम्बों का भी नाश हो गया।"[163]

माधवराव सप्रे विदेशी शिक्षा और बुद्धि स्वातंत्र्य से भारत की तुलना करते हैं कि वहाँ का धर्म वहाँ की उन्नति में बाधक नहीं है क्योंकि उन्होंने धर्म को आधुनिक रूप में विकसित

---

[162] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.117

[163] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' सं.-पृष्ठ सं.120

करने में कई सौ साल लगाए हैं। हमारे भारतीय छात्र उस धर्म से मोहित हैं कि वहाँ का धर्म उन्नति के मार्ग में कहीं भी बाधक नहीं है जबकि हमारा धर्म उन्नति के हर मोड़ पर बाधक के रूप में खड़ा मिलता है। माधवराव सप्रे छात्रों के बीच में ईसाई धर्म के आकर्षण के कई कारण बताते हैं। यदि छात्र ईसाई धर्म अपना लेते हैं तो उन्हें सत्ता पक्ष से लाभ की आशा है। सप्रे जी इस प्रवृत्ति के परिणाम की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, "ऐसी अवस्था में हमारी केवल सामाजिक और औद्योगिक हानि ही न होगी, अपितु राष्ट्रीय हानि भी होने लगेगी। यह हानि हमीं लोगों को नहीं, किन्तु हमारे वंशजों को भी सहनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त यूरोप निवासी हम लोगों को मूर्ख, अज्ञानी, असभ्य, क्रूर, भीरु, हठी, दुराग्रही आदि अपशब्दों से सदा संबोधन करते रहेंगे। हमारा शिक्षित समाज निंदनीय, उपहासास्पद और केवल अनुकम्पा के योग्य समझा जाएगा।"[164]

माधवराव सप्रे पाश्चात्य शिक्षा के हिमायती हैं और भारतीय साहित्य और संस्कृति के भी। उन्हें अंग्रेजों की यह नीति कत्तई पसंद नहीं है कि आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में भारतीय साहित्य को न पढ़ाया जाए। छात्रों को भारतीय साहित्य न पढ़ाने का परिणाम भारतीय समाज के लिए बहुत ही घातक है क्योंकि छात्रों को ऐसा लगने लगता है कि उसके समाज में ऐसा कुछ नहीं है, जिस पर गर्व किया जा सके; इसलिए वह अपने देश की संस्कृति और परम्परा से घृणा करने लगता है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "हम लोग हिन्दुस्तान में रहते हुए भी अपने देश, समाज, धर्म, नीति, रहन-सहन, भाषा, कुटुंब-वात्सल्य, पूर्वज पूजा आदि के विषय में विदेशियों के समान विचार करने लग गए हैं। धर्मांतर न करने पर भी अपने धर्म पर हमारी श्रद्धा नहीं, जाति में रहकर भी हम लोग विजातीय से हो गए हैं। क्या यह हमारे समाज का भयंकर ह्रास नहीं है ?"[165]

---

[164] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.124
[165] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.127

माधवराव सप्रे सामाजिक ह्रास से बचने के उपाय कई समाजशास्त्री विद्वानों के यहाँ ढूँढ़ते हैं। जहाँ वे गायो जैसे विद्वानों के आलोक में बताते हैं, पिता का पैत्रिक कार्य उसके संततियों को नहीं करना चाहिए, इससे उस परिवार में कोई भी बुद्धिमान संतति पैदा नहीं होगी। अंत में उस परिवार का पतन हो जायेगा। माधवराव सप्रे इस मत को और पुष्ट करने के लिए गायो नामक विद्वान के एक निबंध 'शिक्षा और अनुवांशिक संस्कार' का उदाहरण देते हैं।

माधवराव सप्रे का मानना है कि सामाजिक ह्रास से बचने के लिए शिक्षित लोगों को देहातों में बसना चाहिए और उचित शारीरिक श्रम करना चाहिए। सामाजिक ह्रास से बचने के लिए अपने अंत:करण की सात्विक मनोवृत्तियों का विकास करना चाहिए। स्त्रियों को उचित शिक्षा देनी चाहिए, जिससे वे अपने बच्चों का लालन-पालन ठीक ढंग से कर सके। वे स्त्रियों को अधिक शिक्षा देना और कामकाजी बनाना समाज के लिए अच्छा नहीं मानते थे।

माधवराव सप्रे स्त्री शिक्षा के हिमायती हैं पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से वे एक उन्नत समाज में माँ की अहम् भूमिका को मानते हैं। यदि माँ भी कामकाजी हुई तो एक स्वस्थ्य नागरिक का निर्माण नहीं हो पायेगा। माधवराव सप्रे एक अमेरिकी विद्वान् क्लार्क का उद्धरण देते हैं, "अमेरिका में स्त्री-शिक्षा का प्रचार इसी तरह और पचास वर्षों तक होता रहेगा तो हमारी स्त्रियाँ बंध्या हो जाएँगी और भावी पीढ़ियों की माताएँ अटलांटिक महासागर के उस पार से (अर्थात् असभ्य जातियों में से) लाई जाएँगी।"[166]

माधवराव सप्रे भारतीय समाज को जगाते हुए अपने एक लेख 'हमारी सहायता कौन करेगा' में कहते हैं कि जब तक हम अपनी उन्नति स्वयं न करेंगे तब तक हमारी सहायता कोई नहीं करेगा। इस संदर्भ में कुछ यूरोपीय किंवदंतियों का जिक्र करते हैं कि एक गाड़ीवान की गाड़ी फँस गयी, उसने गाड़ी निकालने का प्रयास न कर हरकुलिस नामक देवता से सहायता

[166] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.127

माँगी। हरकुलिस ने कहा कि पहले तुम अपनी सहायता स्वयं करो। भगवान भी प्रयास करने वालों की ही सहायता करते हैं तो हम क्यों हाथ पर हाथ धरे हुए बैठे हैं ? हमें किसका इंतजार है ?

जब तक हम स्वयं अपनी उन्नति के लिए खुद न चेतेंगे तब तक सरकार की विभिन्न योजनाओं से कोई लाभ न होगा। माधवराव सप्रे सरकार के कर्तव्य को बताते हैं कि सरकार का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य में अपने नागरिकों की धन और स्वाधीनता की रक्षा करें। यदि उन्हें किसी विदेशी ताक़त से ख़तरा हो तो उससे भी रक्षा करें। देश की उन्नति के लिए हमें स्वयं उद्यमी होना होगा। अंग्रेज जाति ने अपनी उन्नति के लिए स्वयं प्रयास किये और राज्य के कानून को अपने हित में पारित भी करवाते रहे। माधवराव सप्रे उद्यमियों के धैर्य को बताते हुए कहते हैं कि देखो गंगा जी को भूलोक में लाने के लिए रघुकुल की कई पीढ़ियों ने प्रयास किया तब जाकर भागीरथ सफल हुए। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "सफलता की कुँजी हमारे ही हाथों में है। यह बात तो सिद्ध हो चुकी है कि हमारी सहायता कोई नहीं कर सकता। हमको अपनी उन्नति के लिए स्वयं यत्न करना चाहिए। यदि हम अपनी उन्नति का कोई यत्न न करें, तो इसमें हमारा ही दोष है, क्योंकि यह बात सर्वथा हमारे अधीन है कि हम अपनी उन्नति और सहायता करें या न करें।"[167]

माधवराव सप्रे अपने निबंध 'स्त्रीयाँ और राष्ट्र' में स्पष्ट बताते हैं कि स्त्री की उन्नति से ही राष्ट्र की उन्नति संभव है। आर्यों का मानना था कि पुरुष हर स्तर पर महिलाओं से श्रेष्ठ है। भारत में यहीं से स्त्रियों की स्थिति बिगड़ी। महाभारत में श्वेतकेतु और दीघतमा ऋषियों की कथा है। जिससे यह पता चलता है कि प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों का संबंध अनियमित था। इसे स्वस्थ्य और नियमित करने के लिए विवाह और कुटुंब की मर्यादा की स्थापना की गयी। विवाह व्यवस्था जब अपने संक्रमण अवस्था में गुज़र रही थी तब स्त्रियों

---

[167] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.140

की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। विवाह व्यवस्था की लोकप्रियता ने स्त्रियों को समाज के केंद्र में ला खड़ा किया। स्पेंसर विवाह के तीन उद्देश्य मानते हैं जिसमें पहला उद्देश्य मनुष्य समाज का अस्तित्व चीरकाल तक बना रहे, दूसरा उद्देश्य संतान सशक्त और अधिक हों और तीसरा उद्देश्य विवाहित स्त्री और पुरुष अपने माता–पिता की सेवा करेंगे।

रावसाहेब कसबे ने अपने निबंध 'स्त्री-सत्ता की पराजय और पुरुष सत्ता की विजय' में भी विवाह संस्था की आवश्यकता और उसकी महत्ता पर गंभीर विचार किया है। उन्होंने मानव सभ्यता के विकास में स्त्रियों की सत्ता में पुरुषों की स्थिति पर विचार किया है कि कैसे पुरुषों ने स्त्रियों से उनकी सत्ता छीनकर उन्हें गुलाम या यों कहें पत्नी बनाया। महाभारत का विश्लेषण करते हुए रावसाहेब कसबे ने लिखा है, "वास्तव में महाभारत विवाह-संस्था के महात्म्य को गाने वाला काव्य है। कुल की विरासत पुरुष के नाम से कैसे प्रस्थापित होती गई इसका यह इतिहास है। जब पुरुष संततिक्षम नहीं होते थे, तब कुल वृद्धि हेतु मनुष्य ने विवाह संस्था का कितना कुशल उपयोग कर लिया, महाभारत इसका ब्यौरा देनेवाला एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। यह धर्मसंस्था के उदय और उसकी शक्ति का अहसास कराने वाला धर्मग्रंथ है। यह प्राचीन समाज में नैतिक व्यवस्था के उद्गम और उसकी स्वीकृति के ब्यौरे को प्रतिबंधित करने वाला विशाल दर्पण है।"[168]

माधवराव सप्रे बालविवाह को भारत की ग़रीबी और उसके पिछड़ेपन का बड़ा कारण मानते हैं। उन्होंने बाल विवाह को स्त्रियों की स्वतंत्रता का हनन बताया है। बाल विवाह को राष्ट्र की उन्नति में बाधक भी कहा है क्योंकि इन कुरीतियों में देश की आधी आबादी असमय में ही वृद्ध होती जा रही है। देश की अवनति का प्रमुख कारण स्त्रियों के प्रति हमारा बर्ताव भी ज़िम्मेदार है। माधवराव सप्रे विवाह और उसकी परिस्थितियों पर विचार करते हुए लिखते हैं कि "पहले पहल स्त्रियाँ पुरुषों की मिल्कियत समझी जाती थीं अर्थात् उन्हें दासत्व में रहना

---

[168] वागर्थ, दिसम्बर 2010 पृष्ठ सं. 127

पड़ता था। इसके बाद उन्हें कुछ स्वतंत्रता मिली और स्वयंवर तथा एक पत्नीत्व के हक़ भी मिले। इसी समय स्त्रियों में ऐसे अनेक सद्गुणों का विकास हुआ कि जो राष्ट्रीय जीवन के लिए अत्यंत हितदायक हैं। अनंतर स्त्री पुरुषों का संबंध धार्मिक नियमों से मर्यादित कर दिया गया। इससे स्त्रियों के स्वत्वों की बहुत हानि हुई और हिन्दुस्तान में बाल विवाह की कुरीति जारी हुई।"[169]

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के कृषकों की हालत दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही है। ऐसे समय में ऐसा क्या किया जाए कि कृषकों के हालत में सुधार लाया जा सके ? जैसे प्रश्न का उत्तर माधवराव सप्रे को यूरोप के नार्वे देश में मिला, जो इन्हीं हालातों से लड़ते हुए अपने को स्थापित करने में सफल हुआ।

माधवराव सप्रे कृषकों की अंग्रेजी सरकार में बढ़ रही दुर्दशा को लेकर गंभीर थे। उन्होंने पाया की भारत में पड़ रहे सूखा और अच्छी पैदावार न मिलने के पीछे, किसानों का खेती के ज्ञान से अशिक्षित होना है। क्योंकि कुछ साल पहले नार्वे भी ऐसी ही समस्या से जूझ रहा था इसलिए उसने अपने यहाँ हर गाँव के स्कूलों में किसानों को खेती से संबंधित शिक्षा देना और लेना दोनों अनिवार्य कर दिया। जिससे बहुत जल्द ही नार्वे कृषि संबंधी उत्पादों में आत्मनिर्भर बन गया। यदि हमारी सरकार और पढ़े लिखे छात्र किसानों को शिक्षित करने में रुचि ले तो हमारे किसान भाईयों की उन्नति हो सकती है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "बिना त्याग के देश संपन्न न होगा, बांधव ज्ञानवान न होंगे और दरिद्रता का दूरीकरण न होगा। इसलिए दूसरों के सुख को ही अपना सुख मानकर, इस उद्योग में किसानों की शिक्षा में हाथ लगाना चाहिए, जिससे देश में सुख की सरिताएँ बहें, राजा-प्रजा सुखी होकर इहलोक तथा परलोक का कर्तव्य पालने में समर्थ हों।"[170]

---

[169] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.146

[170] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.155

माधवराव सप्रे ने यूरोप में आंशिक रूप से फीस लेकर छात्रों को उद्यमी बनाने वाली 'नेपल्स की कासानोवा नामक औद्योगिक शाला' की प्रशंसा की है। इसी नाम से अपने लेख में औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता पर विचार किया है। उन्होंने इस लेख में यूरोप की प्रारम्भिक स्थिति के बारे में बताया है कि मज़दूरों के बच्चे म्युनिसिपालिटी के स्कूलों से प्राथमिक विद्यालय तक पढ़ाई करके मज़दूरी करने लगते थे, न उनमें पढ़ने की ललक होती थी न अभिभावक पढ़ा ही सकता था। इसलिए इन बच्चों में न लेखन कला विकसित हो पाती थी न ही कोई रोजगार परक शिक्षा ही दी जा रही थी। इटली के नेपल्स नगर के एक परोपकारी व्यक्ति सिनोर आलफ्रान्जो डिला वेर्लीडि कासानोवा ने 1864 में म्युनिसिपालिटी के प्राथमिक विद्यालयों से निकले बच्चों को औद्योगिक शिक्षा देने के लिए 'कासानोवा औद्योगिक शाला' की स्थापना की। इस औद्योगिक शाला में शुरू में कारखाना और घर की शिक्षा का प्रबंध किया जो ज़्यादा लोकप्रिय न हुई इसलिए उन्होंने औद्योगिक शाला और गृह संबंधी शिक्षा एक ही स्थान में देने की व्यवस्था की जो बहुत लोकप्रिय हुई।

नेपल्स की म्युनिसिपालिटी ने औद्योगिक शाला के लिए अपनी एक ईमारत दे दी। इस प्रकार विधिवत रूप से औद्योगिक शाला की शुरूआत 1869 में हुई। 1880 तक इस शाला के छात्र विभिन्न प्रतियोगिताओं में सफल हुए जिससे सरकार ने इस शाला की प्रशंसा की और सब प्रकार की मदद देने का आश्वासन भी दिया। इस पाठशाला के फीस के बारे में माधवराव सप्रे लिखते हैं, "फीस बहुत ही कम ली जाती है, अर्थात् प्रत्येक छात्र से प्रतिमास केवल दस आने। यदि किसी छात्र का पिता यदि जीवित न हो या किसी का भाई शाला में पढ़ता हो, तो उससे आधी फीस ली जाती है। और यदि किसी के माँ बाप दोनों जीवित न हो तो उससे कुछ भी फीस नहीं ली जाती। शाला में छात्रों को हर महीने दस आने फीस देने के सिवा और किसी प्रकार का खर्च नहीं करना पड़ता।"[171]

171 सं. विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' - पृष्ठ सं.96

माधवराव सप्रे नेपल्स की कासानोवा की औद्योगिक शाला का इसलिए भी परिचय करवाते हैं जिससे कोई भारतीय ऐसा सामाजिक कार्य करने में अपना उत्साह दिखाए, जो हमारे समाज के लिए बहुत ज़रूरी है। भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली सरकारी बाबू बनाने में हितकर है जो कि गलत है। हमारी शिक्षा व्यवस्था भी औद्योगिक रूप से विकसित की जाये तो भारतीयों का लाभ हो।

माधवराव सप्रे अपने निबंध 'भौतिक प्रतिभा का फल' में यूरोपीय देशों के नवजागरण के केंद्र में मानवता वाली बात को नकारा है। यूरोपियों ने नवजागरण में अपने-अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में लगे रहे और लोगों को गुमराह करते रहे कि वे उनके यहाँ मानवता को स्थापित करने, उन्हें सभ्य बनाने आये हैं। यदि प्रथम विश्वयुद्ध न हुआ होता तो कोई न मानता कि यूरोप की मानवतावादी दर्शन में कोई जान नहीं है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "महायुद्ध के पहले जर्मनी एक अत्यंत सभ्य देश माना जाता था। परन्तु उसके सब सुधारों का निरीक्षण करने से मालूम हुआ है कि इस देश ने अपनी सभ्यता और उन्नति के विकास के लिए केवल भौतिक प्रभुता को ही अपना अंतिम साध्य समझा है। उसका जितना सामर्थ्य, वैभव और प्रभाव है वह सब शास्त्रों और यंत्र-कलाओं की शक्ति पर अवलंबित है। उसकी सभ्यता से आध्यात्मिक विचारों का और उदात्त नीतिमत्ता का कोई संबंध नहीं।"[172]

यही हाल तमाम यूरोपीय और अमेरिकी देशों का भी है। जब तक युद्ध नहीं हुआ था पूरे विश्व में (एशिया और अफ्रीका में) विद्वान इनके उदाहरण देते नहीं थकते थे। डार्विन ने जीव उत्पत्ति और उसके बने रहने पर एक सिद्धांत दिया था कि जो बलवान है वही पृथ्वी पर जीवित रह सकता है। यह सिद्धांत तो पशुओं के लिए था लेकिन इस महायुद्ध से यह सिद्धांत मानव योनियों पर भी लागू हो गया।

---

[172] सं. विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं.217

किसी भी देश की राष्ट्रीयता की हानि तब तक होती रहेगी जब तक वहाँ के लोगों को उनकी मातृभाषा में शिक्षा न दी जाए। किसी भी सभ्य देश में वहाँ के नागरिकों को अपने देश के साहित्य और संस्कृति से निश्चय ही परिचय करवाया जाता है। भारत में राष्ट्रीयता की उन्नति के लिए यहाँ के स्कूलों कालेजों यहाँ तक की विश्वविद्यालय की पढ़ाई भी मातृभाषा में होनी चाहिए। माधवराव सप्रे को लगता है कि यह कार्य उतना मुश्किल नहीं है जितना की हमारे लोग मान बैठे हैं। अंग्रेजी भाषा को बढ़ावा देने के लिए लार्ड हार्गिज के जारी अध्यादेश 'कि भारतीय शासन में वही नौकरी पा सकता है जो अंग्रेजी जानता है' को रद्द किए बिना देशी भाषाओं का उद्धार नहीं हो सकता। माधवराव सप्रे इस संदर्भ में एक जगह रूस की शिक्षा व्यवस्था पर लिखते हैं कि पहले रूस में विज्ञान की पढ़ाई फ्रेंच या जर्मन में ही संभव थी, पर वहाँ के प्रोफेसरों की दृढ़ इच्छा शक्ति ने विज्ञान को भी रूसी भाषा में पढ़ाना आसान कर दिया। पहले एक प्रोफ़ेसर ने पहल की फिर उनकी देखा-देखी अन्य प्रोफेसरों ने भी रूसी भाषा में पढ़ाना शुरू किया, अब वहाँ पढ़ने-पढ़ाने की भाषा मातृभाषा (रूसी) है, जो सब विषयों के अभिव्यक्तियों का माध्यम है।

राष्ट्रीयता की हानि में भाषा का कितना महत्त्व है यह गाँधी जी के इस कथन से मालूम होता है कि 'देशी भाषाओं की अवहेलना करने का यदि कुछ अर्थ हो सकता है तो वह केवल अपने हाथों से अपना राष्ट्रीय आत्मघात करना।' फिर भी भारतीयों में अपने नेताओं की बात पर न ध्यान देने का चलन बढ़ता ही जा रहा है। माधवराव सप्रे कहते हैं कि जहाँ आवश्यकता नहीं अर्थात् मुनीम या मालिक अपने निजी काम को भी अंग्रेजी में करते हैं। आज का भारत अपने ही देश में विदेशी बने फिर रहा है। गाँधी जी ने काँग्रेस की सभाओं में अपने खुद के भाषण हिन्दी में देने की बात करते हैं कि जो लोग हिन्दी न सीख पाएँगे वे मेरे भाषण से लाभ न उठा पाएँगे।

माधवराव सप्रे ने देशी भाषाओं के अभाव में भारतीय एकता में कितनी हानि हो रही है उसे कुछ बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया है -

1. हम लोगों में देशी भाषा के अभाव में व्यक्तित्व, आत्मत्व और स्वाभिमान जागृत नहीं हो पाता है, उलटा उसका नाश हो जाता है।

2. मातृभाषा और राष्ट्रीयता के विकास में परस्पर संबंध होता है।

3. प्राचीन समय में भारत में सुने हुए ज्ञान में ही शिक्षा दी जाती थी जो विदेशी भाषा के कारण संभव नहीं है।

4. अंग्रेजी भाषा में शिक्षित भारतीय ही अपनी मातृभाषा की गर्दन पर छूरी चलाने के लिए उद्धत हैं।

5. अंग्रेजी भाषा को महत्त्व देने के कारण हमारे देशी भाषा-संस्कृत के विद्वान मौलवी और पंडित बेकार हुए फिर रहे हैं।

6. मिश्रित भाषा बोलने के लिए बंबई में पारसी, गुजराती और बँगाली अधिक बदनाम है।

माधवराव सप्रे ने गोपाल गणेश आगरकर की जीवनी पर एक निबंध लिखा जो अभाव में बसर करने वाले छात्रों के लिए निश्चय ही प्रेरणा दायक है। क्योंकि स्वयं आगरकर भी अभाव से संघर्ष करते हुए एक उच्च जीवन दर्शन को प्राप्त किये थे। आगरकर अपने जीवन काल में ही कितनों युवाओं के आदर्श हुए। आगरकर जी समाज में परिवर्तन लाने के लिए प्रतिबद्ध थे, उन्होंने 'सुधारक' नामक पत्रिका में भारतीय परंपराओं, कुरीतियों, रूढ़ियों, अंधविश्वासों पर लिखकर बदलाव की ज़रूरत को महसूस कर रहे थे। उन्हें यह पता था कि सदियों से चली आ रही परम्परा इतनी जल्दी नहीं टूटेगी पर एक जागरूक शिक्षक, संपादक होने के नाते वे लेखन कार्य में लगे रहे। कई रूढ़िवादियों ने उनका खून कर देने संबंधी चिठ्ठी तक भेजी, पर आगरकर के मनोबल को कोई तोड़ न सका। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "आगरकर निर्भय लेखक थे। इसलिए उनके धर्म-विषयक लेखों से जनता में खलबली सी

मच जाती थी। कभी-कभी यह खलबली इतनी अधिक हो जाती थी कि लोग उनके पास धमकी के पत्र भेज देते, जिनमें लिखा होता कि हम तुम्हारा खून करेंगे।"[173]

माधवराव सप्रे अपने निबंध 'पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं में विभिन्नता, तथा स्वदेशी साहित्य के महत्त्व' में यूरोपीय अमेरिकी सभ्यता के हौवा को तोड़ते हुए अपने देश और उसके साहित्य पर भरोसा जताया है। किसी भी जाति की जिजीविषा उसकी भाषा और साहित्य में होती है जहाँ से वह ऊर्जा प्राप्त करती है। यहाँ तो अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से भारतीय भाषा और साहित्य को शिक्षा व्यवस्था में स्थान न देते हुए अंग्रेजी भाषा और साहित्य को स्थापित कर दिया है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "किसी राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का ज्ञान होने के लिए उसके साहित्य, आचार-विचार, शिक्षा-पद्धति, धर्मतत्त्व, गृह जीवन, नेता समाज, आदर्श आकांक्षा आदि बातों का जान लेना परम आवश्यक है।"[174]

भारत की एक राष्ट्रीयता पर पाश्चात्य विद्वानों ने पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर खूब विचार किया, लगभग सभी विचारकों का यह मानना है कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। माधवराव सप्रे ऐसे प्रायोजित निष्कर्ष पर खेद प्रगट करते हुए बताते हैं कि ऐसे निष्कर्ष, लेख तभी प्रकाशित होने लगते हैं; जब भारतीय एक होकर अपनी उन्नति का मार्ग बना रहे होते हैं। इससे साफ़ पता चलता है कि ये निष्कर्ष कितने ख्याली हैं और इसमें हमें एक न होने देने की मंशा भी स्पष्ट परिलक्षित होती है।

भारतीयता के प्रति प्रतिबद्ध विचारक इसलिए भी इनका विरोध नहीं कर पाते क्योंकि हमारे इतिहास ग्रन्थ भी आज के हैं और सभी निष्कर्ष इन्हीं अंग्रेज विचारकों के हैं। भारतीयों में इतिहास के प्रति लगाव नहीं था ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारत का इतिहास कई सौ सालों तक आक्रान्ताओं की आग में झुलसा है, हो सकता है कि उपलब्ध इतिहास ग्रन्थ उन्हीं आक्रान्ताओं की क्रूरता की भेट चढ़ गया हो। माधवराव सप्रे बताते हैं कि भारतीय

---

[173] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' सं. पृष्ठ सं.241

[174] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' सं. पृष्ठ सं.247

शासक भी अपने इतिहास लिखने और लिखवाने के प्रति बहुत उदासीन रहे । कोई-कोई शासक तो ऐसे भी थे कि अपने शासन काल में इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित करने को मना ही कर रखे थे । ऐसी प्रवृत्ति औरंगजेब के यहाँ मिलती है, हो सकता है कि यह प्रवृत्ति इसके पूर्ववर्ती सम्राटों में भी रही हो ।

माधवराव सप्रे समाज में राष्ट्र के प्रति फैलाये जा रहे भ्रम को दूर करते हुए इतिहास लेखन की विभिन्न विधियों और उनके उपयोग से कैसे इतिहास लिखा जाता है, जैसे विषय पर स्वतंत्र निबंध लिखकर लोगों को जागरूक करते हैं । माधवराव सप्रे को अंग्रेजों के इतिहास लेखन पर विश्वास नहीं है । लोगों में इतिहास को लेकर फैलाये जा रहे भ्रम को इतिहास लेखन से ही दूर किया जा सकता है । वे इतिहास लिखने में दो तरह से तथ्यों को जुटाने की बात करते हैं पहला अलिखित जिसमें सामाजिक परम्पराएँ, संस्कृति किंवदंतियाँ आदि आती हैं तो दूसरे में लिखित सामग्री जिसमें अभिलेख, धार्मिक ग्रन्थ-साहित्य और ऐतिहासिक ग्रन्थ आते हैं । माधवराव सप्रे भारत को एक राष्ट्र के रूप में मानते हैं, वे अपने निबंध 'भारत की एक-राष्ट्रीयता' में लिखते हैं, "यह बात तो सिद्ध ही है कि शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में कुछ न कुछ विशेषता या भिन्नता होती ही है; परन्तु उन सबके मेल से ही हमारा शरीर बनता है । उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों के हिन्दू हमारे हिन्दू-राष्ट्र-रूपी शरीर के अवयव हैं और उन सब से मिल कर यह हिन्दूराष्ट्र बना है । क्या आक्षेप करने वाले कोई विद्वान महाशय आतंरिक एकता-सूचक इन सब बातों को समझ लेने पर यह कहने का साहस कर सकते हैं कि हिन्दुओं में एकता नहीं है अथवा वे 'राष्ट्र' संज्ञा के पात्र नहीं ।"[175]

ऐसा नहीं है कि माधवराव सप्रे मुस्लिम विरोधी हैं, यहाँ देश की एकता पर बात करते हुए उन्होंने प्राचीन समय से भारत को एक हिन्दूराष्ट्र कहा है । माधवराव सप्रे अपने विभिन्न निबंधों में भारत और उसकी भारतीयता को बचाए रखने की बात करते हैं । यहाँ मुझे एक

---

[175] सं. विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन'- पृष्ठ सं.263 -64

उद्धरण देना अनिवार्य लगता है कि कहीं कोई माधवराव सप्रे को हिन्दूवादी न कह दे । मुसलमानों के विषय में 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट' में उन्होंने लिखा है, "मुसलमानों के समय में जब यह देश पराधीन हुआ था, तब सिर्फ हमारी राजसत्ता छीन ली गयी थी - तब हमारा व्यापार हमारे ही हाथ में था, वह नष्ट नहीं हुआ था; परन्तु अंग्रेजों के राज में हमारी राजसत्ता के साथ ही व्यापार का भी सर्वथा नाश हो गया।"[176]

माधवराव सप्रे ब्रिटिश सरकार के प्रमुख अंग न्यायालय की स्वायत्तता पर सवाल खड़ा करते हैं कि उसके विलम्ब से आते न्याय में लगे समय और पैसे की बर्बादी से अंग्रेजी न्यायालय पर किसी को भरोसा नहीं है क्योंकि आजकल न्याय उन्हीं को मिल पाता है जो अमीर हैं। माधवराव सप्रे एक अंग्रेज अधिकारी मिस्टर फील्डिंग के अनुभव को साझा करते हैं, "अदालतों की पद्धति सिर से पैर तक दूषित है। उनका मूल तत्त्व ही गलत है। उनके अन्वेषण तथा तहकीकात का सिद्धांत क्या है ? क्या वे सत्य का पता लगाती हैं ? क्या जो कुछ हुआ हो उसकी खोज निष्पक्ष रीति से करती है ? कभी नहीं।"[177]

माधवराव सप्रे के 'आत्मा का अमरत्व' और 'मन को मापन' नामक ये दो निबंध विशुद्ध मनोवैज्ञानिक हैं। इन निबंधों का उद्देश्य समाज की आने वाली पीढ़ियों को पढ़ने और याद रखने के तरीकों के बारे में बताया गया है। उन्होंने इस मिथ को तोड़ा है कि इंसान एक खास उम्र तक ही कुछ सीख सकता है। माधवराव सप्रे का मानना है कि इंसान जब तक स्वस्थ है तब तक वह कुछ न कुछ सीख सकता है बशर्ते उसमें सीखने की लालसा हो।

माधवराव सप्रे अपने 'आत्मा का अमरत्व' निबंध में मनोविज्ञान की विभिन्न क्रियाओं का विश्लेषण मनोविज्ञान के बड़े-बड़े आचार्यों जैसे– लाक, कैट और गायो के आलोक में करते हैं। माधवराव सप्रे मनोविज्ञान का बीज रूप साक्रेटीस और शंकराचार्य के

[176] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं. 54
[177] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं.279

यहाँ देखते हैं । उनके अनुसार साक्रेटीस का वाक्य Know Theyself (तुम अपने को पहचानों) और शंकराचार्य का उपदेश –'आत्मानं बिद्धि' एक ही अर्थ बताते हैं।

माधवराव सप्रे इस निबंध में मनुष्य के विभिन्न अवस्थाओं पर विचार करते हैं। जब कोई मनुष्य उन्माद अवस्था में होता है, तब उसकी नित्य और पूर्व की चेतना कि मैं कौन हूँ ? उस समय याद नहीं रहती। उन्माद–अवस्था में मनुष्य अपने पूर्व अनुभव भूल जाता है और कुछ अपूर्व अनुभव ग्रहण और व्यक्त करता है। मनुष्य का शरीर भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न - भिन्न क्रिया करता है। ऐसे ही एक घटना जो 'पाईपर' नामक स्त्री पर घटित होती है। जिसका अध्ययन करके विभिन्न विद्वानों ने यह माना कि आत्मा या भूत जैसी कुछ चीज़ होती है तभी तो वह औरत जिनसे कभी न मिली थी उनके बारे में सब कुछ बता देती थी। और बेहोशी की अवस्था में लिख भी देती थी। माधवराव सप्रे पाश्चात्य शिक्षा की ज़रूरतों पर लिखते हैं कि, "अब तक हम लोग अपने पूर्वजों की कमाई हुई पूँजी पर ही अपना निर्वाह करते रहे हैं पर यह न भूलना चाहिए कि प्राचीन संचय पर ही हम लोग सदा अपना निर्वाह न कर सकेंगे। इस समय पश्चिमी देशों में ज्ञान की प्राप्ति, वृद्धि और उन्नति के लिए अनेक यत्न किए जा रहे हैं। यदि हम लोगों को इस दुनियाँ में अपना भी नाम कायम रखना है तो केवल प्राचीन पूँजी की कीर्ति पर ही संतोष न करके हमें भी कुछ काम कर दिखाना चाहिए। प्राचीन ज्ञान के कोरे अभिमान से काम न चलेगा।"[178]

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि माधवराव सप्रे अपने समय के उन बहुत कम लेखकों में थे जो अंग्रेजी भाषा में छपी किताब और लेखों से अपने हिन्दी भाषी पाठकों को परिचित करा रहे थे और उनका समुचित ज्ञान बढ़ाने में सक्रिय थे। उन्होंने समाज की विविध अवस्थाओं को समाजशास्त्रियों के माध्यम से लोगों को परिचित कराया है, साथ ही सामाजिकता में आने वाली बाधाओं से भी लोगों को सजग करते हैं। माधवराव सप्रे के

[178] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन'- पृष्ठ सं.113

सामाजिक चिंतन में भाषा, साहित्य, विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और औद्योगिक शिक्षा का बहुत ही महत्त्व है।

**3.3 माधवराव सप्रे का राजनीतिक चिन्तन** :

माधवराव सप्रे की रचनाएँ राजनीतिक चेतना से ओत-प्रोत हैं। उनका निजी संबंध तत्कालीन बड़े-बड़े नेताओं से रहा है। वे काँग्रेस सम्मेलनों में भाग लेते रहे। 1921 के नागपुर में काँग्रेस अधिवेशन के लिए माधवराव सप्रे ने प्रान्त भर से चंदा इकट्ठा कर पांच हजार रुपया जमा करवाया था। माधवराव सप्रे 'हिन्दी ग्रंथमाला' के अंतर्गत 1906 में 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट' का प्रकाशन करवाया जिसकी साहित्य जगत में प्रशंसा हुई। अंग्रेज सरकार ने उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए 1909 में उनकी किताब 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट' को प्रतिबंधित कर दिया था।

माधवराव सप्रे राजनीतिक रूप से तिलक से प्रभावित थे, उनकी 'केसरी' पत्रिका से प्रभावित माधवराव सप्रे ने हिन्दी में 'हिन्दी केसरी' निकलना शुरू किया। इस पत्रिका में छपे इनके लेखों के लिए 21 अगस्त 1908 को अंग्रेज सरकार ने इन पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया। घर के दबाव में उन्हें सरकार से माफ़ी मांगनी पड़ी। जिसे लोगों ने कहा कि सप्रे अपने सामाजिक जीवन की हत्या कर डाले ! उन्होंने अपने इस निर्णय के आत्मग्लानि में कुछ साल तक सामाजिक जीवन से सन्यास ले लिया और परांजपे से शिक्षा लेकर एकांतवास में रहने लगे। एकांतवास में रहते हुए उन्होंने 'दासबोध' का अनुवाद किया। करीब आठ साल बाद माधवराव सप्रे ने जबलपुर में आयोजित भारतीय सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मलेन से (5 नवंबर 1916 को) पुन: सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया।

माधवराव सप्रे की 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट' नामक किताब तत्कालीन भारतीय राजनीति का खांका खींचने में समर्थ है। उस समय के बँगाल विभाजन के विरोध में

उठी भारतीय जनता कब एकता के सूत्र में बंध गयी ? जैसे प्रश्नों का उत्तर इस किताब में है और साथ ही स्पष्ट रूप से बताया भी है कि भारत में राजनीतिक एकता को स्थापित करने में स्वदेशी आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। माधवराव सप्रे ने लिखा है, "राजनीति का यह तत्त्व सर्वमान्य है कि जिन लोगों की भाषा एक है, जिन लोगों के आचार-विचार एक है, जो लोग सैकड़ों वर्षों से एक प्रान्त में रहने के कारण एकत्र हैं, वे यदि एक लेफ्टिनेंट गवर्नर या एक गवर्नर की शासन-सत्ता के अधीन रखे जाएँ, तो उन लोगों की उन्नति होगी, उन लोगों में जातीयता और एक राष्ट्रीयता की कल्पना दृढ़ होगी।"[179]

लार्ड कर्जन बँगाल विभाजन से पहले वहाँ विकसित हो रही जातीय एकता से आतंकित थे। अंग्रेजी शासन और इतिहास पढ़े बँगाली एक होकर अपनी मांगों को अंग्रेज सरकार के सामने रखना सीख गए थे। लार्ड कर्जन ने सोचा इनकी एकता अंग्रेजी शासन के लिए भविष्य में ख़तरा बन सकती है इसलिए उसने बँगाल का विभाजन कर दिया। बँगाल विभाजन से उत्पन्न आन्दोलन को भारी जनसमर्थन मिला जिससे भारतीयता की भावना को मज़बूती मिली।

अपनी माँगों को सरकार से मनवाने के लिए भारत में पहली बार बायकॉट का प्रयोग स्वदेशी आन्दोलन में हुआ। माधवराव सप्रे इस बायकॉट को राजनीतिक ज़रूरत बताते हैं और इतिहास में बायकॉट से हुए बड़े-बड़े बदलावों के बारे में भी बताते हैं कि किस तरह अमेरिका ने 1765-66 में विदेशी वस्तु अर्थात् इंग्लैण्ड की बनी वस्तुओं का बायकॉट शुरू किया जिससे इंग्लैण्ड को भारी नुकसान उठाना पड़ा और धीरे-धीरे अमेरिका पर से अंग्रेजों की पकड़ ढीली पड़ती गयी। बायकॉट का उपयोग इटली और चीन में भी देखा गया है वहाँ भी सकारात्मक परिणाम देखने को मिले हैं।

---

[179] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ पृष्ठ सं. 45

माधवराव सप्रे बायकॉट को ही बाहरी ताकत से लड़ने का कारगर हथियार मानते हैं। भारत में विदेशी शासन है। यह सरकार इस देश को एक बड़ा कारख़ाना और यहाँ के नागरिकों को मज़दूर मानती है। मज़दूरों का इतिहास रहा है कि बिना हड़ताल के उन्हें कंपनी मालिक से अपने श्रम का उचित मूल्य नहीं मिला है। माधवराव सप्रे इस स्थिति को और स्पष्ट करते हुए अपने 'हड़ताल' निबंध में लिखा है, "यदि यह कहा जाए कि इस देश की गवर्नमेंट एक बड़े भारी कारखाने की मालिक है, तो अतिशयोक्ति न होगी। जब इस प्रकार के मालिक के मज़दूर, पेटभर भोजन पाने और सुख से रहने का दावा करते हैं, और जब राजसत्ता से वह दावा नामंजूर किया जाता है, तब वह केवल अर्थशास्त्र का विषय नहीं रह जाता; उस समय केवल अर्थशास्त्र के साधारण नियमों का अवलंबन करने से कुछ लाभ नहीं होता। ऐसी दशा में अन्य उपायों का अवलंबन करना पड़ता है, जिनका वर्णन इंग्लैण्ड या यूरोप के अन्य देशों के इतिहास में किया गया है।"[180]

माधवराव सप्रे अपने समय के आन्दोलन और उसकी प्रकृति से बखूबी वाकिफ़ थे। उन्हें डर था कि कहीं यह 'स्वदेशी आन्दोलन' भी अन्य आन्दोलनों की तरह जल्दी ही समाप्त न हो जाए। इस आन्दोलन को व्यापक जन समर्थन दिलाने के लिए उन्होंने छात्रों, नेताओं और भारतीय उद्योगपतियों से इस आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचाने के लिए पम्पलेट को फ्री में जनता में (स्वदेशी आन्दोलन के महत्त्व से संदर्भित) बांटने का आग्रह करते हैं। जिससे अन्य प्रदेशों के लोग भी इस आन्दोलन के बारे में जान सके और इसका समर्थन कर सकें। माधवराव सप्रे स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेने वाले छात्रों को रोकने वाले गुरुओं को खरी खोटी सुनाते हैं और इन्हें वेतन भोगी गुरु कहते हैं। 'पहले के गुरु हुआ करते थे जो अपने शिष्यों को अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए शिक्षा देते थे। क्या ये अंग्रेज गुरु किसी भारतीय के गुरु हो सकते हैं ? यदि इन अंग्रेजों के यहाँ ऐसी कोई परिस्थिति आती जहाँ उनका

---

180 प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.159

राष्ट्र ख़तरे में होता तो क्या ये स्कूलों में जाकर बच्चों को पढ़ाते ? ये अंग्रेज गुरु अंग्रेजी शासन के पोषक हैं, ये कभी न चाहेंगे कि कोई भी किसी भी प्रकार से अंग्रेजी सरकार के ख़िलाफ़ आवाज उठाये।'

स्वदेशी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए भारी जन समर्थन उठ खड़ा हुआ। लोगों में इस आंदोलन को लेकर बड़ा आकर्षण था। जिससे बड़े-बड़े विचारक इस आन्दोलन के भविष्य के महत्त्व पर विचार करने लगे। एक अंग्रेजी अख़बार के आक्षेपों के बारे में माधवराव सप्रे ने लिखा है कि, "गोरे अखबारों का यह आक्षेप है कि जिस आन्दोलन की उत्पत्ति बंग-भंग जैसे क्षुद्र और क्षणिक विषय से हुई है, वह चिरस्थाई कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि इस आन्दोलन का बीज बंग-भंग के पूर्व ही इस देश में बोया गया था। वह बीज रूप में पहले ही उपस्थित था। बंग-भंग के कारण उसको गति प्राप्त हुई बंग-भंग के कारण उस बीज रूपी आन्दोलन का अंकुर सब देश में उग आया।"[181]

अंग्रेजों के आर्थिक दोहन से भारतीय जनता दिन प्रतिदिन दरिद्र होती जा रही थी, जिसको सिद्धांत रूप में दादा भाई नौरोजी ने अपनी किताब 'पावर्टी ऐंड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में रेखांकित किया है। उस समय धन निष्कासन का सिद्धांत किसी भी भारतीय को उद्वेलित करने के लिए बहुत था। माधवराव सप्रे ने अंग्रेजों के आर्थिक दोहन पर अपनी किताब 'स्वदेशी आंदोलन और बायकॉट' में संकलित एक निबंध में लिखते हैं, "अंग्रेज व्यापारी हर साल तीस करोड़ का कपड़ा इस देश में बेचकर हमारा धन लूट ले जाते हैं। क्या इस बात से हमारा जी नहीं जलना चाहिए?...यदि स्वदेशी वस्तु के संबंध में प्रेम उत्पन्न होकर उसकी माँग ही न बढ़ेगी तो बड़ी-बड़ी मिले और नए-नए कारखाने किस प्रकार खुल सकेंगे?...जब हमारे पूँजीपतियों को इस बात का दृढ़ विश्वास हो जाएगा कि हम लोगों ने

[181] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ', 59

विदेशी वस्तु का त्याग कर दिया है, तब वे लोग बड़ी-बड़ी मिले और नए-नए कारखाने खोलने में एक भी दिन का विलंब न करेंगे।"[182]

1900 के दशक में काँग्रेस की जनपक्षधरता और उसकी लोकप्रियता से घबराए अंग्रेजों को यह लगने लगा कि स्वदेशी आंदोलन पूरे भारत को एकता के सूत्र में बांधने में सफल रहा है। कुछ भारतीयों को फिर भी यह एहसास नहीं हुआ है कि वे भारतीय स्वतंत्रता के लिए एक ठोस कदम बढ़ाये हैं। माधवराव सप्रे भारतीय राजनीति में काँग्रेस पर विश्वास करते हैं और उनके कार्यों के बारे में लिखते हैं, "अर्थात् काँग्रेस का प्रधान हेतु राजनीतिक विषयों की चर्चा करने और राजनीतिक हक़ प्राप्त करने का है। स्मरण रहे कि राजनीतिक आन्दोलन करने में काँग्रेस ने इस देश की औद्योगिक और आर्थिक दशा पर दुर्लक्ष नहीं किया। उसने इस देश की आर्थिक उन्नति के संबंध में भी अनेक उत्तमोत्तम प्रस्ताव किए हैं। चार-पांच वर्षों से काँग्रेस के साथ-साथ देशी कारीगरी और कला कुशलता की एक प्रदर्शनी भी हर साल लगायी जाती है। गतवर्ष काँग्रेस के समय काशी में एक औद्योगिक परिषद भी स्थापित हुई है।"[183]

माधवराव सप्रे का पूरा साहित्य राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का पुंज है। उनके पूरे साहित्य का विषय भारतीयों को समय रहते जगाकर देशहित में काम करने को उद्वेलित करना है जिसका स्पष्ट संकेत इनके विभिन्न निबंधों और उनके खुद के जीवन संघर्ष में देखा जा सकता है। उन्होंने अपने निबंधों के माध्यम से लोगों को राजनीतिक परिवर्तनों और उसके झूठ को परिचित कराया है। माधवराव सप्रे को एक समाजसेवी राजनीतिक विचारक कहना अतिशयोक्ति न होगी।

माधवराव सप्रे में एक बड़े कथाकार का गुण था 'एक टोकरी भर मिट्टी' इसका अच्छा उदाहरण है। उन्होंने एक जागरूक रचनाकार का निर्वाह करते हुए अपने समय के विभिन्न

---

[182] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ', पृष्ठ सं. 64
[183] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ',- पृष्ठ सं. 69

राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों को अपने लेख का विषय बनाया । कथा हमेशा जीवित रहती है पर लेख अपने एक समय में प्रासंगिक होते हैं बाद में समय और परिस्थितियों के बदलते ही उन लेखों का महत्त्व नहीं रह जाता । माधवराव सप्रे के निबंधों का विषय भले ही राजनीतिक हलचलों से प्रेरित था पर वह अख़बारी आलेख न थे, उनके निबंध वैचारिक और ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध बातों को प्रेषित करते हैं । जिससे उनके निबंध हमेशा प्रासंगिक रहेंगे जैसे 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें', 'हमारे सामाजिक ह्रास के कारण', 'स्त्रियाँ और राष्ट्र', 'किसानों की शिक्षा', 'हड़ताल', 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट', 'इंग्लैण्ड की व्यापार नीति', 'भौतिक प्रभुता के फल' आदि निबंध अपने सामाजिक, राजनीतिक सरोकारों से हमेशा प्रासंगिक रहेंगे ।

माधवराव सप्रे ने 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य कुछ बातें' में आधुनिक यूरोप और अमेरिका के इतिहास का विश्लेषण कर वहाँ की राजनीति की दशा और दिशा पर विचार किया है । माधवराव सप्रे अपने एक लेख 'हमारी सहायता कौन करेगा' में यूरोपीय किंवदंतियों के माध्यम से यह बताते हैं कि सभी लोगों को अपनी परेशानी का हल स्वयं ढूँढ़ना होगा और उससे लड़ना भी होगा, तब भगवान भी सुनेंगे । किसी देश की उन्नति वहाँ की सरकार नहीं बल्कि वहाँ की जनता करती है । सरकार तो बस अपनी जनता की जान-माल की हिफ़ाज़त करती है । बात–बात पर सरकार से सहायता की इच्छा रखना हमें और हमारी उद्यमी मन को पंगु बना देगा । इसी सन्दर्भ में माधवराव सप्रे अंग्रेजों के संघर्ष और उसके विकास की घटना को बताते हैं कि, "अंग्रेज जाति ने अपनी उन्नति के लिए स्वयं ही यत्न किया है । बड़े-बड़े संकटों से घिरे रहने पर भी अंग्रेजों ने स्वावलंब द्वारा आत्मोन्नति करने का अपना उद्देश्य नहीं छोड़ा । यहाँ तक की स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन लोगों ने प्रज्वलित अग्नि कुंड में जलकर भस्म हो जाना स्वीकार कर लिया, परन्तु स्वावलंबन के मार्ग से वे कदापि च्युत नहीं हुए । इस गुण का अनुवांशिक संस्कार इस जाति में इतना प्रबल हो गया कि

प्रत्येक व्यक्ति ने स्वावलंबन ही को अपने जीवन का प्रधान उद्देश्य बना लिया है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस जाति में प्रत्येक मनुष्य स्वावलंबन द्वारा आत्मोन्नति करना ही अपना पवित्र कर्तव्य समझता है, वह जाति सभ्यता, सुधार और वैभव की चोटी पर जा पहुँचे और उसके राज्य का इतना विस्तार हो जाए कि उस पर 'सूर्य का अस्त' कभी न हो।"[184]

भारत एक कृषि प्रधान देश है, यह तभी तरक्की कर सकता है जब यहाँ का किसान बढ़ेगा। भारत में अत्यधिक उपजाऊ भूमि और श्रमशील लोगों के होने के बावजूद आख़िर क्यों किसान बदहाल हैं ? माधवराव सप्रे किसानों की बदहाली का कारण खेती की उचित शिक्षा और ज्ञान के अभाव को मानते हैं और इसकी ज़िम्मेदार सरकार। क्योंकि सरकार की अनिच्छा से ही किसानों की उन्नति और देश उन्नति अवरुद्ध है। माधवराव सप्रे अपने 'हड़ताल' नामक लेख में कंपनी सरकार की प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि, "मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने नफ़े का हिस्सा किसी दूसरे को देना नहीं चाहता। जो पूँजीवाले अपनी पूँजी लगाकर, बड़े-बड़े व्यवसाय करते हैं, वे यही चाहते हैं कि सब नफ़ा अपने ही हाथों में बना रहे, जिन मज़दूरों के श्रम से व्यवसाय किया जाता है, उनको उस नफ़े का कुछ भी हिस्सा न मिले। इसी को अर्थशास्त्र में 'पूँजी और श्रम का हित विरोध' कहते हैं।"[185]

माधवराव सप्रे एक संस्थापक और व्यवस्थापक भी रहे हैं। वे अपने समय की कई बड़ी पत्रिकाओं से जुड़े रहे हैं। उनमें से कुछ का संपादन भी किया जिनमें 'छतीसगढ़ मित्र', 'हिन्दी चित्रमाला', 'हिन्दी ग्रंथमाला' और 'हिन्दी केसरी' है। अपने विद्रोही चेतना के कारण इन पर राजद्रोह का मुक़दमा तक चला और इनकी किताब भी प्रतिबंधित हुई। माधवराव सप्रे ने असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। देवी प्रसाद वर्मा लिखते हैं "रायपुर आकर उन्होंने असहयोग आंदोलन का व्यापक समर्थन किया। उन्होंने अपने दोनों लड़कों को

---

[184] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.139

[185] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. पृष्ठ सं.157

गवर्नमेंट हाई स्कूल से निकाल लिया। हेड मास्टर ने बहुत कहा, पर वे अडिग रहे। उन्होंने रायपुर में 'राष्ट्रीय विद्यालय' की स्थापना की। साथ ही 'जानकी देवी महिला पाठशाला' की भी स्थापना की। उन्होंने 'हिन्दू अनाथालय' के लिए भी बहुत काम किया। ये संस्थाएँ आज भी रायपुर में सक्रिय हैं।"[186]

माधवराव सप्रे की राजनीतिक प्रतिबद्धता के चलते उनसे जुड़े लोगों ने भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और सबने उनका मुक्तकंठ से प्रशंसा भी की है। कुछ ने तो माधवराव सप्रे को अपना राजनीतिक गुरु भी कहा है। संतोष कुमार शुक्ल ने माधवराव सप्रे के बारे में ठीक ही लिखा है- "रविशंकर शुक्ल, सेठ गोविन्ददास, गांधीवादी चिंतक सुंदरलाल शर्मा, द्वारिकाप्रसाद मिश्र, माखनलाल चतुर्वेदी, लक्ष्मीधर वाजपेयी, लल्लीप्रसाद पांडे, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, मावली प्रसाद श्रीवास्तव प्रभृत अनेक हिन्दी-सेवियों को उन्होंने सदैव सेवा के लिए प्रेरित एवं अनुप्राणित किया।"[187]

माधवराव सप्रे दृढ़ इच्छा शक्ति के धनी थे। उन्होंने जब परिवार के दबाव में आकर अंग्रेज सरकार से माफ़ी माँग ली थी तब से उन्होंने अपने को दंड देते हुए प्रतिज्ञा ली कि वह शेष ज़िंदगी में कभी भी पैर में जूता और सर पर पगड़ी नहीं पहनेंगे और उन्होंने इस प्रतिज्ञा का पालन दृढ़ता से किया। माधवराव सप्रे के रहन–सहन और उनकी सादगी लोगों को आकर्षित करने वाली थी, इस पर किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा है, "सप्रेजी सादगी की मूर्ति थे और सौम्यता के अवतार। प्रसन्नता तो मनो आपके ही हिस्से में पड़ी थी। क्रोध का आप में प्राय: अभाव ही था। मान प्रतिष्ठा की आपको जरा भी लालसा न थी। सादा रहन-सहन और ऊँचे विचारों के आप केंद्र थे। खद्दर का सादा कुरता और धोती, बस यही आपका परिधान था। मैंने सदा आपको रायपुर में नंगे सिर सब जगह देखा। हाँ, जाड़े के दिनों में बंद गले का कोट पहनते थे। ऐसा याद पड़ता है कि जब खूब जाड़ा पड़ने लगता था तब शायद आप जूते भी

---

[186] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं. 33
[187] संतोष कुमार शुक्ल, 'पत्रकारिता के युग निर्माता : माधवराव सप्रे' पृष्ठ सं.34

पहनने लगते थे। इससे साफ़ प्रकट है कि कपड़े और जूते आदि उपयोग की दृष्टि से पहनते थे, दिखावे के लिए नहीं।"[188]

## 3.4 माधवराव सप्रे का आर्थिक चिंतन :

माधवराव सप्रे भारत की आर्थिक परिस्थितियों पर विचार करने वाले हिन्दी भाषी विचारकों में अग्रणीय हैं। उनके समकालीन महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक अर्थशास्त्र संबंधी किताब लिखी पर उस किताब का मूल आधार माधवराव सप्रे की अर्थशास्त्र संबंधी पांडुलिपि है। माधवराव सप्रे ने उस पांडुलिपि को छपवाना इसलिए भी नहीं चाहा कि कोई क्यों इतनी बड़ी सैद्धांतिक पुस्तक को पढ़ेगा ? जो अर्थशास्त्र संबंधी किताब को पढ़ने में रुचि रखता है, वह तो निश्चय ही बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों की किताब पढ़ ही लेगा। माधवराव सप्रे ने 'इंग्लैण्ड की व्यापार नीति' को और स्पष्ट करना चाहा, निबंध कहीं अधिक बड़ा और उबाऊ न हो जाए इसलिए उन्होंने सिर्फ छोटा निबंध लिखकर ही संतोष किया है। वे उसी निबंध में लिखते हैं, 'यदि हम संक्षेप में भी उसका सार देना चाहें तो एक स्वतंत्र पुस्तक लिखनी होगी। उस पुस्तक को कोई पढ़ेगा या नहीं, इसके संबंध में शंका ही है !' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'संपत्ति शास्त्र' की भूमिका में सप्रे जी की एक अप्रकाशित किताब का जिक्र करते हैं जो अब कभी न उपलब्ध होगी। महावीर द्विवेदी लिखते हैं, "सम्पत्तिशास्त्र-विषयक पुस्तकों के प्रकाशित किए जाने की लोगों को ज़रूरत मालूम होने लगी है। इस ज़रूरत को पूरा करने- इस अभाव को दूर करने की, जहाँ तक हम जानते हैं, सबसे पहले पंडित माधवराव सप्रे, बी. ए. ने चेष्टा की। हिन्दी में अर्थशास्त्र संबंधी एक पुस्तक लिखे आपको बहुत दिन हुए। परंतु पुस्तक आपके मन की न होने के कारण उसे प्रकाशित करना आपने उचित नहीं समझा। ...आपको जब हमने लिखा कि संपत्तिशास्त्र पर हम एक

---

[188] संतोष कुमार शुक्ल 'पत्रकारिता के युग निर्माता : माधवराव सप्रे' पृष्ठ सं.30

पुस्तक लिखने का इरादा रखते हैं तब आपने प्रसन्नता प्रकट की और अपनी हस्तलिखित पुस्तक हमें भेज दी उससे हमने बहुत लाभ उठाया।"[189]

महावीर प्रसाद द्विवेदी को जिन गुणों के कारण हिन्दी साहित्य में एक युग प्रवर्तक माना जाता है, वे हैं- एक पत्रकार, आर्थिक विचारक, भाषा सुधार और वैज्ञानिक लेखों के अनुवादक आदि। यह सारे गुण मराठी मूल के हिन्दी सेवी माधवराव सप्रे के यहाँ भी मिलते हैं। माधवराव सप्रे ने वैज्ञानिक शोध कार्य पर तो नहीं लिखा है, पर उन्होंने मनोविज्ञान में हो रहे शोध कार्य पर कलम चलायी है। माधवराव सप्रे 'नागरी प्रचारिणी सभा' के हिन्दी कोश के अंतर्गत अर्थशास्त्र संबंधी शब्दावली के संपादक थे और महावीर प्रसाद द्विवेदी दर्शनशास्त्र संबंधी शब्दावलियों के संपादक। डॉ. देवीप्रसाद वर्मा के संपादन में निकली 'माधवराव सप्रे की चुनीहुई रचनाएँ' के 'प्रोचना' में विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है, "द्विवेदीजी सरकारी नौकरी के दबाव में स्वदेश प्रेम के लिए मुखर नहीं रहे; जबकि सप्रे जी सामने परोसी हुई नौकरियाँ, धनोपार्जन के अवसर ठुकरा दिए। जीवन भर आर्थिक तंगी से काटते हुए वे स्वदेश सेवा में लगे रहे। लोगों ने उनके द्वारा माफ़ी मांगने की घटना को अधिक महत्त्व दिया, उनकी तपस्या को नहीं।"[190]

माधवराव सप्रे की 'स्वदेशी आंदोलन और बायकॉट' नामक किताब भारतीय चिंतन का दस्तावेज़ है। वैसे तो यह किताब तत्कालीन भारत की विभिन्न हलचलों का उद्घाटन करने में समर्थ है, वहीं आर्थिक पक्षों पर भी गंभीर है। माधवराव सप्रे ने पूरी किताब में स्वदेशी आंदोलन और उसके महत्त्व को बताया है। माधवराव सप्रे बायकॉट के ऐतिहासिक महत्त्व को बताते हुए लिखते हैं कि, "कुछ लोग यह भी कहेंगे कि यदि हम स्वदेशी वस्तु के व्यवहार की प्रतिज्ञा करें, तो इस प्रतिज्ञा का पालन पूर्ण रीति से नहीं हो सकेगा; क्योंकि इस समय हमारे देश में सब प्रकार का माल तैयार नहीं होता। अतएव, पहले हम लोगों को स्वदेशी देश में सब

---

[189] सं. मैनेजर पाण्डेय 'संपत्तिशास्त्र' पृष्ठ सं.21 -22

[190] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएं'- पृष्ठ सं. प्रोचना

प्रकार का माल तैयार करने का यत्न करना चाहिए; और जब सब प्रकार का स्वदेशी माल बनने लगेगा तब हम वस्तु के व्यवहार की प्रतिज्ञा करेंगे; क्योंकि तभी हमारी प्रतिज्ञा का पूर्णरीती से पालन हो सकेगा।" [191]

माधवराव सप्रे ऐसे तर्कों से विचलित होने वाले नहीं थे, उनके आक्षेपों का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि, पहले हम अपनी बनायीं हुई चीज़ों का उपयोग करेंगे। जब वह भी नहीं मिलेगा तब अन्य यूरोपीय देशों से सामान लेंगे। जब वहाँ भी न मिले तब अंग्रेजों से सामान लेना चाहिए क्योंकि वे हमारे ही धन से हमें नियंत्रित किए हुए हैं। माधवराव सप्रे सब बातों की एक बात कहते हैं, "स्वदेशी वस्तु को स्वीकारे बिना और विदेशी वस्तु को त्यागे बिना हमारे देशभाईयों की वर्तमान दशा में सुधार होने की आशा कदापि नहीं की जा सकती। स्मरण रहे कि कल्याण करने वाले किसी भी मनुष्य की दुर्गति नहीं होती। 'भगवद्गीता' में लिखा है 'नहि कल्याणकृत कश्चित् दुर्गन्ति तात गच्छति।"[192]

माधवराव सप्रे ने भारतीय अर्थव्यवस्था से संबंधित अपने लेखों से लोगों को देश की आर्थिक स्थिति से परिचित ही नहीं कराया, बल्कि उन्हें जगाने का भी काम किया। भारतीय अर्थव्यवस्था को उन्नति के मार्ग पर लाने के लिए लोगों को विश्व में हो रहे तमाम आर्थिक उद्योगों से परिचित कराते हैं।

देशी भाषाओं में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ बहुत लिखा गया। ऐसी ही एक किताब बांग्ला में सखाराम गणेश देउस्कर ने 'देश की बात' नाम से लिखी जिसमें अंग्रेजों की नीतियों का स्पष्ट विरोध कर, उसे भारत विरोधी बताया गया है। यह किताब अपने प्रकाशन काल से ही इतनी लोकप्रिय हुई कि 1904 से 1908 के बीच इस किताब के पांच संस्करण और तेरह हजार प्रतियाँ बिक गयी। अंग्रेज सरकार ने इस किताब में सरकार विरोधी बात होने के कारण 28 सितंबर 1910 को एक विज्ञप्ति निकाल कर इस किताब को जब्त कर ली। इस किताब

[191] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएं'- पृष्ठ सं.55
[192] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं. 57

की लोकप्रियता पूरे हिन्दी क्षेत्र में रही। शायद इसी से प्रेरित होकर महावीर प्रसाद द्विवेदी भी हिन्दी में अर्थशास्त्र विषय पर लिखने का मन बनाए हो, जिसके लिए माधवराव सप्रे ने सहर्ष सहायता की।

अंग्रेजों के आगमन से पहले भारतीय व्यापार की स्थिति को माधवराव सप्रे इस प्रकार बयां करते हैं, "पहले ज़माने में हिन्दुस्तान का व्यापार सारी दुनियाँ में चमकता था। व्यापार के लिए कपास, अनाज आदि जिन चीज़ों की आवश्यकता होती है वे इस समय भी हिन्दुस्तान में उत्पन्न होती हैं और पहले से अधिक होती हैं। सब प्रकार के कच्चे माल की इतनी अधिक उपज होने पर इस देश के व्यापार की उन्नति क्यों नहीं होती ?"[193]

माधवराव सप्रे ने 'इंग्लैण्ड की व्यापार नीति' में अपने अर्थशास्त्रीय ज्ञान का बहुत ही वृहद् और जन साधारण को समझने में समर्थ निबंध लिखा है। जिसमें उन्होंने विश्व में हो रहे व्यापार के नियम को समझाते हुए इंग्लैण्ड की व्यापार नीति को स्पष्ट किया है कि पूरे विश्व में दो प्रकार की व्यापार नीति को अपनाया गया है। पहला, अप्रतिबद्ध व्यापार नीति। इस नीति को स्वीकार करने वाले देश अपने देश में बाहर से आने वाले सामानों पर किसी भी प्रकार का कर नहीं लगाते। दूसरा, संरक्षित व्यापार नीति- इस देश नीति को मानने वाले देश बाहर से आने वाले सामानों पर कर लगाते हैं।

माधवराव सप्रे बताते हैं कि यूरोप में कच्चे माल को सस्ते में पाने के लिए और अपनी साख को मज़बूत करने के लिए इंग्लैण्ड ने अप्रतिबद्ध व्यापार नीति को अपने यहाँ और अपने सभी उपनिवेशों में भी लागू किया। जिससे इंग्लैण्ड को भारत में आर्थिक हानि उठानी पड़ रही थी। कई विचारकों का यह मानना है कि भारत वर्ष में अप्रतिबद्ध व्यापार नीति से किसी को फायदा न हुआ है। चेम्बरलेन भारत में अप्रतिबद्ध व्यापार नीति को त्याग कर देने के पक्ष में थे। उनका मानना था कि भारत और ब्रिटिश का हित इसमें है कि भारत में संरक्षण व्यापार

---

[193] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 55

नीति अपनाई जाए और भारत में इंग्लैण्ड से आये सामानों पर तरफ़दारी कर लगाए। माधवराव सप्रे तरफ़दारी कर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "कनाडा में भी संरक्षित व्यापार - नीति का प्रचार है; परन्तु उसका प्रेम इंग्लैंड पर अधिक है। इसलिए उसने इंग्लैंड से आनेवाले माल पर साढ़े तैतीस सैकड़ा कर घटा दिया है; अर्थात् जब अमेरिका जर्मनी, फ्रांस, आदि दूसरे देशों से आनेवाले मालपर 100 रुपये कर लिया जाता है तब इंग्लैंड से आनेवाले माल पर सिर्फ साढ़े छियासठ ही लिया जाता है। इसीको 'तरफ़दारी का कर' (Preferential Tariff) कहते हैं।"[194]

माधवराव सप्रे बताते हैं कि अंग्रेजों के पहले भारत वर्ष का व्यापार एक संगठित संगठन था। पर अंग्रेजों के सत्ता में आने से भारतीय कामगारों को अपने कामगार बनाने की मुहिम तेज कर दी। इतनी ज़्यादती के बाद भी भारतीय व्यापार जीता रहा। अंग्रेजों को बड़े-बड़े हिन्दुस्तानी अफसरों से जहाँ यह सलाह लेनी चाहिए थी कि वहाँ का (भारत का) व्यापार कैसे बढ़े, सलाह यह ली गयी कि अंग्रेजों का व्यापार कैसे बढ़े ?

इंग्लैण्ड का व्यापार भारत में बढ़े इसके लिए भारत के व्यापार और उसके बाजार पर कर लगा–लगाकर बर्बाद करने की सफल कोशिश की गयी। जिससे आज भारतीय व्यापार अपनी अंतिम साँस ले रहा है। माधवराव सप्रे बताते हैं कि तरफ़दारी कर से अंग्रेजों को तो लाभ होगा पर भारत जो अपने व्यापार की अंतिम साँस ले रहा है उसकी हालत यह होगी कि, "भारतवर्ष का माल इंग्लैंड और उसके उपनिवेशों से दूसरे देशों ही में अधिक बेचा जाता है। वे सब देश संरक्षित व्यापार नीति के अनुयायी हैं। जब हम उनके 22 करोड़ 6 लाख के माल पर कर लगाएंगे, तब वे हमारे 66 करोड़ 52 लाख के माल पर कर का बोझा लाद देंगे या नहीं। इससे हमारा वह माल वहाँ बिक नहीं सकेगा। तब वह माल सस्ते भाव में इंग्लैण्ड को ही बेच देना पड़ेगा।"[195]

---

[194] विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन'- सं. पृष्ठ सं.88

[195] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन'- पृष्ठ सं.93

माधवराव सप्रे 'राष्ट्रीय जागृत मीमांसा' में एक जगह लिखते हैं यदि भारतीय जाग जायेगा तो ऐसी परिस्थिति में बलवा ज़रूर कर देगा। माधवराव सप्रे भारतीय लूट से बहुत दु:खी हैं वे अपनी सारी ऊर्जा सिर्फ भारतीयों को जगाने में लगा देते हैं। अपने सम्मान और ठाठ-बाट की चिंता न करते हुए उन्होंने देश को अंग्रेजों से सीधा लोहा लेने के लिए तैयार किया। कई बार सरकारी नौकरी का अवसर मिलने पर भी उन्होंने नौकरी न करके देश की सेवा का व्रत लिया।

माधवराव सप्रे का पूरा लेखन अपने समय और समाज में सकारात्मक ऊर्जा का संचार करने वाला था। उनके सभी निबंधों का उद्देश्य अंग्रेजों की नीतियों का विश्लेषण कर लोगों को जगाना था। सप्रे जी अंग्रेज इतिहासकारों से ही यह बात सिद्ध करवाते हैं कि कोई भी शक्तिशाली शासक हमेशा पराजित जाति पर शासन नहीं कर सकता।

# चतुर्थ अध्याय

# माधवराव सप्रे की आलोचना दृष्टि

देवीप्रसाद वर्मा जी ने 'माधवराव सप्रे की चुनी हुई रचनाएँ' संग्रह में समालोचना खंड में सप्रे जी की कुल अठारह पुस्तकों की समीक्षा संगृहीत की है। जिसे पढ़ने से माधवराव सप्रे का समालोचक रूप हमारे सामने आता है। उनकी शालीनता और उनका बेबाकपन जो बिना रचनाकार और अपने सम्बन्ध के बारे में सोचे समीक्षाएँ लिखी हैं। वह अन्य समीक्षकों के यहाँ दुर्लभ है। फिर भी हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास में माधवराव सप्रे को आरम्भिक समालोचक के रूप में स्थान नहीं मिला है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "जब माधवराव सप्रे ने हिन्दी में समालोचना का स्वरूप निर्मित करने का प्रयत्न प्रारंभ किया था तब हिन्दी आलोचना आरम्भिक अवस्था में थी। भारतेंदु युग में बालकृष्ण भट्ट और चौधरी प्रेमघन ने उसका सूत्रपात किया था, लेकिन सप्रे जी के प्रयत्नों से वह विकसित हुई और उसमें व्यापकता आई। यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिन्दी साहित्य के किसी इतिहास में या हिन्दी आलोचना के किसी इतिहास में सप्रे जी के समालोचना क्रम का कहीं कोई मूल्यांकन नहीं है, बल्कि समालोचक के रूप में उनके नाम तक का कोई उल्लेख नहीं है।"[196]

माधवराव सप्रे 'श्रृंगार बत्तीसी' की आलोचना करते हुए कहते हैं कि क्या आज के समय इस रचना का या ऐसी किसी भी रचना की ज़रूरत है जब पूरा देश मध्यकालीन जबदी मानसिकता से अपने को आज़ाद करने और विश्व में हो रहे विभिन्न बदलावों से अपने को और अपनो को अवगत करने में लगा है। इस समय यह रचना हमारे समाज को कैसी शिक्षा देगी, लेखक को यह तो विचार कर ही लेना चाहिए था। माधवराव सप्रे ऐसे साहित्य या रचनाकर्म के समर्थक और प्रशंसक हैं जो विभिन्न मार्गों से देश उन्नति में सहायक हो। 'श्रृंगार बत्तीसी' की आलोचना करते हुए लिखते हैं, "बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारे कवियों को

---

[196] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.30

एक-ही-एक विषय पर लेखनी चलाने में कैसे आनंद प्राप्त होता है ! क्या श्रृंगार विषय पर आज तक कोई पुस्तक न थी कि जिससे इसके लिखने और छपवाने की आवश्यकता हुई ? जान पड़ता है कि हमारे कवियों को कोई दूसरा विषय नहीं मिलता, इसी से वे बड़े श्रृंगार प्रिय हो गए हैं । क्यों न हों ? इसमें न तो मूल काव्य शक्ति की आवश्यकता है और न बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् की ।...पर हमें ऐसा मालूम होता है कि आज कल के कवि लोग श्रृंगार आदि काल्पनिक रसात्मक कविता बनाने में व्यर्थ ही श्रम उठा रहे हैं । इसकी अपेक्षा वस्तुस्थिति की ओर ध्यान देकर नैसर्गिक, सामाजिक आदि उपयोगी विषयों पर कविता रचने में परिश्रम करें तो भाषा काव्य की उत्तरोत्तर उन्नति होगी और फिर सचमुच काव्य रसिको को आनंद होगा । श्रृंगार जैसे एक देशीय पुराने विषय का स्वाद लेते-लेते भगवती हिन्दी काव्य देवी का मन तृप्त हो चुका है । अब उसको अन्यान्य विषयों से रिझाने का प्रयत्न करना चाहिए ।"[197]

माधवराव सप्रे साहित्य में सामाजिक समस्याओं का यथार्थ पूर्ण चित्रण देखना चाहते हैं । उन्हें अपने समय में अपने समय से संबंधित रचनाएँ ही पसंद हैं जो समाज को सुलाए नहीं जगाए । उन्हें अपने समय में हो रहे विभिन्न आन्दोलनों सुधारों पर रचना न देखकर क्षोभ होता है । 'घन विजय' की समीक्षा करते हुए लिखते हैं, "टाईटिल के पृष्ठ भाग पर घन विजयकार ने मेघागमन का जो अल्प वर्णन किया है, उस पर से हमें ऐसा मालूम होता है कि आपकी दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर भी पहुँच चुकी है । बाल विधवाओं की दीन और दु:खित अवस्था पर कवि ने कई जगह अपनी हृदयगत सहानुभूति दर्शाई है । इसी प्रकार के कई उल्लेखों से जान पड़ता है कि पाठक जी जैसे काव्य-रचना की नूतन प्रणाली में अग्रसर हैं वैसे ही सामाजिक अन्यायों के (प्रगट नहीं तो गुप्त) संशोधक भी होंगे ।"[198]

[197] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 219
[198] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 220

माधवराव सप्रे हिन्दी के पक्षधर हैं पर हिन्दी में से प्रचलित उर्दू शब्दों को निकालने के समर्थक नहीं हैं। वे हिन्दी–उर्दू की साझी विरासत से हिन्दी को मिली लोकप्रियता से परिचित हैं। हिन्दी को भारत में संपर्क भाषा और राष्ट्र भाषा बनाने में उर्दू का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'भाषा चन्द्रिका' पत्रिका की भाषा पर समीक्षा करते हुए लिखते हैं, "इस पत्रिका में व्याकरण संबंधी अशुद्धियों के अतिरिक्त संस्कृत के बड़े–बड़े कठिन शब्द और लम्बे–लम्बे समास इतने भरे हैं कि भाषा की स्वाभाविक सुन्दरता बिलकुल नष्ट हो गई है और उसमें एक प्रकार की क्लिष्टता आ जाने से लेखक का भाव भी अत्यंत दुर्बोध हो गया है।"[199] और आगे लिखते हैं, "आप हिन्दी भाषा के सुधार में प्रयत्न करना चाहते हैं। फिर हिन्दी के व्यावहारिक शब्दों पर कटाक्ष क्यों है? क्या उर्दू से हिन्दी को कुछ लाभ नहीं पहुँचा है ? फिर आप उसका (उर्दू का) 'हिन्दी के साथ व्यवहृत न होना ही उचित है' ऐसा क्यों कहतें हैं ? क्या यह आपका वृथा अभिमान और निष्प्रयोजन द्वेष नहीं है ?"[200]

माधवराव सप्रे चंद्रकांता जैसे उपन्यासों की कथाओं में चित्रित असंभव घटनाओं और उसकी लोकप्रियता से चिंतित हैं यह इसलिए भी हो सकता क्योंकि वे साहित्य में सामाजिक यर्थाथ को प्रस्तुत करने के पक्ष में रहे हैं। माधवराव सप्रे इन उपन्यासों को निरा कुतूहल जगाने वाला उपन्यास मानते हैं, पर इन उपन्यासों के योगदान को भी स्वीकार करते हैं कि इनसे हिन्दी का शब्द कोश तो बढ़ा ही है। वे तिलिस्मी उपन्यास 'सुंदरी' की समीक्षा करते हुए बेबाकी से अपना मत रखते हैं, "जिस प्रकार बाबू साहिब ने एयारों की ऐयारी, तिलिस्म के तमाशे और कमन्द के फंदे में हिन्दुस्तान के हजारों अबोध पाठकों को उलझा रखा है, ठीक वैसा ही करने का 'सुंदरी' के रचयिता का भी उद्देश्य दिखाई पड़ता है।"[201]

माधवराव सप्रे उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "खेद की बात तो इतनी ही है कि हमारे विद्वान होनहार और तरुण सुशिक्षित पुरुष भी इसी प्रकार के ग्रन्थ

---

[199] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' -पृष्ठ सं. 226
[200] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं. 227
[201] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' -पृष्ठ सं. 237

लिखने में आनंद मानते हैं। न मालूम वह दिन कब आएगा, जब विद्वान लोगों की रुचि इस ओर से हटकर वस्तुस्थिति का अभ्यास करने तथा देश का सच्चा हित-संपादन करने में लगेगी।...क्या उपन्यास लेखकों को यह बात नहीं मालूम है कि शिक्षा व ज्ञान प्राप्ति उसका मुख्य उद्देश्य है और मनोरंजन करना उसका गौण उद्देश्य है ? जो लोग केवल मनोरंजन करने हेतु अंग्रेजी, बँगला, मराठी, उर्दू या गुजराती का अनुकरण करते हैं और किसी भी प्रकार की सुशिक्षा देने का प्रयत्न नहीं करते, वे सचमुच उपन्यास का महत्त्व बिलकुल नहीं जानते।"[202]

माधवराव सप्रे भारतीय समाज और साहित्यिक गतीविधियों के बारे में सकारात्मक विचार रखते हैं। उनका मानना है कि कोई भी चीज़ जो हो रही है वह आज के लिए बुरा हो सकती है, मगर कल के लिए वह प्रासंगिक भी होगी। ऐसा उनके इस कथन में देखा जा सकता है, "हमारा यह मत सिद्ध हो चुका है कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु हमारी भलाई ही के लिए है। अंग्रेजी में कहा है कि 'Good comes out of Evil' उसी तरह जिन प्रचलित उपन्यासों को आज हम बुरे समझते हैं, उन्हीं से भविष्य में हमारी उन्नति होने वाली है। परिवर्तन के नियमानुसार जो चीज़ आज बुरी है, वही कुछ काल में अच्छी हो जाएगी। इसलिए हम आशा करते हैं कि जिन उपन्यासों से संप्रति हिन्दी में सिर्फ कूड़ा–करकट ही जमा हो रहा है, उन्ही के द्वारा कुछ काल बीत जाने पर भाषा के भंडार की वृद्धि भी होने लगेगी।"[203]

काव्य समीक्षा करते हुए माधवराव सप्रे का मन श्रीधर पाठक की कविताओं में खूब रमा। उन्होंने श्रीधर पाठक की कई रचनाओं की समीक्षा की है। 'जगत सचाई सार' में इक्यावन कविताओं का संकलन है। वे इस किताब पर लिखते हैं कि श्रीधर पाठक की रचनाओं की समालोचना इंग्लैण्ड में भी हो चुकी है। इस किताब पर वे आगे लिखते हैं, "हम समझते हैं कि मनुष्य के जन्म की सार्थकता तभी हो सकती है, जबकि वह सत्य की वृद्धि करे। मनुष्य को चाहिए कि जब ही सन्मार्ग दिखलाने की संधि मिले तब ही उसका उपयोग

---

[202] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं. 238
[203] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं 239

कर ले। इसी में उसका कर्तव्य-कर्म दिख पड़ता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि जो मनुष्य हमारी भूल हमें दिखलाकर उसका संशोधन करता है और हमें सन्मार्ग पर चलने का अनुरोध करता है, वही उत्तम प्रकार की लोकसेवा करता है; क्योंकि उसके सदुपयोग से तरुणों के अंतःकरण में सत्य विचारों की प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है।"[204]

माधवराव सप्रे ने मिश्र बंधुओं (डिप्टी कलेक्टर श्यामबिहारी मिश्र और उनके छोटे भाई शुकदेव बिहारी मिश्र) द्वारा लिखित 'लवकुश चरित्र' पर एक बड़ी और सारगर्भित समीक्षा लिखी हैं। मिश्रबंधुओं के इस काव्य से समाज का क्या भला होगा ? जैसे वाजिब प्रश्न को उठाते हैं। क्या मिश्रबंधुओं ने 'लवकुश चरित्र' का आधुनिक सन्दर्भों में कोई नया प्रयोग किया है, नहीं, तो क्यों ऐसे ग्रंथों का लिखना जिससे पुरानी चीज़ों का ही दुहराव हो ? क्या इससे पहले 'लवकुश चरित्र' नहीं लिखा गया है ? माधवराव सप्रे एक जागरूक रचनाकार से जो उम्मीद रखते हैं, उसके बारे में उन्होंने लिखा है, "यदि मिश्र जी मानवी स्वभाव को चित्रित करने में अपनी शक्ति का उपयोग करते तो उससे हिन्दी साहित्य का लाभ होकर कवियों की कीर्ति भी चिरस्थायी हो जाती। यह तो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी का समय है। नूतन शिक्षा और नूतन विचार से लोगों की रुचि सोलहवीं सदी की अपेक्षा बहुत कुछ भिन्न हो गयी है। सोलहवीं सदी में कवि जिस प्रकार के विषयों से अपने पाठकों का मनोरंजन कर सकता था, उसी प्रकार के विषयों से वर्तमान समय में भी यदि कोई आदर पाने का साहस करे तो यह केवल साहस ही कहलाएगा।"[205]

[204] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं 217
[205] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.204

**4.1 परंपरा का मूल्यांकन :**

साहित्य परम्परा, संस्कृति और इतिहास का वाहक है । साहित्य में चित्रित घटनाएँ अपने को अपनी पिछली परंपरा के साथ जोड़े रखती हैं । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही कहा कि 'साहित्य जनता की संचित चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब है ।' अंग्रेजी साहित्य के बड़े आलोचक टी. एस. इलियट ने अपने अध्ययन से साहित्य में परम्परा संबंधी अवधारणा को प्रतिष्ठापित किया । उन्होंने रचनाकार की रचना को परम्परा, युग परिवेश से प्रभावित माना है । इतिहास बोध से लिखी रचना अपने परिवेश की उत्तम गवाह है । टी. एस. इलियट ने परम्परा को मृत वस्तु या हठ धर्मिता का अनुकरण नहीं माना है, बल्कि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि परम्परा का ज्ञान वही प्राप्त कर पाता है जिसने कठोर परिश्रम कर अपने परिवेश का खुली आँखों से निरीक्षण किया हो । परम्परा एक सांस्कृतिक विरासत है जो सतत विकसित होती रही है और भविष्य का मार्ग प्रशस्त करने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है । अज्ञेय ने इलियट के प्रसिद्ध निबंध 'ट्रेडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' का हिन्दी अनुवाद 'रूढ़ि और मौलिकता' नाम से किया है । डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित किताब 'विश्व साहित्यशास्त्र' में 'टी. एस. इलियट' पर लिखते हुए कृष्णदत्त शर्मा ने लिखा है, "इलियट की मान्यता है कि साहित्य में पूर्ण मौलिकता जैसी कोई चीज़ नहीं होती जिसका अतीत के प्रति कोई ऋण न हो । वास्तव में परम्परा के प्रति आस्थावान रहकर ही मौलिकता या व्यक्तिगत प्रज्ञा की स्थापना की जा सकती है । इसलिए किसी कवि में 'न केवल सर्वश्रेष्ठ वरन् सर्वाधिक वैयक्तिक अंश वे होंगे जिनमें मृत कवि उसके पूर्वज बड़े जीवंत रूप में अपने अमरत्व की प्रतिष्ठा कर गए हैं ।' दूसरी ओर 'जीवित लेखकों के माध्यम से ही मृत लेखक जीवित रहते हैं ।' ... आगे के कथन से परम्परा की महत्ता स्पष्ट हो जाती है – "यदि हमारे पास जीवित साहित्य नहीं है तो हम अतीत के साहित्य के लिए अधिकाधिक अजनबी बनते जाएंगे, जब तक हम सतत प्रभावशीलता कायम नहीं रखते, हमारा प्राचीन साहित्य हमसे अधिकाधिक दूर होता जाएगा और ऐसा तब

तक होता रहेगा जब तक कि वह हमें विदेशी साहित्य की तरह विचित्र और अजनबी न लगने लगे' ।"[206]

हिन्दी के आरम्भिक समीक्षक माधवराव सप्रे के यहाँ परम्परा के प्रति विशेष लगाव देखा जा सकता है । माधवराव सप्रे ने समालोचना में भले ही कोई स्थापित सिद्धांत नहीं दिए, पर उनकी आलोचना व्यवहारिक रूप से अपनी परम्परा की ही वाहक है । वे समालोचना को प्रशंसा नहीं मानते और न ही किसी कृति की मात्र आलोचना करना धर्म ही; बल्कि कृति की भाषा, विषय और उसकी प्रासंगिकता पर गंभीर बहस करते हैं । रामविलास शर्मा अपनी किताब में किसी भी परंपरा को स्पष्ट करने के लिए इन बातों का ज्ञान होना ज़रूरी बताते हैं, "क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि इतिहास के ज्ञान के बिना ऐतिहासिक भौतिकवाद का ज्ञान संभव है ? कम से कम ऐतिहासिक भौतिकवाद के संस्थापकों की पुस्तकें पढ़ने से ऐसा नहीं लगता । जो महत्त्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है, वही आलोचना के लिए साहित्य की परम्परा का है । इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परम्परा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है ।...प्रगतिशील आलोचना के ज्ञान से साहित्य की धारा मोड़ी जा सकती है और नए साहित्य का निर्माण किया जा सकता है ।"[207]

माधवराव सप्रे समालोचना करते हुए नए–नए विषयों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं । वे पुराने ढंग पर लिखी किताबों की समालोचना बहुत ही निर्मम होकर करते हैं और सवाल भी करते हैं कि आज के समय में इन किताबों से समाज को नया क्या मिला, क्या इससे पहले इन विषयों पर नहीं लिखा गया है? जो आज आप लिख रहे हैं, "आजकल हिन्दुस्तान में काव्यरस के विषय में बड़ी गड़बड़ मच गयी है । अर्थ की गंभीरता, नैसर्गिक वर्णन की कुशलता, पद की सुंदरता और अलंकार की उपयुक्तता पर तो कोई ध्यान नहीं देता, तुक में

[206] सं. डॉ नगेन्द्र 'विश्व साहित्य शास्त्र' -पृष्ठ सं. 311
[207] रामविलास शर्मा 'परंपरा का मूल्याङ्कन' - पृष्ठ सं. 9

तुक मिलाकर शब्दों के आडंबर और पदों के बैठाने ही में कई होनहार तरुण कवियों ने अपनी सारी बुद्धि उलझा रखी है।" [208]

माधवराव सप्रे ने अपने कई निबंधों में भारतीय इतिहास और परम्परा का वृहद् विश्लेषण किया है। 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकॉट' नामक अपनी किताब में बँगाल विभाजन का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हैं। इस किताब के एक निबंध 'क्या ये हमारे गुरु हैं ?' में सप्रे जी हिन्दुस्तानी गुरु की परंपरा को बताते हैं। साथ ही उन्होंने अंग्रेजी शिक्षकों को वेतन भोगी अध्यापक कहा क्योंकि देश जब अपनी गुरबत के दिन में हो और लोग देशहित में आन्दोलन कर रहे हों और आंदोलन में भाग ले रहे छात्रों को रोकने का काम कभी कोई सच्चा गुरु नहीं कर सकता। ये अंग्रेज शिक्षक इसलिए विरोध करते हैं क्योंकि इनका वजूद ही अंग्रेजों से है, ये सत्ता के समर्थक हैं। ये हमारे गुरु नहीं हो सकते। भारतीय गुरुओं के बारे में लिखते हैं- "यदि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास देखा जाए तो यह बात विदित होगी कि उस समय जिन लोगों के द्वारा समाज को धर्म, नीति, ज्ञान, विनय, शूरता आदि गुणों की शिक्षा प्राप्त होती थी; और जिन लोगों के द्वारा देश का यथार्थ हित होता था, वे अत्यंत शांत, ज्ञानसंपन्न, जितेन्द्रिय, सत्यशील और निर्लोभी होते थे। ...वे ही उस समय के सच्चे गुरु होते थे।"[209]

माधवराव सप्रे बताते हैं कि जब-जब कोई भी राष्ट्र परतंत्र हुआ है उसके आज़ादी में स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों के छात्रों और उनके अध्यापकों का बहुत ही बड़ा योगदान रहा है। आज के आज़ाद देशों को ही देख लो उनकी आज़ादी में छात्रों और अध्यापकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। वे लिखते हैं, "जब कोई जातीय या राष्ट्रीय आन्दोलन होता है -तब वहाँ के विश्वविद्यालयों और कालेजों के गुरु और अध्यापक भी प्रचलित विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट करते हैं; और जो पक्ष उन्हें न्याय, उचित और

[208] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.198
[209] देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ संख्या 72

देशहित-साधक दिखाई पड़ता है उसके अनुयायी बनने तथा उसके अनुसार बरताव करने के लिए वे अपने छात्रगणों को भी उत्तेजित करते हैं।"[210]

माधवराव सप्रे ने अपने निबंधों में यूरोपीय जनजागरण और वहाँ हुए विभिन्न सुधारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने यूरोपियों के संघर्ष और उसके अच्छे परिणाम से भारतीय लोगों को संघर्षशील और सकारात्मक विश्वास दिलाते हैं।

माधवराव सप्रे परम्परा का मूल्यांकन और उसके महत्त्व को बखूबी समझते हैं। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान संस्कृति है। प्राचीन और मध्यकाल का पूरा साहित्य धर्म-प्रधान साहित्य है। भारतीय समाज का गठन ही इस प्रकार हुआ है कि यहाँ लोगों को धर्म का सहारा लेना ही पड़ता है। यही धर्म भारतीयों को दयालु और शांतिप्रिय बनाता है। किसी भी समाज और उसकी सभ्यता के बारे में स्पष्ट जानकारी उसके साहित्य में मिलती है। माधवराव सप्रे ने लिखा है, "किसी राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का ज्ञान होने के लिए उसके साहित्य, आचार-विचार, शिक्षा पद्धति, धर्मतत्त्व, गृहजीवन, नेता, समाज, आदर्श, आकांक्षा आदि बातों को जान लेना परम आवश्यक है। जब तक इन बातों का सम्यक ज्ञान न हो तब तक उस राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का कुछ विचार अथवा उस पर कुछ निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता।"[211]

माधवराव सप्रे अपने समय में हो रहे विभिन्न बदलाओं से परिचित थे और उन सभी विषयों पर स्वतंत्र लेखन भी कर रहे थे। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन, स्त्री शिक्षा और भारत एक राष्ट्र जैसे समसामयिक राजनीतिक मुद्दों पर निबंध लिखे हैं। उनको पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे वे आने वाले समय से भली-भाँति परिचित थे। स्त्रियों के प्रति रूढ़िवादी विचारकों का विचार (स्त्रियों को पति के अधीन रहने से ही पति और परिवार का मान सम्मान बना रहेगा) का माधवराव सप्रे ने विरोध किया है। यदि पति पतित हो, पर- स्त्री -गमन करने वाला हो,

---

[210] देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ संख्या 74
[211] सं. विजयदत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना–संचयन' पृष्ठ संख्या -247

जुवारी हो तो उसकी भी पूजा करना चाहिए। इसी प्रकार माधवराव सप्रे भारत के अवनति के प्रमुख कारणों में 'अछूतों' को मुख्यधारा से अलग रखना माना है।

माधवराव सप्रे मात्र राजनीतिक हलचल से ही परिचित नहीं थे बल्कि तत्कालीन समय के लोकप्रिय विषय जैसे अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र पर भी उनकी दखल थी। माधवराव सप्रे अर्थशास्त्र को भारतीय संदर्भ में व्याख्यायित किया है- भारतीय व्यापार कैसी बर्बाद हुआ और यह किन वजहों से फिर से प्रगति की राह पर आएगा इस पर चर्चा की है। विश्व व्यापार के विभिन्न नियमों से भी अपने पाठकों को परिचित कराते हैं। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "व्यापार वृद्धि के लिए गवर्नमेंट जो कुछ करती उसी को उसकी व्यापार-नीति कहते हैं। इसके मुख्य दो प्रकार हैं (1) अप्रतिबद्ध व्यापार–नीति। जिस देश में इस नीति का स्वीकार किया जाता है उस देश की गवर्नमेंट और देशों के माल को अपने देश में आने से नहीं रोकती, अर्थात् जब किसी दूसरे देश का माल वहाँ आता है तब वह उस पर किसी प्रकार का कर नहीं लगाती।...(2 ) संरक्षित व्यापार नीति। स्वदेश के व्यापार की उन्नति हो; स्वदेश के कारीगरों का रोज़गार बढ़े; स्वदेश की कला-कुशलता की वृद्धि हो; स्वदेश के कारखानों को परदेशियों के कारखानों की स्पर्धा में नुकसान न पहुँचे; और स्वदेश के मज़दूरों को पेटभर खाने को और सुख से रहने को मिले।"[212]

रामविलास शर्मा अपनी किताब 'परम्परा का मूल्यांकन' में बताते हैं कि गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ लेने के बाद भी सर्वहारा वर्ग अपनी मेहनत से बने डरावने प्रसादों को नष्ट नहीं करता, उसका उपयोग समाजहित के कार्यों में करता है। माधवराव सप्रे भी समालोचना करते हुए भले ही पुराने ढंग से लिखे और बुद्धिविलास में लिखे; साहित्य पर दुःख जताते हैं पर साथ ही इन्हीं रचनाकारों से उम्मीद भी करते हैं कि शायद वो दिन कभी आये जब हमारे रचनाकार नए–नए विषयों पर लिखें।

---

[212] सं. विजयदत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना–संचयन' पृष्ठ संख्या -83

माधवराव सप्रे के प्रिय कवि श्रीधर पाठक हैं। पाठक जी ने नए–नए विषयों पर अपनी कलम चलायी है और कई ग्रंथों का हिन्दी में भावानुवाद भी किया है। पाठक जी के साहित्य पर लगे तर्क और बुद्धिवाद के आरोप का खंडन करते हुए उन्होंने बताया है कि ऐसे आरोप अंग्रेजी कवि बायरन पर भी लगाये जाते रहे हैं तो क्या लोग उनके महत्त्व को भुला सकेंगे ? कुछ आलोचक श्रीधर पाठक की भाषा शैली पर गद्यात्मक होने का आरोप लगाते हैं तो माधवराव सप्रे ने वर्ड्सवर्थ की भाषा पर भी गद्यात्मक होने का जिक्र करते हुए ऐसे आरोपों को बदलाव के लिए ज़रूरी माना है। वर्ड्सवर्थ ने गद्य और पद्य की भाषा को एक ही माना है। श्रीधर पाठक भी हिन्दी कविता खड़ी बोली में लिखते थे तो दोनों की तुलना स्वाभाविक है और दोनों अपनी भाषा और साहित्य को एक अलग राह पर ले जाने के लिए प्रयासरत थे।

रामविलास शर्मा परंपरा के मूल्यांकन का मुख्य प्रतिपाद्य समाजवादी व्यवस्था की स्थापना मानते हैं। माधवराव सप्रे छुआछूत और जातिवाद के प्रबल विरोधी थे। माधवराव सप्रे मुस्लिम शासकों के दिनों को याद करते हुए मुसलमानों के कृत्यों से दुःखी होते हैं पर उनसे घृणा नहीं करते। उन्होंने पूरे भारतीय समुदाय में एकता स्थापित करने पर बल दिया है। उनके अपने समय के अन्धविश्वास सती प्रथा और बालविधवा पर स्वतंत्र निबंध तो नहीं मिले हैं पर 'घनविनय' की समालोचना करते हुए उन्होंने इसे सामाजिक कुरीतियाँ ही माना है। उनकी आस्था मनुष्य को मनुष्य मानने में है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "बाल विधवाओं की दीन और दुःखित अवस्था पर कवि ने कई जगह अपनी हृदयगत सहानुभूति दर्शायी है। इसी प्रकार के कई उल्लेखों से जान पड़ता है कि पाठक जी जैसे काव्य-रचना की नूतन प्रणाली में अग्रसर हैं वैसे ही सामाजिक अन्यायों के (प्रगट नहीं तो गुप्त) संशोधक भी होंगे।"[213]

माधवराव सप्रे साहित्यिक लेखन में संस्कृत साहित्य के बड़े-बड़े रचनाकारों और उनके साहित्य पर गहन विचार किया है। उन्होंने 'दंडी' और 'कालिदास के काव्य में नीति

[213] देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' -पृष्ठ संख्या 220

बोध' विषय पर लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि सप्रे जी के समालोचना का आधार कालिदास का साहित्य है।

माधवराव सप्रे कालिदास के काव्य में सती प्रथा का विरोध देखते हैं। जब भगवान शंकर के श्राप से कामदेव भस्म हो जाते हैं, तब रति भी सती होना चाहती हैं तो कवि आकाशवाणी से यह आश्वासन् देता है कि तेरा पति तुझे फिर मिलेगा। कालिदास ने अपने काव्य में एक जगह यह दिखाया है कि अज अपनी पत्नी इंदुमती की मृत्यु से दुःखी होकर चिता में कूद पड़ते हैं। कालिदास ने ही इंदु की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद अज के जलसमाधि लेने की घटना का जिक्र किया है। कालिदास के हवाले से माधवराव सप्रे राजा के कर्तव्य को बताते हैं, "कवि ने कहा है कि 'राजा' नाम इसलिए पड़ा है, क्योंकि वह प्रजा का रंजन करता है। रामचंद्र के विषय में कवि ने लिखा है कि इस राजा में द्रव्यलोभ बिलकुल न था; इसी कारण प्रजा संपत्तिमान और सुखी थी। वह प्रजा को सन्मार्ग में लगाता था, इसलिए वह लोगों का पिता था; और उनका दुःख निवारण करता था, इस कारण वह उनके लिए पुत्र के स्थान में था।"[214]

माधवराव सप्रे अपने समय की उथल-पुथल को ध्यान में रखकर कई महत्त्वपूर्ण लोगों पर स्वतंत्र निबंध लिखे हैं। जिससे लोग उन क्रांतिकारियों द्वारा विपरीत परिस्थितियों में किए गए कार्यों से परिचित हो सके और अपने देश के हित में कुछ करने के लिए उद्यत हों। उन्हीं लेखों में 'नेपल्स की कासानोवा नामक औद्योगिक शाला' जिसमें ग़रीब बच्चों को पढ़ाने के लिए एक छोटा सा प्रयास हुआ, बाद में यह कार्य विश्व भर के स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में अनुकरणीय रहा।

माधवराव सप्रे ने 'इटालियन देशभक्त मेजिनी' निबंध में मेजिनी द्वारा अपने देश को जगाने के लिए जो कार्यों किये उनका विश्लेषण किया है और इसमें, कैसे मेजिनी को उनके

---

[214] सं. विजयदत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना–संचयन'- पृष्ठ संख्या -121

देश से ही निकाल दिया गया, फिर अपने विचार को उन्होंने 'नौजवान इटली' नामक पत्र के माध्यम से लोगों को परिचित कराया आदि बातों के साथ और एक बात यह कि कैसे यह पत्र इटली में प्रतिबंधित था फिर भी मेजिनी के समर्थक जान पर खेलकर इस पत्र को लोगों तक पहुँचाते थे आदि बिंदुओं को देखा जा सकता है। इन बातों को भी इस लेख में देखा जा सकता है, जो निम्नतः हैं - मेजिनी के विद्रोही स्वभाव के चलते उसे स्विटजरलैंड से भी निकाल दिया गया । बाद में जब विक्टर ईमन्युएल गद्दी पर बैठा तो उसने मेजिनी को पार्लियामेंट का सदस्य चुना, मेजिनी ने मना कर दिया । मेजिनी के सामने ही विदेशी शासन का अंत हुआ ।

माधवराव सप्रे ने 'गोपाल गणेश आगरकर' की जीवनी परक एक निबंध लिखा । जिससे लोगों को यह संदेश मिले कि जूनून आर्थिक तंगी से बहुत ऊपर की चीज़ है । आगरकर के पढ़ने के जूनून के आगे आर्थिक अभाव आड़े न आ पाया और उन्होंने ग़रीबी में ही उच्च शिक्षा हासिल कर ली । ये अपने समय के जागरूक पत्रकार थे और इन्होंने पत्रकारिता से अन्धविश्वास पर खुलकर चोट की । आगरकर 'केसरी' पत्रिका से अलग होकर 'सुधाकर' पत्र के संपादक बने । इनकी लेखनी से पूरे महाराष्ट्र में खलबली मच गयी । लोगों ने इनको विधर्मी कहा और इन्हें जान से मारने तक की धमकी भरे पत्र भेजते थे । आगरकर निर्भीक होकर समाजहित में कार्य करते रहे । माधवराव सप्रे लिखते हैं, ''यद्यपि वे 'सुधारक' में पुरानी निन्द्य बातों का घोर खंडन करते थे, तथापि वे अच्छी तरह जानते थे कि जन-साधारण नई बातों को एक ही दिन में नहीं मान सकते । उनके स्वाध्याय, लेखन और विचारों की सीमा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी । शेक्सपियर के हेलमेट नाटक का उन्होंने मराठी में अनुवाद किया है । उसकी भूमिका बड़ी सुन्दर है । इसी से पता चलता है कि अंग्रेजी–साहित्य में उनकी पहुँच कहाँ तक थी ।''[215]

---

[215] सं. विजयदत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना –संचयन' पृष्ठ संख्या -240

माधवराव सप्रे की परम्परा तत्कालीन समाज के रूढ़ियों को दूर करने में सहायक है। वे नैतिकतावादी आलोचक हैं, उन्होंने अपने विभिन्न लेखों के माध्यम से श्रृंगार का विरोध किया। ये कालिदास की रचनाओं में चित्रित प्रेम और नैतिकता की प्रशंसा करते हैं तो दूसरी तरफ़ अपने समकालीन श्रीधर पाठक की सामाजिक समस्या पर लिखी कविताओं की भी प्रशंसा की है। माधवराव सप्रे ने दंडी के 'दशकुमार चरितम' में चित्रित दस राजकुमारों की कहानी को उदंड राजकुमारों की कहानी कही है और इस कृति पर अश्लील श्रृंगारिकता का भी आरोप लगाया है। माधवराव सप्रे श्रृंगारिक रचनाओं के घोर विरोधी थे। वे उस परम्परा के पक्षधर हैं जो उनके समाज को एक नैतिक और जागरूक समाज बनाये।

### 4.2 काव्यालोचन :

किसी भी साहित्यकार की आलोचना पद्धति और उसके महत्त्व को देखना हो तो कविता पर उनके विचार देखने चाहिए जहाँ आलोचक के अपने समय में रचित काव्य ग्रंथों पर उनके विचार बहुत मायने रखते हैं। आलोचक अपने समय के कवियों की आलोचना करते समय कितना तटस्थ रह पाता है और उसकी निडरता, स्पष्टवादिता उसे कालजयी बनाती है। माधवराव सप्रे अपने समकालीन काव्य ग्रंथों पर बड़ी ही बेबाकी से अपने विचार रखे हैं साथ ही कृतियों के सारांश से भी पाठकों को अवगत कराया है।

माधवराव सप्रे के प्रिय कवि श्रीधर पाठक हैं क्योंकि पाठक जी तत्कालीन सामाजिक समस्याओं, रूढ़ियों से जुड़े विषयों पर कविता करते थे इसलिए इन्हीं के काव्य ग्रंथों की समीक्षा में उनका मन लगता है, उन्होंने अन्य कवियों के असामाजिक काव्य विषयों पर क्षोभ व्यक्त किया है। माधवराव सप्रे तत्कालीन कवियों से समाज की व्यथा–कथा को काव्य विषय

बनाने के आकांक्षी थे। उन्हें अपने समय में होने वाले भक्ति एवं रीति कविताओं का सृजन फूटी आँख भी न सुहाता था।

माधवराव सप्रे 'जगत सचाई सार' की समीक्षा इसलिए करते हैं क्योंकि 'छत्तीसगढ़ मित्र' में नए-नए उभरते हुए कवियों की रचनाएँ छपने के लिए आती रहती थी और उन कविताओं का विषय रीतिकालीन या भक्तिकालीन हुआ करता था। माधवराव सप्रे कवियों को अपने समाज और आम जन की रुचियों पर आधारित कविता करने के लिए इस काव्यग्रंथ की आलोचना करते हैं।

वे श्रीधर पाठक के काव्य ग्रन्थ 'जगत सचाई सार' की समीक्षा करते हुए कवि के मंतव्य की सराहना करते हैं कि इस काव्य का मूल प्रतिपाद्य जगत का सच है। 'ब्रह्म सत्यम जगत मिथ्या' का माला जपने वाले को श्रीधर पाठक मनुष्योचित कर्तव्य-कर्म करने से भागने वाले कहा है और ईश्वर की प्रत्यक्ष सत्ता को नकारते हुए भोगविलास में ये आलसी ज़िंदगी गुजार देते हैं।

माधवराव सप्रे, श्रीधर पाठक को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने अपने इस काव्य-ग्रंथ से लोगों को जगाया है। माधवराव सप्रे इस काव्य ग्रन्थ के महत्त्व के बारे में लिखते हैं, "इसमें कुछ संदेह नहीं कि जो मनुष्य हमारी भूल हमें दिखलाकर उसका संशोधन करता है और हमें सन्मार्ग पर चलने का अनुरोध करता है, वही उत्तम प्रकार की लोकसेवा करता है; क्योंकि उसके सदुपयोग से तरुणों के अंत:करण में सत्य विचारों की प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है।"[216]

कवि के विषय चयन और उस विषय की समझ ही कवि को कवि बनाता है। नए काव्य विषय पर लिखते समय यदि कवि पर कुछ आरोप लगते हैं तो वह आरोप इतने बड़े कभी नहीं हो सकते जितनी बड़ी कविता होती है। तभी तो माधवराव सप्रे, श्रीधर पाठक पर लगे तमाम आरोपों का खंडन करते हुए उन आरोपों को बौना सिद्ध कर देते हैं, जैसे– श्रीधर

[216] प्रधान संपादक नामवर सिंह और सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' - पृष्ठ सं. 189

पाठक की कविताओं में तर्क और बुद्धिवाद बहुतायत है। इस पर माधवराव सप्रे ने बताया है कि यही आरोप अंग्रेजी के कवि बायरन की कविताओं पर भी लगाया जाता है। श्रीधर पाठक की कविता पर एक और आरोप लगता है कि इनकी कविता गद्य प्रधान है, ऐसा आरोप अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की कविताओं पर भी लगाया गया था। माधवराव सप्रे को कविता में व्याकरणिक अशुद्धियों से क्षोभ होता है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि "दूसरे पद्य में 'वस्तु' शब्द का उपयोग एक वचन में करके उसके लिए बहुवचन सर्वनाम (उनसे) रखा है। हमारी समझ में यह व्याकरण के नियमानुसार नहीं है।"[217]

श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ 'THE HERMIT' का अनुवाद 'एकांतवासी योगी' नाम से किया है। माधवराव सप्रे 'एकांतवासी योगी' पर समीक्षा लिखते हुए अनुवाद को एक कठिन विधा मानते हैं। और वे कहते हैं कि जब कोई किसी विषय का अनुवाद करता है तो उसे उस विषय का भली-भाँति ज्ञान होना चाहिए और "अनुवाद की भाषा सरल, भाव सुबोध और रस मधुर रखकर अपनी योग्यता स्वतंत्र रीति से भी प्रकट करे।"[218]

माधवराव सप्रे ने 'एकांतवासी योगी' पर विचार करते हुए पाया कि श्रीधर पाठक अंग्रेजी की कविताओं का हुबहू अनुवाद नहीं करते बल्कि उसके भाव को विभिन्न पदों में व्यक्त करते हैं। मूल 'THE HERMIT' में कुल चालीस पद्य हैं जबकि 'एकांतवासी योगी' में कुल उनसठ (59) पदों को रखा गया है। समीक्षक पुस्तक का सारांश भी बताते हैं कि कैसे एंजिलिन और एडविन में प्यार होता है ? प्यार की परीक्षा देते-देते कैसे एडविन साधु बनकर इधर-उधर घूमने लगता है और बाद में दोनों का मिलन होता है ?

माधवराव सप्रे की समीक्षा पढ़कर ऐसा लगता है कि उन्होंने मात्र श्रीधर पाठक द्वारा किये गए अनुवाद को पढ़कर ही समीक्षा नहीं लिखते हैं बल्कि मूल रचना जैसे - गोल्ड स्मिथ

---

[217] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' -पृष्ठ सं. 190

[218] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' -पृष्ठ सं. 191

की ‘THE HERMIT’ को भी पढ़ते हैं। तभी तो वे बताते चलते हैं कि कहाँ-कहाँ श्रीधर पाठक ने छोड़ा और कहाँ अपनी तरफ़ से जोड़ा है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, “अंग्रेजी के पच्चीसवें पद्य की ऐसी मनोहारिणी अंतिम पंक्तियाँ न मालूम क्या समझकर पंडितजी ने बिलकुल ही छोड़ दी हैं। यदि बाद की तीसवें पद्य में (जिसमें अंग्रेजी के पच्चीसवें पद्य का उल्था है और जिसमें ऐंजलीन अपनी शोचनीय दशा का वर्णन करती है) अंग्रेजी की उपर्युक्त पंक्तियों का भाव दर्शाया जाता है तो नि:संदेह वह पद्य चित्तविकार (pathos) में बहुत ही श्रेष्ठ और सरस हो जाता।”[219]

माधवराव सप्रे, श्रीधर पाठक की रचनाओं में हो रहे व्याकरणिक दोष को दर्शाने में नहीं झिझकते। व्याकरणिक दोषों को बताते हुए दो पंक्तियों को लेते हैं, “‘उस्की तुल्य धरातल ऊपर है नहिं कोई कूढ़’, और ‘करूं कहां तक वर्णन उसकी अतुल्य दया का भाव’ इन दोनों पंक्तियों में ‘उस्की’ और ‘उसकी’ का प्रयोग व्याकरण के विरुद्ध जान पड़ता है।”[220]

श्रीधर पाठक की महत्त्वपूर्ण कृतियों में ‘उजाड़ ग्राम’ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस कृति का अनुवाद पाठक जी ने इसकी लोकप्रियता को ध्यान में रखकर किया होगा। यह अनूदित कृति हिन्दी में भी खूब चर्चित रही। माधवराव सप्रे इस रचना की समीक्षा करते हुए इस बात पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि कृति का अपने मूल भाषा में कई संस्करण आये पर हिन्दी में ग्यारह साल होने पर पर भी अब तक इसका दूसरा संस्करण न आ सका। माधवराव सप्रे अधिक संस्करण छपने वाली किताबों को महत्त्वपूर्ण किताब भी नहीं मानते क्योंकि समाज में सस्ते साहित्य की लोकप्रियता आज भी खूब है जबकि एक उच्च कोटि का साहित्य जो समाज को जगाता है, जिस पर लोग बहुत ही कम ध्यान देते हैं। उन्होंने लिखा है, “हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि किसी पुस्तक की योग्यता उसके कई बार छपने से ही मालूम होती वहै। ‘मोती बिनौल का झगड़ा’, ‘श्रृंगार बत्तीसी’, ‘दानलीला’, ‘हनुमान चालीसा’,

[219] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय, ‘माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन’- पृष्ठ सं. 194 -195

[220] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय, ‘माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन’- पृष्ठ सं. 195

‘कजली’, ‘लैला मजनू’ , ‘लावनी’, ‘इन्दरसभा’, ‘गुलबकावली’ आदि कई पुस्तकें कई बार छापी जाती हैं।”[221]

माधवराव सप्रे कवि और कविता के विषय को लेकर गंभीर हैं, वे निरर्थक विषय पर की गई तुकबंदी को कविता नहीं मानते, “आजकल हिन्दुस्तान में काव्य रस के विषय में बड़ी गड़बड़ मच गयी है। अर्थ की गंभीरता, नैसर्गिक वर्णन की कुशलता, पद की सुंदरता और अलंकार की उपयुक्तता पर तो कोई भी ध्यान नहीं देता, तुक में तुक मिलाकर शब्दों के आडम्बर और पदों के बैठाने में ही कई होनहार तरुण कवियों ने अपनी सारी बुद्धि उलझा रखी है।”[222]

माधवराव सप्रे के पास छपने के लिए परम्परागत विषयों पर लिखी रचनाओं की बाढ़ सी आती थी, जिससे वे सभी को आधुनिक विषयों पर लिखने के लिए कहते थे और जो आधुनिक समस्याओं पर लिखता उसकी रचनाओं को अपनी पत्रिका में जगह देते। वे अन्य लेखकों में नए विषयों को प्रचारित करने के लिए श्रीधर पाठक की रचनाओं की समीक्षा करते हैं क्योंकि श्रीधर पाठक ने नए-नए विषयों पर अपनी लेखनी चलायी थी। माधवराव सप्रे लिखते हैं, “ऐसे समय पर पाठक जी का काव्यक्षेत्र में उपस्थित होना और अनुभूत नूतन मार्ग की दिशा बतला देना इस देश के लिए परम सौभाग्य का चिन्ह है। यह बात सब प्रकार से प्रशंसा योग्य है कि पाठकजी ने श्रृंगार, अत्युक्ति और शुष्क अलंकार के चटकीले और बनावटी विषयों को छोड़, रसीली, हृदयग्राहिणी और स्वाभाविक भाषा की काव्य रचना करने में अपनी ईश्वरदत्त कवित्व शक्ति का अच्छा उपयोग किया।”[223]

माधवराव सप्रे स्वयं कई मराठी ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद कर चुके थे। इसलिए वे अनुवाद में होने वाली कठिनाईयों से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने ‘उजाड़ ग्राम’ की भूमिका में अनुवाद की समस्याओं के बारे में बताया है कि एक देश के काव्य का, जिसमें वहाँ

---

[221] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय, ‘माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन’ -पृष्ठ सं. 197

[222] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय ‘माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन’ पृष्ठ सं. 198

[223] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय ‘माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन’ पृष्ठ सं. 198

की जातीय बातें विशेष हों, दूसरे देश की भाषा के पद्य में अनुवाद कर, पूर्ण रस दिखा देना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन कार्य है।

माधवराव सप्रे ने 'उजाड़ ग्राम' के नाम से अनूदित मूल कृति 'The Deserted Village' का भी अध्ययन किया है जिससे वे अपने पाठकों से यह बता सकें कि उनके द्वारा आलोच्य ग्रन्थ के साथ अनुवादक कितना न्याय कर पाया है। वे पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि अनूदित रचना के भाव में मूल रचना का ही भाव अपने प्रभावशाली रूप में उपस्थित है। मूल रचना की ही तरह अनूदित कविता भी अपने पाठकों पर वही प्रभाव डालने में सक्षम है।

माधवराव सप्रे उदाहरण देते हैं –

"How often have I blesse'd the coming day,

When toil remitting lent its turn to play.

कितिक बार पुनि पेख्यो है वा दिन को आवन।

जा दिन श्रम के ठौर खेल मचतौ मनभावन।"[224]

अंग्रेजी के 'उजाड़ ग्राम' में चार सौ तीस पद्य हैं जबकि हिन्दी अनूदित रूप में इसके भाव के पल्लवन पांच सौ चौदह पद्यों में हुआ है। 'उजाड़ ग्राम' पर माधवराव सप्रे की अधूरी समीक्षा मिली है, वे इसे पूर्ण ज़रूर किये होंगे पर हमें उपलब्ध नहीं है। निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाएगा कि उन्होंने 'उजाड़ ग्राम' का कितना गहन अध्ययन किया था, "ये गोल्डस्मिथ के 'I'll fares the land, to hastening ills a prey' आदि अत्यंत प्रसिद्ध छह पंक्तियों का भाव कैसी मार्मिकता से स्पष्ट करती है ! जी चाहता है कि उन छहों पंक्तियों को उठाकर यहाँ रख दें। पर क्या करें ? स्थान की संकीर्णता से यह इच्छा हमारे मन-की-मन में ही रह जाती है। और देखिए, सातवें पृष्ठ पर एक सौ ग्यारह से एक सौ सोलह तक, आठवें पृष्ठ

[224] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 200

पर एक सौ इकतीस से एक सौ चौंतीस तक, तेरहवें पृष्ठ पर दो सौ उन्नीस से दो सौ बाईस तक, पन्द्रहवें पृष्ठ पर दो सौ तिरसठ से दो सौ छियासठ तक, सत्रहवें दो सौ उन्नीस से दो सौ छियानबे तक और फिर उन्नीसवें से तीसवें पृष्ठ तक सब अंग्रेजी के पंक्ति-प्रति-पंक्ति का अनुवाद है।"[225]

अपने समय के प्रभावशाली आलोचकों में शुमार मिश्र बंधुओं ने 'लवकुश चरित्र' नाम से पौराणिक विषय पर एक ग्रन्थ लिखा जिसकी लोगों ने खूब प्रशंसा की। इन प्रशंसकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी भी हैं वे लिखते हैं 'आपकी कविता की समलोचना ही क्या ! वह सर्वतो भाव से प्रशंसनीय है।'

माधवराव सप्रे 'लवकुश चरित्र' की आलोचना करते हुए पहले तो डिप्टी कलेक्टर श्याम बिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र के काव्य विषय को लेकर चिंता जाहिर करते हैं कि जब आधुनिक शिक्षा प्राप्त विद्वान लोग अपने आस-पास के विषयों को अपना काव्य विषय नहीं बनाते, इससे तो उनकी समाज के प्रति उदासीनता ही परिलक्षित होती है। माधवराव सप्रे उन इतिहास प्रसिद्ध कवियों की ख्याति का आधार बताते हैं कि वही कवि महान हुआ है जिसने अपने समय को कलम बद्ध किया है, "यूनानी कवियों ने जो काव्य-ग्रंथ लिखा है, वे प्राय: ऐसे ही हैं कि जो उनके उस समय के देश और स्थिति का चित्र प्रकट करते हैं; और इसलिए होमर आदि कवियों के ग्रन्थ अभी तक बड़ी रुचि से पढ़े जाते हैं। मिल्टन को भी अपने समय के लोगों की रुचि के अनुसार ही कविता बनानी पड़ी।"[226] जो रचनाकार अपनी कृति के प्रति गंभीर है वह विषय निर्धारित करने में बहुत समय लगाता है और उस विषय से सम्बन्धित अन्य ग्रंथो का अध्ययन करता है जिससे वह विभिन्न पहलुओं पर बराबर ध्यान दे सके तभी तो वह कृति कालजयी सिद्ध होगी।

---

[225] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं.मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 200

[226] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 205

'लवकुश चरित्र' जैसे विषय पर लिखने के औचित्य को माधवराव सप्रे अपनी आलोचना में प्रश्नांकित करते हैं। उनका मानना है कि यदि कवि को पौराणिक विषय ही अच्छा लगता है तो वह पौराणिक विषय को आधुनिक सन्दर्भ में लिखे जैसे माइकल मधुसुदन दत्त ने लिखा है। आज के समय में पौराणिक विषयों पर लिखना बुद्धि विलास ही है। 'लवकुश चरित्र' में मिश्र बंधुओं ने कुछ अपनी तरफ़ से कथा गढ़ डाली है जो अब तक के रामकथा में नहीं मिलती जैसे सीता का परित्याग करते समय सीता को पता नहीं था कि उन्हें परित्याग किया गया। दूसरा, लव–कुश को युद्ध करने की आज्ञा सीता ने दी, "सारांश यह कि मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ में निराधार बातों का वर्णन करके फ़जूल आपत्ति खड़ी कर ली है।"[227]

माधवराव सप्रे ने 'लवकुश चरित्र' का विषद अध्ययन करके यह पाया कि यह ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों से किसी मायने में विशिष्ट नहीं है फिर भी मिश्र बंधुओं ने कई मार्मिक जगहों पर वृहद् वर्णन नहीं किया है जैसे लव–कुश का बाल्य काल, प्रकृति चित्रण जहाँ वृहद् वर्णन करना था वहाँ सूचनात्मक ढंग से काव्य रचना की है। जहाँ सूचनात्मक ढंग को अपनाकर काव्य को आगे बढ़ाना था वहाँ वृहद् वर्णन करने के लिए अस्त्र–शस्त्र के विभिन्न नाम गिनाना भद्दा हो गया है। माधवराव सप्रे के शब्दों में, "अधिक विस्तार का प्रयोजन नहीं है। विज्ञ पाठकों को इतने ही से विदित हो जाएगा कि मिश्रबंधुओं ने रामचंद्र जी के आदर्श चरित्र पर कुछ कम ध्यान दिया है, इसी से उन्हें ऐसे आदर्श राजपुरुष के स्वार्थ–त्यागी कार्य में भी एक आपत्ति दिखाई दी और इसी से 'लवकुश चरित्र' का यह कथा-भाग जितना उज्जवल, उदात्त, मनोहर और हृदयंगम होना चाहिए था, उतना उनसे न हो सका।"[228]

माधवराव सप्रे जब किसी भी कृति की आलोचना करते हैं तो इन बातों का ध्यान रखते हैं- आधुनिक काव्य विषय, मानवीय विषय, प्रकृति चित्रण, राष्ट्रीय चेतना आदि।

[227] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' - पृष्ठ सं. 216

[228] प्रधान संपादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 209

रचना में इन विषयों में से कोई न मिलने पर वे उस कृति की निष्ठुर आलोचना करते हैं। ऐसी काव्य कृतियों पर बस एक टिप्पणी भर करके क्षोभ व्यक्त करते हुए अपने को ज़्यादा लिखने में खुद को असमर्थ पाते हैं। ऐसी ही रचनाओं में 'ब्याह बत्तीसी', 'श्रीमधुरमंजरी', 'हास्य मंजरी' और 'श्रृंगार बत्तीसी' है। माधवराव सप्रे ने 'श्रृंगार बत्तीसी' की समीक्षा करते हुए लिखा है- "बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारे कवियों में एक ही एक विषय पर लेखनी चलने में कैसे आनंद प्राप्त होता है ! क्या श्रृंगार विषय पर आज तक कोई पुस्तक न थी कि जिससे इसके लिखने और छपवाने की आवश्यकता हुई ? जान पड़ता है कि हमारे कवियों को कोई दूसरा विषय नहीं मिलता इसी से वे बड़े श्रृंगार प्रिय हो गए। क्यों न हो ? इसमें न तो मूल काव्यशक्ति की आवश्यकता है और न बड़े प्रतिभाशाली विद्वान की।"[229]

'घन विजय' श्रीधर पाठक की ब्रजभाषा में लिखित काव्य रचना है। सावन भादों में वर्षा न होने से विचलित कवि वर्षा के लिए प्रार्थना करता है और वर्षा के आभाव में जन जीवन की असहाय अवस्था का कवि ने बड़ा ही हृदयविदारक चित्रण किया है, "सरवर सरित सुखानी, रजमय मलिन अकास। ऊबि अवनि अकुलानी, खग मृग मरि रहे प्यास।"[230]

माधवराव सप्रे ने इस काव्यालोचन में पाया कि श्रीधर पाठक के काव्य विषय नवीन विषयों और सामाजिक कुरीतियों को उजागर करने वाले होते हैं। इसी काव्य में 'बाल विधवाओं की दीन और दु:खित अवस्था पर कवि ने कई जगह हृदयगत सहानुभूति दर्शायी है।'

माधवराव सप्रे ने 'घन विजय' की आलोचना करते हुए श्रीधर पाठक पर लगे आशावादी होने के आरोप का खंडन वर्ड्सवर्थ के हवाले से किया है। वर्ड्सवर्थ को भी संसार की सब बातें भली लगती हैं। यह आरोप तो वर्ड्सवर्थ पर भी लगाया गया है तो क्या उनके साहित्यिक अवदान से कोई नकार सकता है ? ऐसे ही कुछ लोग श्रीधर पाठक को

---

[229] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 218 -219
[230] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 221

निराशावादी भी कहते हैं उसका उत्तर माधवराव सप्रे शेली पर लगे इसी आरोप का जिक्र करते हैं। अर्थात् जब कोई कवि अपने समय के विभिन्न मुद्दों से अपने पाठकों को रूबरू कराता है तो ऐसे आरोप उसके कवि रूप को छोटा नहीं कर पाते, "यह तो असाधारण व्यक्ति का ही काम है कि विविध भाँति की विपरीत अवस्था में अनेकानेक मानसिक क्लेशों को सहन करने पर भी अपने चित्त को समतोल रखे, आतंरिक उद्वेगों का आन्दोलन होने पर भी विचार-शक्ति स्थिर रखे और दुःखातिशय से संतप्त हो जाने पर भी अपने हृदयमें आशा को बनाए रहे। हमें आशा है कि हमारे कविवर पंडित जी अपने इस optimism को भी न छोड़ेंगे।"[231]

माधवराव सप्रे ने काव्यालोचन तो उभरते हुए कवियों और उनकी रचनाओं पर किया ही था, पर इसके साथ ही साथ अपने अध्ययन के विस्तार को बढ़ाने और पाठकों को संस्कृत साहित्य में मानवीय मर्यादा और छल छद्म से पाठकों को परिचित कराने के लिए दो संस्कृत के कवियों को लेते हैं– कालिदास और दंडी।

माधवराव सप्रे संस्कृत के नाटककार कालिदास की रचनाओं पर 'कालिदास के काव्य में नीतिबोध' निबंध लिखकर सतीप्रथा जैसी विभिन्न कुरीतियों को अनीति बताया है।

माधवराव सप्रे अच्छे काव्य को द्रव्य प्राप्ति या पुत्र प्राप्ति से अधिक आनंदायी बताते हैं। कालिदास के साहित्य में नीतिगत पात्रों को ही महत्त्व दिया है। इनके सभी पात्र दयालु और न्याय प्रिय हैं। राजा कर (टैक्स) द्वारा प्राप्त धन को प्रजाहित में खर्च करने में विश्वास करता है। माधवराव सप्रे ने नीति के चार प्रकार बताएँ हैं, "स्थूल दृष्टि से देखने से नीति के चार प्रकार हैं। पहली आत्मविषयक नीति, दूसरी कौटुम्बिक नीति, तीसरी सामाजिक नीति और चौथी राजकीय नीति।"[232]

---

[231] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 221-222
[232] सं. विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं. 114

आत्मविषयक नीति के अंतर्गत कालिदास आत्मरक्षा द्रव्यार्जन और विनयशीलता को उन्होंनें सर्वोपरि माना है। कालिदास ने अपने साहित्य में सती प्रथा का खुलकर विरोध तो नहीं किया है पर अपने किसी भी पात्र को सती होते नहीं दिखाया है । जैसे –जब शंकर भगवान ने कामदेव को भस्म कर दिया तब रति सती होने को उद्यत हो जाती हैं, उन्हें रोकते हुए आकशवाणी द्वारा आश्वासन् देते हैं कि तेरा पति तुझे दुबारा मिलेगा। ऐसे ही इंदुमती की मृत्यु से विह्वल राज अज को चिता में जाते हुए तो दिखाया गया है पर उन्हीं अज को बहुत बाद में भागीरथ के साथ समाधि लेते हुए दिखाया गया है अर्थात् अज पत्नी वियोग में प्राण त्याग नहीं करते।

कालिदास ने द्रव्यार्जन को मनुष्य के मुख्य कर्तव्यों में से एक माना है। कालिदास को मनुष्य के व्यक्तिगत गुणों में विनयशील व्यक्ति बहुत प्रिय है। जब शत्रुघ्ना ने लवणा सुर का वध किया था इससे प्रसन्न होकर ऋषियों ने उनका खूब सत्कार किया जिससे उनका सर लज्जा से झुक गया था।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में कौटुम्बिक नीति का खूब बखान किया है और उसकी ठोस ज़मीन भी तैयार करते हैं । माधवराव सप्रे लिखते हैं, “शकुंतला, सीता और पार्वती का पातिव्रत्य वर्णन करके कालिदास ने कितने अच्छे आदर्श जगत की स्त्रियों के सामने रख दिए हैं ? राजा अज ने दूसरा विवाह नहीं किया और सीता का परित्याग करने पर रामचंद्र ने विवाह न करके अश्वमेध–यज्ञ के समय धर्माचरण के लिए सुवर्ण की प्रतिमा बनवाई। ये एक पत्नीव्रत के उत्तम और स्पष्ट उदाहरण है।”[233]

माधवराव सप्रे ने कालिदास के साहित्य में आये पात्रों की सामाजिकता पर विचार किया है और उन्हें एक अच्छे सामाज की ज़रूरत बताया है । एक सामाजिक इंसान सत्यभाषण, शिष्टाचार, औदार्य, आतिथ्य आदि में विश्वास करता है। ऐसे पात्रों की कालिदास

[233] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन'- पृष्ठ सं. 118

ने अपनी रचानाओं में खूब प्रशंसा की है। जैसे- दशरथ वचन को पूरा करने के लिए अपने प्राण तक त्याग दिए।

माधवराव सप्रे चौथी नीति राजनीति को मानते हैं। और कालिदास की रचनाओं में स्वच्छ राजनीति को लक्षित करते हुए लिखा है, "कवि ने कहा है कि शूरता के साथ–साथ सच्ची नीति का आश्रय भी अवश्य चाहिए। नीति रहित शूरता व्यघ्रादि हिंसा पशुओं की क्रूरता के समान है और शूरता के अभाव में शुष्क नीति क्लीवता की दर्शक है।"[234]

माधवराव सप्रे ने अपनी आलोचना में दो संस्कृत आचार्यों को लिया है एक, कालिदास के पात्रों में नीति विषयक गुणों का विश्लेषण करते हैं तो दूसरे दंडी के पात्रों में मानवीय सुलभ चपलता और खलनायक जैसे नायकों का चरित्र उद्घाटन करते हैं।

माधवराव सप्रे संस्कृत आचार्य दंडी के 'दशकुमार चरितम' पर प्रो. विल्सन के इस मत का समर्थन नहीं करते कि दंडी का समय दसवीं सदी है। क्योंकि 'दशकुमार चरितम' की भाषा सरलता लिए हुए है इसकी कथावस्तु और भाषा पंचतंत्र के निकट मानते हैं और साथ ही 'कादंबरी' को लोग उसकी क्लिष्टता से जानते हैं तो भाषा के स्तर से दंडी, बाण के समय के नहीं हैं। माधवराव सप्रे 'दशकुमार चरितम' का विश्लेषण करते हुए पाते हैं कि इस पुस्तक में बौद्ध धर्म की स्त्रियों से दुति का काम करवाया गया है अर्थात् यह रचना बौद्ध धर्म के समय की जान पड़ती है। दंडी ने 'दशकुमार चरितम' को स्वयं लिखा है इसमें भी उनको संदेह है – 'हमें पूर्ण विश्वास है कि 'पूर्वपीठिका' दंडी की लिखी हुई नहीं है।'[235]

'दशकुमार चरितम' में दंडी ने विभिन्न कथाओं के माध्यम से अनैतिकता पर विचार किया है। दंडी के पात्र अपने हित में समय को मोड़ने के लिए अनैतिक कार्य करने में नहीं हिचकते। जैसे उपहार वर्मा अपने चचेरे भाई की हत्या कर उसकी पत्नी से विवाह कर लेता है। माधवराव सप्रे इस पर लिखते हैं, " निःसंदेह उन्हें पढ़ ऐसा विरला ही पाठक होगा जिसे

---

[234] सं. विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं. 120

[235] प्रधान संपादक नामवर सिंह संपदक मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 252

उनसे घृणा न होती हो। यह कथा इस बात को अवश्य प्रतिपादित करती है कि जिस समय ऐसी भयावह अधम घटनाएँ एवं धर्मच्युति चारो ओर आलोक पथ में आती थीं, वह समय बड़ा कठिन होगा !"[236]

दंडी के 'दशकुमार चरितम' का पद लालित्य बहुत ही प्रसिद्ध है, माधवराव सप्रे इसको और स्पष्ट करने के लिए वहाँ से श्रृंगारिक पदों का उद्धरण देते हैं –

"श्रुत्वा तु भुवनवृत्तान्त मुत्तमांगनविस्मयविकासिताक्षी सस्मितमिदं भाषत । दयित ! त्वत्प्रसादाद्य में चरितार्था श्रोत्रवृत्तिरद्य मे मनसि तमोअपहस्त्वया दत्तोज्ञानप्रदीप: पक्वमिदानींत्वत्पादपद्मपरिचर्य्याफलं अरुचय त्वत्प्रसादस्य किमुपकृत्य प्रत्युकृवती भवेयम।"[237]

अर्थात् चौदहों भुवनों का वृत्तान्त सुनकर उस सुंदर रमणी के नेत्र आश्चर्य से भर उठे। और उसने मुस्कुराते हुए कहा–प्रियतम ! आपकी कृपा से मैंने सब बात सुन लीं। आज आपने मेरे अंधेरे हृदय में ज्ञान का दीपक जला दिया। आपके चरणों की सेवा का फल परिपक्व हो गया। आपने मुझ पर जो कृपा की है, उसके मैं कौन उपकार करके अपने को धन्य समझूं। मेरे पास तो कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो आपकी न हो। फिर भी ध्यान से देखने पर मुझे ऐसा लगता है कि मेरा आधिपत्य भी किसी वस्तु पर अवश्य है।

माधवराव सप्रे इस पद की तुलना शेक्सपियर के 'वेनिस नगर का व्यापारी' से करते हैं जहाँ नायिका, नायक से कहती है -

"Myself and what is mine, to you and your

Is now converted; but now I was the loard

Of this fair mansion, master to my servent,

Queen over myself; and even now, but how,

[236] प्रधान संपादक नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं. 256

[237] प्रधान संपादक नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन संपादक' पृष्ठ सं. 259

This house, these servent, and this same my self

Are yours, my loard !"[238]

**4.3 पुस्तक समीक्षा :**

माधवराव सप्रे ने पत्रकार के रूप में अपनी पत्रिका में कई पुस्तकों की समीक्षा की है और कुछ पुस्तकों की स्वतंत्र और गहन समीक्षा कर उसका आदर्श पाठकों के बीच रखा है। वे पुस्तक समीक्षा के साथ–साथ उसकी भाषा को लेकर बहुत गंभीर थे। वे 'भाषा चंद्रिका' पत्रिका की भाषा का विश्लेषण कर समीक्षात्मक टिप्पणी करते हैं और साहित्य से इतर विज्ञापन की पुस्तकों का परिचयात्मक समीक्षा करते हुए अपनी सीमा बताते हुए नहीं हिचकते। जैसे 'ढोरो का इलाज' पुस्तक पर लिखते हैं कि वे एक संपादक हैं न कि आयुर्वेद जैसे विषयों पर दखल रखते हैं। इस पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए इसका पता तो देते हैं पर साथ ही संपादकों को ऐसी किताबों पर समीक्षा करने से बचने की सलाह देते हैं जो उनके अध्ययन क्षेत्र से बाहर हो।

माधवराव सप्रे सकारात्मक आलोचक हैं। हरिकृष्ण अग्रवाल द्वारा निकाली जा रही पत्रिका 'भाषा चन्द्रिका' पर समीक्षा कर उसकी व्याकरणिक त्रुटियों का उद्धरण देते हुए उन्होंने एक लेख लिखा। जिसमें इस पत्रिका के व्याकरणिक दोषों के होते हुए भी इस पत्रिका को त्याज्य नहीं मानते। माधवराव सप्रे परंपरा से चले आ रहे शब्दों को हिन्दी में ग्रहण करने के पक्षधर हैं। उनका मानना है की लोकजीवन में ग्राह्य उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेजी के शब्दों से हिन्दी की लोकग्राह्य क्षमता बढ़ेगी।

'भाषा चन्द्रिका' के संपादक हरिकृष्ण अग्रवाल ने हिन्दी पर आरोप लगाया था कि हिन्दी भाषा के पास अपना शब्द भण्डार नहीं है, इसमें अंग्रेजी और उर्दू की भाषा से उधार

---

[238] प्रधान संम्पादक नामवर सिंह सं. मैनेजर पाण्डेय 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन संपादक' पृष्ठ सं. 259

लिए शब्दों की बहुलता है। माधवराव सप्रे उनकी दलीलों से सहमत नहीं होते और वे उनके भाषा के प्रति प्यार देखकर अचंभित भी होते हैं । उनके अनुसार इस पत्रिका में ऐसे शब्दों के प्रयोग हैं जो आज तक हिन्दी भाषा में कहीं नहीं हुए हैं। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "इस पत्रिका में व्याकरण संबंधी अशुद्धियों के अतिरिक्त संस्कृत के बड़े-बड़े कठिन शब्द और लम्बे -लम्बे समास इतने भरे हैं कि भाषा की स्वाभाविक सुंदरता बिल्कुल नष्ट हो गई है और उसमें एक प्रकार की क्लिष्टता आ जाने से लेखक का भाव भी अत्यंत दुर्बोध हो गया है।"[239]

माधवराव सप्रे जिस भी पुस्तक की समीक्षा करते हैं, उनका विशेष ध्यान मात्रात्मक त्रुटियों पर अधिक दिखाई देता है। उस समय यही काम महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से कर रहे थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी और माधवराव सप्रे के बहुत सारे विषयों में समानता थी। संपादक, अनुवादक और आलोचक के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार–प्रसार 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी को वहाँ पहले से स्थापित प्रेस की पत्रिका 'सरस्वती' का संपादक बनाया गया। जबकि माधवराव सप्रे अपनी पूँजी से हिन्दी भाषा और साहित्य को स्थापित करने में लगे रहे। बाद में राजद्रोह के आरोप में जेल भी गए। विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं "मूलतः मराठी भाषी होते हुए उन्होंने हिन्दी भाषा के स्वरूप का किस प्रकार साफ़–सुथरा मानक रूप निर्धारित किया और किस प्रकार हिन्दी की मूल्य-मर्यादा के लिए जीवन भर प्रयत्न किया, यह विस्मयजनक है। यह उल्लेखनीय है कि 'सरस्वती' और उनके द्वारा संपादित 'छत्तीसगढ़ मित्र' सन् 1900 में लगभग एक साथ निकले। यह अत्यंत दुर्भाग्य पूर्ण है कि द्विवेदी जी की तरह ही दिग्दर्शक को लोगों ने उतना महत्त्व नहीं दिया।"[240]

माधवराव सप्रे अपने समय में लिखी जा रही असामाजिक पुस्तकों के विषयों पर कड़ी आपत्ति दर्ज करते हैं। उनका समय परतंत्रता का समय था और इस समय के लेखक पौराणिक

---

[239] संपादक देवीप्रसाद वर्मा ' माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.226

[240] संपादक देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' प्रोचन से

काव्य और जासूसी उपन्यास लिखने में लगे जबकि समय की माँग यह थी कि भारतीय जनता को उनकी परतंत्रता को याद दिलाकर उन्हें जगाने की थी। उदाहरण के लिए ‘सुंदरी’ उपन्यास की कथावस्तु और पात्र और घटनाएँ आदि अस्वाभाविक हैं।

माधवराव सप्रे अतीतजीवी नहीं थे। वे अतीत के गौरवगान में उतना ही विश्वास करते हैं जहाँ तक उस अतीत से हमें आगे बढ़ने का संबल मिले। दूसरों को कमतर दिखाने के लिए अतीत का जिक्र करना अतीतजीवी होना है। वे ‘भारत गौरवादर्श’ के हिन्दी अनुवादक पंडित सूर्यप्रसाद मिश्र की पुस्तक पढ़ते हुए पाते हैं कि इस किताब में भारतीयों को मिथ्याभिमानी बनाने की बेकार कोशिश की गयी है। ‘भारत गौरवादर्श’ में यह बताया गया है कि भारत पहले विद्या, आयुर्विद्या, इंजीनियरी, राजनीति शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और युद्ध विद्या, स्त्री शिक्षा और दूरदर्शक यंत्र में समृद्ध था। अनुवादक ने यह भी बताया है कि महाभारत काल में भारत के पास दूरबीन थी। लेखक जिस पद्य के आधार पर संजय के पास दूरबीन होने का प्रमाण देता है वह यह है –

‘चक्षुषा सञ्जयो राजन दिव्यमैव समन्वितिः।
कथयिष्मिति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति॥’

माधवराव सप्रे इस पद्य का अर्थ बताते हैं कि इसमें कहीं भी दूरबीन जैसी वस्तु का जिक्र नहीं किया गया है। उन्होंने मिथ्यभिमानियों को समझाते हुए कहा है, “ पृथ्वी पर आज तक जितने राष्ट्र हो गए हैं, उनमें से किसी एक का भी गौरव ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध करना है तो उस राष्ट्र का वैसा ही वर्णन करना चाहिए जैसा की इतिहासों में हो। कोई भी राष्ट्र एकाकी उन्नति के शिखर पर पहुँच नहीं सकता और न किसी एक ही स्थान में सब प्रकार की उन्नति प्राप्त हो सकती है।”[241]

.[241] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, ‘माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन’ पृष्ठ सं 240

माधवराव सप्रे अपनी बात को और अच्छी तरह समझाने के लिए क्रामवेल का उदाहरण देते हैं जिन्होंने एक बार पेंटर से कहा कि 'मैं जैसा हूँ मुझे वैसा ही रंगना; और तुम मेरे चेहरे पर के दाग और झुर्रियां छोड़ दोगे तो मैं तुमको एक भी पैसा न दूंगा।' माधवराव सप्रे 'भारत गौरवादर्श' में आलोचक के कर्तव्यों को यों बताते हैं, "समालोचक का काम 'भारत मित्र' ने इस प्रकार लिखा है-जैसे जौहरी पार्थिव रत्नों की परख कर उनका मूल्य निर्धारित करता है उसी प्रकार साहित्य निष्णात विद्वान साहित्य के रत्नों की परीक्षा कर उनके गुण-दोष दिखलाते और मूल्य बतलाते हैं।"[242]

माधवराव सप्रे 'हास्य मंजरी' पुस्तक की समीक्षा करते हुए, इस किताब की विषय वस्तु की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस किताब में कैसे हँसी–हँसी में लोगों की कुत्सितमनोवृत्तियों को जगाया गया है ? 'हँसी और शिक्षा चतुराई से प्राप्त होती है, न कि अश्लीलता, निरुपयोगिता और दुर्नीति से।'

माधवराव सप्रे ने 'हास्य मंजरी' किताब की भाषा को दोष पूर्ण माना है क्योंकि इसमें उर्दू और फ़ारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेखक का शीर्षक और विषयवस्तु में कोई तारतम्य नहीं है। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "हम उर्दू या फ़ारसी के उन शब्दों से विरोध नहीं रखते, जो हिन्दी की बोलचाल में कई बरसों तक उपयुक्त हो जाने के कारण अब बिल्कुल और साधारण और परिचित हो गए हैं,...परंतु अप्रासंगिक स्थलों में, और बिना हेतु, किसी पराई भाषा का एक शब्द भी लेना हमें स्वीकार नहीं है।"[243]

माधवराव सप्रे मराठी भाषा में ज्योतिषशास्त्र के नवीनतम शोधों से प्रमाणित गणेश बापू जी केतकर के 'पंचांग' की आलोचना करते हुए पाया कि यह ग्रन्थ अपने पूर्वजों के मूल ग्रंथों से प्रमाणित है और इसकी भविष्यवाणी सही साबित हो रही है। गणेश बापू जी ज्योतिष से संबंधित तीन ग्रंथों की रचना की है 'ज्योतिष गणित', 'केतकी गणित' और 'वैजयंती'।

---

[242] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं 236

[243] प्रधान सं. नामवर सिंह, सं. मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन' पृष्ठ सं.234

इन्हीं ग्रंथों की सहायता से 'पंचांग' बनाया है । माधवराव सप्रे को आशा है कि यह पंचांग जल्दी ही लोकप्रिय होगा । पंचांग की भविष्यवाणी गलत साबित होने में हमारे पूर्वजों, ज्योतिषविदों की गलती नहीं है, गलत आज के ज्योतिषाचार्यों की व्याख्या है, "कालातिक्रम से ग्रह नक्षत्रादिकों की गति बदलती जाती है और हमारे दुर्भाग्य से वेध-विधि का लोप हो जाने से पंचांग बनाने के समय किसी ने भी इस बात पर विचार न किया कि पुराने ग्रंथों का काल- निर्णय यथार्थ है या नहीं।"[244]

माधवराव सप्रे, कामता प्रसाद गुरु द्वारा लिखित 'भाषा वाक्य पृथक्करण' पुस्तक की आलोचना करते हुए इस व्याकरणिक ग्रन्थ की प्रशंसा करते हैं साथ ही यह चिंता भी व्यक्त करते हैं कि हिन्दी में व्याकरण की बहुत कम किताबें हैं और आज के हिन्दी साहित्य और भाषा के विद्वान इस ओर अपना ध्यान ही नहीं ले जाना चाहते । मिश्रबंधु 'हिन्दी काव्य' शीर्षक से हिन्दी व्याकरण पर सरसरी नज़र डालते हैं जो व्याकरणिक अभाव को दूर करने में सक्षम नहीं है । हिन्दी में व्याकरणिक त्रुटियों को दूर करने, साहित्य को समृद्ध और राष्ट्रभाषा बनाने में व्याकरणिक ग्रंथों का बिपुल मात्रा में होना ज़रूरी है । माधवराव सप्रे उक्त पुस्तक के बारे में लिखते हैं, "यह पुस्तक प्रो. आगरकर, मि. पाध्ये, मारले और प्लाट आदि कई विद्वानों के ग्रंथों की सहायता से बनाई गई है । इसके विषयों के विभाग, परिभाषाओं की रचना और नियमों को सरल रीति से समझा देने की हिकमत को देखकर कोई भी कह देगा कि निस्संदेह यह हिन्दी विद्यार्थियों  के बड़े काम की है।"[245]

माधवराव सप्रे 'भाषा वाक्य पृथक्करण' के लेखक को प्रोत्साहित करने के लिए मध्य प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के शिक्षा विभाग से अनुरोध करते हैं कि इस पुस्तक को अपने–अपने पाठ्य क्रम में शामिल करें । माधवराव सप्रे यह मानते हैं कि विभिन्न किताबों में विभिन्न विद्वानों के अपने–अपने मत हैं जो ज़रूरी नहीं की वह सर्वमान्य हों । ऐसे

---

[244] संपादक देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं.213

[245] संपादक देवीप्रसाद वर्मा,  'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.247

ही इस किताब में ऐसे कुछ तथ्य हैं जिन पर बहस की जा सकती है। माधवराव सप्रे हिन्दी में कम व्याकरणिक पुस्तकों का हवाला देते हुए बहस में रुचि नहीं लेते पर यह माना है कि पुस्तक के कुछ शीर्षक को पाठकों को समझने में दिक्कत होगी जैसे - 'वाक्यों के रूप' और 'वाक्यों के भेद' । लेखक से इन शीर्षकों को और स्पष्ट करने का अनुरोध करते हैं। उन्होंने लिखा है, "इस प्रकार के और भी कई उदाहारण बतलाए जा सकते हैं, परंतु हम अभी इस मतभेद के वाद-विवाद में पड़ना नहीं चाहते; क्योंकि अभी हिन्दी में इस विषय की जितनी चाहिए उतनी पुस्तकें ही नहीं बनी हैं। जब व्याकरण के दो चार दो चार बड़े–बड़े ग्रन्थ हिन्दी में बन जाएँ, तब इस मतभेद का निर्णय कर लेने के लिए एक अच्छा अवसर मिल जायेगा। अभी इतना ही बस।"[246]

माधवराव सप्रे, रामप्रकाश लाल की पुस्तक 'बालाबोधिनी' को पढ़ते हुए पाया कि यह किताब पुरुषों की रूढ़िवादी मानसिकता को नैतिकता के नाम पर सही ठहराने की कोशिश है। इस किताब में नैतिक शिक्षा के माध्यम से स्त्रियों को पुरुषों के वश में होने की बात की गयी है साथ ही स्वास्थ्य, गृहस्थाश्रम में संतोष, पवित्रता, धर्म और रोग चिकित्सा जैसे विषयों पर ज्ञानोपयोगी बाते भी हैं।

इस किताब में स्त्रियों को अपने पति और अपने घर के पुरुषों के अधीन होने की बात बताई गयी है। माधवराव सप्रे को यह कत्तई भी बर्दाश्त नहीं है कि कोई क्यों किसी के अधीन रहे। 'पुरुष ही स्त्रियों के अधीन क्यों न रहे '- तत्कालीन समय में यह कहना अपने-आप में एक क्रांतिकारी विचार था। उनका मानना था कि किसी को भी जबरन किसी के अधीन होने की बात ही प्रकृति के विरुद्ध है। पति के परम ज्ञानी गुरु मानने वाली बात पर सप्रे जी कहते हैं कि यदि पति नितांत मूर्ख ऐयाश जैसे अवगुणों से भरा हुआ हो तो उसका प्रतिकार करना ज़रूरी है।

[246] संपादक देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं.248

रामप्रकाश लाल का यह कहना कि 'जिसके वश में स्त्री नहीं रहती उसको कितना हीन होना पड़ता है !' इसका माधवराव सप्रे जवाब देते हुए लिखते हैं, "धन्य हैं ! अब तो पक्षपात की अंतिम सीमा हो चुकी है ! स्वामी यदि निपट मूर्ख रहे तो भी देवता ही मानना, भोर ही उठकर घर का झाड़न-बुहारन करना, घर के सब लोगों को स्नान करने के लिए पानी देना, सबकी धोतियाँ धोकर सूखा देना ...पाठकों, क्या यह पक्षपात और अन्याय नहीं है ? क्या स्त्री केवल सांसारिक सुख ही देनेवाली और घर की व्यवस्था रखने वाली एक दासी है ?"[247]

माधवराव सप्रे अपने समय की उन अंग्रेजी भाषा में लिखी किताबों की भी समीक्षा करते हैं जिसमें भारत विरोधी बातें होती थी। वे उस पुस्तक के उद्देश्य को अपने हिन्दी पाठकों से परिचित कराते हैं। ऐसी ही एक किताब 'Vernaculars as Media of Instruction in India school and college' है, जिसके लेखक पी. जी. मेहता हैं। माधवराव सप्रे इस पुस्तक में आयी विभिन्न बातों को समझाने और समाज को जगाने के उद्देश्य से 'राष्ट्रीयता की हानि' नाम से निबंध लिखा है।

उन्होंने 'राष्ट्रीयता की हानि' में मातृभाषा को प्राथमिकता देने के पक्ष में विभिन्न तर्क दिये हैं। माधवराव सप्रे भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रयोग की प्राथमिकता देखकर लेखक दुःखी हैं कि अब लोग अपने में घरों यहाँ तक की पत्रों में भी अंग्रेजी का प्रयोग करने लगे हैं। अंग्रेजी के अत्यधिक प्रयोग से ही हमें अपने प्राचीन ग्रन्थ कपोल कल्पित लगने लगे हैं। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग अपने ही देश में विदेशी जैसा व्यवहार करने में तनिक भी नहीं संकोच करते। स्वयं प्रकाश अपने उपन्यास 'ईंधन' में एक ऐसी ही घटना का जिक्र करते हैं। जब उपन्यास का मुख्य पात्र रोहित अमेरिका जाकर आता है तो वह बताता है कि अमेरिका से उसे यह ज्ञान मिला है की उसे, "बस करना यह था कि अपने इर्द-गिर्द एक छोटा सा अमेरिका बना लेना था

[247] संपादक देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं.251 -252

और इस बात का ध्यान रखना था कि शेष भारत जहाँ है वहाँ से एक सूत भी ऊपर उठ न पाये।"[248]

माधवराव सप्रे का मानना था कि अच्छे से अच्छा सेमिनार अंग्रेजी भाषा में होने के कारण समाज में उतना प्रभाव नहीं डाल पाता है जितना हिन्दी या मातृभाषा का पड़ता है। इस स्थिति को पहचान कर गाँधी जी ने स्पष्ट कहा है, "जो कोई काँग्रेस के आगामी अधिवेशन में हिन्दी न समझ सकेगा वह मेरे व्याख्यान से कुछ भी लाभ न उठा सकेगा।"[249]

भारत में कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय ग़ज़ब के अंग्रेजी के पक्षधर रहे हैं। उन्हें कोई परवाह नहीं है कि अंग्रेजी शिक्षा से राष्ट्रीयता को ख़तरा है। उन सबका मानना है कि वे अंग्रेजी भाषा का प्रयोग अपने ज्ञान के प्रदर्शन के लिए करते हैं, राष्ट्रीयता की हानि से उन्हें कोई मतलब नहीं है। माधवराव सप्रे बताते हैं कि अंग्रेजी भाषा में ज्ञान के लिए हम चाहे जितना प्रयत्न कर लें हम उस भाषा का सही मतलब तभी समझ सकते हैं जब हम अंग्रेजों के साथ अपनी ज़िंदगी का एक बड़ा भाग बिताया हो। भारतीयों को विदेशी भाषा को लेकर कई जगहों पर लज्जित भी होना पड़ जाता है। हमारे यहाँ के अंग्रेजी भाषा के विद्वान कौन यूरोप गया है ? इनके ज्ञान का मुख्य आधार यूरोपीय अध्यापक और कुछ पुस्तकालय की किताबें ही तो हैं। भारतीय अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की चाहत में अपनी भाषा और साहित्य के ज्ञान से वंचित रह जाता है।

विदेशी भाषा के प्रयोग से हम में स्वाभिमान की कमी हो जाती है। मातृभाषा और राष्ट्र भाषा में कोई संबंध स्थापित नहीं हो पाता है। शिक्षा का माध्यम भले ही विदेशी भाषा हो, पर स्वप्न और विचार तो मातृभाषा में आएगा जिसे विदेशी भाषा में अनुवाद करना पड़ता है। भारतीय समाज में अंग्रेजी भाषा को महत्त्व देने से हमारे बड़े विद्वान पंडित और मौलवी

---

248 स्वयं प्रकाश, 'ईंधन' उपन्यास पृष्ठ सं.162

249 सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' - पृष्ठ सं. 226

की योग्यता अंग्रेजी के प्राथमिक शिक्षक जो मात्र एफ. ए. पास है से कम मानी जाती है और पंडित जी और मौलवी जी को तनख़्वाह भी बहुत कम दी जाती है।

अंग्रेजी में शिक्षा होने की वजह से भारतीय अपनी मातृभाषा के महत्त्व को पहचान नहीं पा रहे हैं और न वे चाहते हैं कि विभिन्न अंग्रेजी के शोधपत्रों को अपनी भाषा में लिखकर उसको समृद्ध करें। जैसे जगदीशचन्द्र बसु विश्व के बड़े वैज्ञानिकों में से हैं वे भी अपने शोधपत्र को अंग्रेजी में लिखते हैं। यदि वे अपने शोध को बांग्ला भाषा में भी लिखे तो जल्दी ही अन्य भारतीय भाषाओं में उसका प्रसार हो जाएगा जिससे भारतीय मानस भी लाभान्वित हो सकेगा ।

माधवराव सप्रे सरकार की इस दलील से सहमत नहीं हैं कि मातृभाषा में किताबों की कमी के चलते उसे शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता। मातृभाषा में ग्रंथों का अभाव कोई बड़ी समस्या नहीं है क्योंकि जैसे ही सरकार मातृभाषा में शिक्षा देने की पहल करेगी वैसे ही विभिन्न भारतीय विद्वान् और अंग्रेज शिक्षाविद किताब तैयार करने में देर न लगायेंगे। ऐसा नहीं है कि माधवराव सप्रे अंग्रेजी भाषा के विरोधी थे और उसे भारत से बेदखल करने पर तुले थे वे तो बस आवश्यकता से अधिक इस भाषा के उपयोग से और इसके भावी ख़तरे से डरते थे। वे नई शिक्षा व्यवस्था का स्वागत करते हैं पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में हैं, "यदि इस देश के लिए किसी एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता ही है तो वह अंग्रेजी भाषा कदापि नहीं हो सकती। यह अधिकार हिन्दी भाषा का ही है। ...परंतु देशी भाषाओं के कट्टर प्रचारकों से सहमत होकर भी हम अंग्रेजी भाषा के पूर्ण विरोधी नहीं। स्मरण रहे कि इस भाषा का भारतवर्ष से बहिष्कार नहीं किया जा सकता और न इसका बहिष्कार करना हमारे लिए लाभदायक ही हो सकता है। भारतवासियों के राष्ट्रीय जीवन-मरण-रूप राजनैतिक प्रश्न का निर्णय इसी भाषा के द्वारा होगा।"[250]

[250] सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवराव सप्रे रचना संचयन'- पृष्ठ सं. 233

माधवराव सप्रे एक जागरूक रचनाकार और देशभक्त थे। उनके समय में देश या राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ भारत या विदेशों में कुछ लिखा जाता तो वे उसका जवाब निबंध लिखकर देते थे। ऐसी ही घटना मैसूर से निकलने वाली पत्रिका जिसका नाम 'Mysore Economic Journal' से संबन्धित है। इसमें एक लेख छपा जिसमें यह दावा किया गया था कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। यह विभिन्न मानव समूहों और विभिन्न भाषाओं का संगम है। इसलिए इस देश की भाषा अंग्रेजी ही हो सकती है।

माधवराव सप्रे ने इस लेख की समीक्षा 'भारत की एक राष्ट्रीयता' नामक निबंध में की है। जिसमें उन्होंने देश और उसकी राष्ट्रीयता पर अपने स्वतंत्र विचार रखे हैं। उनका मानना है कि अंग्रेजों की शिक्षा नीति और गलत इतिहास लिखने के कारण हमारे देश के इतिहास में अलगाव दिखाया गया है, वही इस लेख में दिख रहा है। हमारा देश भाई अपनी ही राष्ट्रीयता पर सवाल खड़ा कर रहे हैं।

प्राचीन काल से ही भारत इतिहास लेखन के प्रति उदासीन रहा है फिर भी लोगों ने अपने समय की घटनाओं को विभिन्न कथाओं में वर्णित करते रहे। कथा में अपने समय और परीस्थिति के केंद्र में ईश्वर था, कथा के पात्र देवता और राक्षस जो अपने समय का सच कहते आ रहे हैं। आज के इतिहास के आधार पर प्राचीन लोक कथाएँ अपनी अतिसंयोक्ति घटनाओं के कारण झूठ मान ली गयी है। न भारतीय विद्वानों ने इन अबूझ घटनाओं को सुलझाने की कोशिश की और न ही विदेशी विद्वानों ने ही। भारत के इतिहास को विदेशों के इतिहास से जोड़ने के लिए यहाँ की घटनाओं की संभावनाओं को यूरोपीय ढंग और उसी ढर्रे पर लाने के लिए मुस्लिम शासन को बर्बरता पूर्ण अंकित कर दिया गया। माधवराव सप्रे का मानना था कि किसी भी समय देश का इतिहास लिखते समय दो स्रोतों पर इतिहास का निर्माण होता है। एक लिखित और दूसरा अलिखित। इतिहासकार को चाहिए की वह देश के विभिन्न भागों में जो कहानियाँ प्रचलित हैं उन्हीं में से सत्य की जाँच परख कर इतिहास के

तथ्य का उपयोग करें। और लिखित रूप में तत्कालीन रचनाएँ और ताम्र पत्रों का उपयोग कर उसको प्रमाणिक तथ्य के रूप में लें। माधवराव सप्रे भारत का एक पूर्ण और स्वतंत्र इतिहास लिखे जाने की ज़रूरत महसूस करते हैं और भारत को सदियों से एक होने की बात बताते हैं, "देश में कितने ही स्थानों पर मिलने वाले शिलालेख तथा मंदिरों में बड़ी सावधानी से रखे हुए तामपत्र बहुधा किसी न किसी राजा के विजय से संबंध रखते हैं। हर्ष की बात है कि आजकल पाटलिपुत्र और तक्षशिला की जमीन खोदकर उसमें से ऐसे कई शिलालेख तथा मूर्तियाँ आदि निकाली गई हैं, जिनसे इतिहास-विषयक कई बातों का पता लगता है। सारांश, गांवों की कहानियों और दंत कथाओं से, लोगों की रीति–नीति और त्यौहारों से तथा और बातों से इतिहास की छटा झलकती है।"[251]

असग़र वजाहत ने अपने उपन्यास 'कैसी आगी लगाई' में वर्तमान भारत और विश्व के इतिहास को अपूर्ण माना है। उन्होंने अपने उपन्यास में एक दार्शनिक पात्र से कहलवाया है कि यदि भारत सरकार और पुरातत्वविद ईमानदारी से भारतीय पुरातत्व की खोज और खुदाई करें तो विश्वइतिहास में भारी बदलाव की संभावना है। उपन्यास के पात्र इकबाल अहमद जो इतिहासविद और दर्शनिक हैं, वह कहता है- "अब मैं तुम्हें डिटेल में तो बता नहीं सकता ..न उसके लिए वक्त है और न मौका है, इतना समझ लो कि ईसा से कई चार हजार साल पहले अरगला यानी मेरी स्टेट इतनी बड़ी इम्पायर थी जो चीन से लेकर 'कैस्पियन सी' तक फैली थी और उस इम्पायर का कैपिटल अरगला थी। तुम शायद समझ रहे हो कि मैं पागल हो गया हूँ लेकिन मेरे पास ऐसे सबूत हैं कि बड़े से बड़ा हिस्टोरियन न नहीं कह सकता...अगर मैं खुदाई करवाऊं तो पता नहीं क्या–क्या मिले।"[252]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भारत का अपना इतिहास विजित राष्ट्रों द्वारा लिखे जाने के कारण आज भी अपूर्ण है। भारत की अपनी अलग स्थिति परिस्थिति थी,

---

[251] सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवरावसप्रे रचना संचयन' - पृष्ठ सं. 259 -60
[252] असग़र वजाहत 'कैसी आगी लगाई' पृष्ठ सं. 283

जिसका यूरोपीयकरण कर दिया गया। विजित राष्ट्र कभी भी अपने उपनिवेशित राष्ट्र को यह नहीं बताएगा कि कभी वह अपनी उन्नति के पथ पर आगे था।

हिन्दूराष्ट्र पर लोगों द्वारा दिए जा रहे तर्क के बारे में माधवराव सप्रे यह मानते हैं कि हिन्दुओं में जातिगत भेद है और छुआछूत भी है। उन्होंने इस विविधता को शरीर के अंग समान माना है। शरीर के विभिन्न अंगों में बहुत भिन्नता है पर वो एक शरीर को भली-भाँति चलायमान रखने के लिए आवश्यक हैं। वैसे ही हिन्दू राष्ट्र में सभी हिन्दुओं का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा जितना शरीर के लिए शरीर के अंग। माधवराव सप्रे छुआछूत के प्रबल विरोधी हैं। उनके हिन्दू राष्ट्र में सभी धर्मों का समान आदर है और इसके निर्माण में सभी धर्मों के सहयोग की अपेक्षा भी, "इस देश के अन्य धर्मों और जातियों के विषय में विचार करने पर मालूम होता है कि भारतवासियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि दीनदयालु परमेश्वर ने उन पर ब्रिटिश जाति के समान स्वातंत्र्य-प्रिय और न्यायी राष्ट्र की सत्ता स्थापित कर दी है। अतएव एक ही साम्राज्य के व्यापक तथा अटल छत्र के नीचे रहते हुए यदि सब हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि परस्पर भातृ-भाव की वृद्धि करें, इस देश को अपनी जन्म-भूमि समझ कर इसका प्रत्यक्ष जननी के समान प्यार करें...इसकी राष्ट्रीयता से संसार की कोई भी विरोधिनी शक्ति बाधा नहीं डाल सकती।"[253]

माधवराव सप्रे की यह परिकल्पना समावेशी होने के बावजूद विवादास्पद है। वे जाति व्यवस्था और अंग्रेजों के घोर विरोधी हैं, पर हिन्दू राष्ट्र की बात आते ही जाति व्यवस्था को हिन्दू राष्ट्र के शरीर का अंग कहते हैं। उन्होंने जिस अंग्रेजी इतिहास के विरोध में कई निबंध लिखकर उसकी प्रमाणिकता पर संदेह व्यक्त करते हैं, उसी इतिहास के आधार पर मुसलमानों के शासन को बर्बर माना है।

---

[253] सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवरावसप्रे रचना संचयन' - पृष्ठ सं. 265

एक रचनाकार अपने समय और भविष्य में होने वाली घटनाओं का आभास कर लेता है। माधवराव सप्रे भले ही अंतिम साँस अंग्रेजों के शासन में लिए हों पर उन्हें पूरा विश्वास था कि देश जल्दी ही आज़ाद होगा। देशवासियों में राष्ट्रीयता के संचार के लिए रे. सी. ऍफ़. एंड्रूज की किताब 'The Renaissance In India' के हवाले से एक स्वतंत्र लेख 'राष्ट्रीय जागृति की मीमांसा' लिखा। जिसमें उन्होंने बताया कि तत्कालीन भारत संक्रमणीय अवस्था से गुजर रहा है जिसे वे पुनरुज्जीवन कहते हैं। इस पुनरुज्जीवन अर्थात् नवजागरण में वे भारतीय इतिहास और परंपरा को देखते हैं। ऐसा देखा जाता है कि अमूमन लोग अपने समय से संतुष्ट नहीं होते हैं किन्तु सप्रे जी अपने समय में हो रहे कार्यों से संतुष्ट ही नहीं हैं उन्हें भारत के भविष्य पर विश्वास भी है कि, " पच्चीस तीस साल के पहिले कहा जाता था कि हिन्दुस्तान 'संक्रमण' अवस्था में है। करीब दस बारह साल के पहले लोग कहते थे कि हिन्दुस्तान 'अशांति' की अवस्था में है। परंतु अब कहा जाता है कि हिन्दुस्तान अपने 'पुनरुज्जीवन' के मार्ग पर है।"[254]

माधवराव सप्रे इस पुनरुज्जीवन के पृष्ठभूमि पर कहते हैं कि मुसलमानों ने अपने शासनकाल में हिन्दुओं को परेशान किया जिससे हिन्दुओं का राष्ट्र पर से विश्वास उठता रहा और मुसलमानों की सत्ता जाती रही। शासन को चाहिए कि किसी भी जाति धर्म की जनता निर्भय होकर अपना कोई भी कार्य कर सके और पूरा .ख्याल रखे कि अराजक तत्त्वों द्वारा उसे परेशान तो नहीं किया जा रहा है। जिससे उन लोगों का राष्ट्र की राष्ट्रीयता पर विश्वास बना रहे। मुस्लिम शासन में हिन्दुओं में अंधविश्वास का जोर था क्योंकि हिन्दू, मुसलमान से डरा था उसे देश की उन्नति से कोई मतलब नहीं था। वह बस अपने अस्तित्व को बचाए रखने में ही अपनी ऊर्जा समाप्त कर रहा था, "उस समय के इतिहास को पढ़ने से हमें अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि एक उन्नत राष्ट्र ने अपनी अवनति किस प्रकार कर ली। उस समय के

[254] सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवरावसप्रे रचना संचयन'- पृष्ठ सं. 266

साहित्य के पढ़ने से यह बात प्रगट हो जाती है कि केवल अंध परंपरा के कारण-पुरानी लकीर के ही फ़कीर होने के कारण-भारत ने अपने को किस तरह गारत कर लिया ।...महाराष्ट्र और कुछ हिस्सों को छोड़ देश भर में स्वदेशाभिमान का लोप हो गया । सामाजिक अस्तित्व के लिए विशिष्ट जातियों का महत्त्व बढ़ा देना पड़ा और कुछ जातियों का महत्त्व इतना घटा दिया गया कि वे लोग 'अछूत' समझे जाने लगे !"[255]

अंग्रेजों के भारत आने के बाद पश्चिमी शिक्षा के प्रचार-प्रसार और वैज्ञानिक तर्कों के सामने हमारी कपोल कल्पनाएँ नहीं ठहर पाती थीं । इसलिए परम्पराओं का टूटना स्वाभाविक था । सन् 1905 में जापान ने रूस को पराजित किया जिससे पूरे एशिया में ख़ुशी की लहर दौड़ पड़ी, जहाँ यह मान लिया गया था कि यूरोपीय; एशियाई लोगों में श्रेष्ठ कौम हैं, वे इनकी बराबरी कभी नहीं कर पाएंगे । जापान की विजय ने भारतीयों को जगा दिया कि जब एक छोटा सा देश रूस जैसे बड़े देश को पराजित कर सकता है तो हम क्यों नहीं अंग्रेजों से अपनी स्वतंत्रता छीन सकते । इस जागरण का मुख्य लक्ष्य 'स्वदेशी' आन्दोलन था । स्वदेशी को जन-जन तक पहुँचाने से पहले राष्ट्र प्रेम को बताना ज़रूरी था । जिसके माध्यम से लोग स्वदेशी के महत्त्व को समझ सकें, "सामयिक विकारों के वश होकर वे यह समझ बैठे कि 'स्वदेशी' पश्चिमीय सभ्यता तथा अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध एक बलवा है ! सच बात तो यह है कि 'स्वदेशी' की जागृति तोप के गोले के समान थी जिसने अज्ञानयुग के हानिकारक विचारों को नष्ट करके हम लोगों को अपनी राष्ट्रीय उन्नति के सच्चे मार्ग पर ला दिया । कैसे आश्चर्य की बात है कि इस पर कुछ विदेशियों का भ्रम और हमारी न्यायप्रिय सराकर की अप्रसन्नता हो गई ।"[256]

आम तौर पर स्वदेशी वस्तुओं और व्यापार की उन्नति करने- कराने में प्रत्येक देश कुछ ऐसा नियम बनाते हैं जिससे उस देश के व्यापार की उन्नति हो सके । माधवराव सप्रे

---

[255] सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवरावसप्रे रचना संचयन' - पृष्ठ सं. 268

[256] सं.विजय दत्त श्रीधर 'माधवरावसप्रे रचना संचयन' - पृष्ठ सं. 271

बादशाह पंचम की यह बात उद्धृत करते हैं कि भारतीयों को अपनी परम्परा की उचित रक्षा कर पश्चिमी शिक्षा से उन्नति के मार्ग पर चलना चाहिए। राष्ट्रीय जागृति के चलते इस देश में हीन समझी जाने वाली जातियों को मुख्यधारा में जोड़ने पर जोर दिया जा रहा था। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "वर्तमान राष्ट्रीय जागृति के कारण ही इस देश में हीन जातियों के उद्धार की बहुत चर्चा हो रही है और कई स्थानों में प्रयत्न भी किया जा रहा है।...हीन जाति के-अछूत-लोगों की संख्या भारत की लोक-संख्या की 1 बटे 6 है (अर्थात् 5 करोड़ से भी अधिक है) सोचिए तो सही इतनी बड़ी लोक-संख्या के प्रति "दूर,दूर, छी छी अलग रहो, अलग रहो !" हीनतादर्शक उद्गार प्रकट करके हम लोगों ने राष्ट्र के श्रमविभाग की दृष्टि से अपने देश की कितनी हानि कर डाली है !"[257]

### 4.4 माधवराव सप्रे का नागरिक संबंधी विचार :

माधवराव सप्रे का पूरा जीवन देशहित को समर्पित रहा है। उन्होंने देशहित को ध्यान में रखकर लेखन कार्य किया है। माधवराव सप्रे ने जब सार्वजनिक जीवन से संन्यास लिया, तो उस समय उन्होंने मराठी भाषा के धार्मिक ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद कर उसका पुनर्पाठ प्रस्तुत किया।

माधवराव सप्रे की एक किताब 'जीवन संग्राम में विजय प्राप्ति के कुछ उपाय' इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'विद्यार्थी' में 1915 से 1918 तक प्रकाशित उनके निबंधों का संग्रह है। इस किताब में विद्यार्थियों को व्यवहारिक जीवन से संबंधित बातों को बताया गया है। इस किताब में कुल बीस निबंधों का संकलन है जो मानव के बाह्य जीवन की व्यवहारिक बातों पर बल देता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध मनोविकार के श्रेष्ठ निबंध हैं तो माधवराव सप्रे के निबंध मानवीय व्यवहार के कुशल पथप्रदर्शक।

[257] सं.विजय दत्त श्रीधर, 'माधवरावसप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं. 274

माधवराव सप्रे द्वारा मानवीय व्यवहार पर लिखे निबंध अपने विषय से साधारण पर अत्यंत गूढ़ अर्थ और उदाहरण से भरे हैं। इन्हीं निबंधों में 'शारीरिक स्वास्थ्य' नामक निबंध में लेखक ने भारतीय विद्वानों के साथ ही विश्व में स्वास्थ्य पर हो रही विभिन्न चर्चाओं के कई उदाहरण देकर स्वास्थ्य के महत्त्व को प्रमाणित करता है। माधवराव सप्रे अच्छे स्वास्थ्य के लिए स्नान, भोजन, स्वच्छता के साथ ही वायुसेवन और व्यायाम तथा उचित नींद को ज़रूरी माना है। उन्होंने वाल पोल के शब्दों में स्वास्थ्य की महत्ता को यों स्वीकार किया है, "यह जीवन उन लोगों के लिए सुखमय है जो सोच विचार किया करते हैं; परंतु जो लोग केवल अपनी इन्द्रियों के विकारों के अधीन हैं उनके लिए यह जीवन सचमुच दुःखपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि हम अपने जीवन को जैसा बनाना चाहें वैसा बना सकते हैं।"[258]

माधवराव सप्रे अपने निबंध 'समय का सद् व्यय' में स्पष्ट करते हैं कि समय के उचित प्रबंध से कोई भी किसी भी क्षेत्र में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। किसी भी कार्य की निरंतरता ही उस कार्य को उचित परिणति तक पहुँचाती है। समय के सदुपयोग पर फ्रेंकलिन महोदय का यह कथन कि, 'Dost thou love life ? Then do not squander time, for that is the stuff life is made of.' अर्थात् क्या तुम्हें अपनी जान प्यारी है ? यदि है तो समय को नष्ट मत करो, क्योंकि तुम्हारा जीवन समय से ही बना हुआ है।"[259]

माधवराव सप्रे 'उद्देश्य की एकता' पर विश्वास करते हैं। उन्हें पता है कि ज़िंदगी में कोई भी इंसान निरंतर परिश्रम करने से एक विषय में प्रवीण हो सकता है। किसी भी इंसान को उद्देश्य निश्चित करने से पहले भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार चुने गए उद्देश्य ही दुनियाँ को कुछ देने में सफल रहे हैं। उद्देश्य में लगे इंसान को बाद में उद्देश्य को छोड़ना नहीं चाहिए, इससे उसकी ही हानि होगी। उस कार्य में किये गए अधूरे काम का कोई हांसिल न होगा। माधवराव सप्रे लिखते हैं, "इस बात का हमेशा ध्यान

---

[258] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 93 -94

[259] सं. देवीप्रसाद वर्मा – 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 104

रहे कि एक तीर से दो निशाने कभी नहीं जम सकते। जो इस संसार की जीवन यात्रा को सफल करना चाहता है उसे 'एको देव: केशवो वा शिवो वा' मंत्र का व्यावहारिक जप नित्य करना पड़ेगा।"[260]

माधवराव सप्रे ने नागरिक जीवन से संबंधित सभी निबंधों को सूत्रात्मक शैली में लिखा है। उन्होंने अपने प्रत्येक निबंध की शुरूआत किसी बड़े रचनाकर की विषय संबंधित पंक्तियों से शुरू कर विभिन्न विद्वानों के उद्धरण से उसे स्पष्ट करते चलते हैं। जैसे 'स्वावलंब' नामक निबंध की शुरूआत तुलसीदास की इस पंक्ति से करते हैं –'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं। करि विचार देखहु मन माही ॥'

'उत्तम शील' नामक निबंध की शुरूआत वे भर्तृहरि की इस पंक्ति से करते हैं: 'शिल परं भूषणम'। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि सामाजिक जीवन में उत्तम शील व्यवहार में होना ज़रूरी है। माधवराव सप्रे बताते हैं कि गोखले की प्रसिद्धि उनकी विद्वता से अधिक उनकी शालीनता के लिए थी। जज रानाडे की शालीनता से भरे आचरण से प्रभावित बड़े से बड़ा जल्लाद भी अपना जुर्म क़बूल कर लेते थे।

माधवराव सप्रे ने 'सच्ची झूठी सफलता' नामक निबंध में सफलता असफलता के अर्थ को स्पष्ट किया है। कई लोग इच्छित वस्तु को प्राप्त न कर पाने की अवस्था को असफलता कहते हैं, पर इतिहास गवाह है कि कई बार ऐसा हुआ है कि इच्छित उद्देश्य के लिए किया गया कार्य जब असफल हुआ तो ऐसा परिणाम दिया जो दुनियाँ के इतिहास और वर्तमान के लिए गर्व और गौरव का विषय बना। जैसे कोलंबस भारत की खोज में निकला पर पहुँचा एक नए महाद्वीप पर, आदि वैज्ञानिक खोजों में भी ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे।

माधवराव सप्रे बताते हैं कि कुछ लोग सफलता दूसरों की आँखों से देखना पसंद करते हैं। सामने वाला कहता है कि फला इंसान एक अच्छी नौकरी में है और उसको बड़ी

---

[260] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 110

तनख़्वाह मिलती है, इसलिए उसका जीवन सफल है । पर तनख़्वाह और अच्छे पद के अलावा भी बहुत ऐसे कार्य हैं, जिसको करते हुए आप गर्व कर सकते हैं । भगवान राम और कृष्ण भी अपने मानव अवतार में लोगों में पूज्य नहीं हो सके थे, खैर हम तो इंसान हैं । माधवराव सप्रे किसी काम को तल्लीनता से करने में और उससे मिली ख़ुशी को सच्ची सफलता मानते हैं । वे लिखते हैं, "तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर होगा कि उसे तुम समस्त संसार के सभी कामों से बढ़कर समझो और उसको उसी प्रकार से किया करो जैसे कई मनुष्य अपने उच्चात्युच्च व्यवसाय को अनुपमेय उत्साह में करता है । तुच्छ या छोटा धंधा करना कोई लज्जा की बात नहीं है । लज्जा तो भीख मांगने और परतंत्रता में होनी चाहिए ।"[261]

एक इंसान को समाज में अपनी उपयोगिता बनाए रखने के लिए कुछ न कुछ उद्योग करते रहना चाहिए । समाज में सभी मनुष्य अपने जीवन काल में कोई न कोई व्यवसाय ज़रूर करते हैं, पर वही सफल होते हैं जो अपने स्वभाव के अनुकूल व्यवसाय चुनते हैं । जैसे शिवा जी अपने बचपन में ही खेल-खेल में सेनापति बनते थे जो उनका स्वाभाव हो गया और जिसे बाद में उन्होंने चरितार्थ कर दिखाया ।

इंसान को हमेशा कुछ न कुछ उद्योग करते रहने चाहिए । बिना काम के रिटायर्ड अधिकारी भी अपने को धरती पर फालतू मानने लगता है । माधवराव सप्रे असफलता के दो कारण मानते हैं-1.स्वाभाविक कार्य शक्ति के विरुद्ध व्यवसाय चुनना 2. अपने व्यवसाय का पूरा ज्ञान लिए बग़ैर ही व्यवसाय को शुरू कर देना ।

माधवराव सप्रे शारीरिक श्रम को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और इसको मनुष्य की उन्नति का सार भी कहते  हैं । वे शारीरिक श्रम को दीर्घजीवी औषधि बताते हैं, आगे लिखते हैं, "स्मरण रहे कि शारीरिक श्रम करने से और अपनी कर्मेन्द्रियों को किसी उपयोगी कार्य में लगा देने से

---

[261] सं. देवीप्रसाद वर्मा  'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 131

ही शिक्षित समाज अपने देश के लिए आदर्श हो सकता है । विद्यार्थियों को उचित है कि वे इस बात पर ध्यान दें और शारीरिक श्रम से घृणा न करे ।"[262]

माधवराव सप्रे ने छात्रों को यथार्थ के धरातल से परिचित कराने के लिए 'द्रव्य का उपयोग' नामक लेख लिखा । जिसमें उन्होंने धन की अनिच्छा और .फकीरी में जीने की महानता बताने वालों से सावधान रहने की बात कही और इन लोगों को झूठा और पाखंडी कहा है । आगे उन्होंने कहा है कि इस संसार में भगवान का दूसरा भाई है तो वह धन है । कुछ लोग धन को विभिन्न आपत्तियों का कारण मानते हैं । माधवराव सप्रे कहते हैं कि धन एक शक्ति है, जब उसके रहते हुए विपत्तियाँ आ रहीं हैं तो उसके न रहने पर दरिद्रावस्था में आदमी एक भी विपत्ति झेलने की स्थिति में न होगा । धन को दुःख का कारण मानने वालों की चर्चा को आलस्य विवाद कहा है ।

माधवराव सप्रे ने धन की सार्थकता पर बात करते हुए कहा है कि यदि धन किसी अव्यवहारिक आदमी के पास है जो उस धन का कोई उपयोग नहीं करता, ऐसे धन को एक भारी थैला के सिवा कुछ न समझना चाहिए । माधवराव सप्रे ने लिखा है, "जिस धन से हम अपनी पराधीनता को नष्ट करके स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सके, जिस धन से हम अपने दारिद्र्य-पीड़ित भाईयों के कष्टों को दूर न कर सके तथा जिस धन से हम ईश्वर के विराट स्वरूप संसार के किसी अंश को भी सुखी नहीं कर सके, उसे क्या कहना चाहिए ? उसका 'धन' नाम ठीक होगा कि 'मिट्टी' ?"[263]

कोई भी इंसान अपने उद्देश्य को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसमें दृढ़ इच्छा शक्ति हो । माधवराव सप्रे अपने लेख 'दृढ़ इच्छा शक्ति' की शुरूआत 'जहाँ चाह है वहाँ राह है' के सूत्र वाक्य से करते हैं । और बताते हैं कि राणाप्रताप के साथी कौन थे - कोल और भील, पर उन्होंने अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति के बलबूते मुग़लों से लोहा लिया था । ऐसे ही एक छात्र की

---

[262] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 135
[263] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 120

कहानी बताते हैं वह स्कूल के समय से ही अपने नाम के आगे पी लिखता था। जब वह प्रिंसिपल बना तो बताया कि वह प्रिंसिपल बनने का सपना स्कूल में पढ़ते समय ही देखा करता था। जिससे प्रेरित होकर वह अपने नाम के आगे पी लिखने लगा, जिससे वह अपने उद्देश्य को भूले न सके।

माधवराव सप्रे किस्मत पर विश्वास नहीं करते और न किसी को उसके भरोसे बैठा देखना चाहते हैं। बिना कुछ किये कोई भी काम अपने आप नहीं होता। उनका मानना है कि वही मनुष्य पुनर्जन्म पाता है जो किसी कार्य को तल्लीनता से कर रहा हो और किसी कारणवश वह कार्य अधूरा छूट गया हो। किसी कार्य को पूरा करने में दृढ़ इच्छा होने के साथ ही साथ धैर्य होना भी ज़रूरी है। दृढ़ इच्छा शक्ति से किया गया कार्य पूरा तो हो जायेगा पर धैर्य उस कार्य को पुष्ट करता है। माधवराव सप्रे ने लिखा है, 'जिस इच्छा शक्ति में धैर्य नहीं, उसे राक्षसी इच्छा शक्ति कहते हैं।' वे आगे लिखते हैं, "हम जब-जब एक छोटे-से-छोटा अथवा बड़े-से-बड़ा कार्य करें तब-तब उसे सच्चे दिल से, ख़ुशी के साथ किया करें। जब तक मनुष्य अपने व्यवसाय की कठिनाईयों के विषय में शिकायतें करता रहेगा, जब तक उसे उसमें उत्साह और आशा नहीं होगी, तब तक उसकी इस्ट-सिद्धि कभी न होगी।"[264]

मनुष्य को अपने व्यवहारिक कुशलता हेतु वाक् पटु होना अनिवार्य है। इस विषय को और स्पष्ट करने के लिए माधवराव सप्रे ने 'संभाषण कुशलता' नाम से एक निबंध लिखा और बताया है कि कब कहाँ और कितना बोलना है और कब चुप रहना है। और हाँ यह भी बताना नहीं भूले हैं कि जब कोई बात कर रहा हो तो उसकी बात काटकर कोई नया प्रसंग नहीं छेड़ना चाहिए। वाकपटु तो होना ही चाहिए पर किसी की निंदा करने से बचना चाहिए। जब हम किसी की निंदा करते हैं तो यह न समझना चाहिए कि वह बात वहीं तक है, वह बात हवा की तरह चारों तरफ़ फ़ैल जाती है और अंत में निंदा करने वाले का हाल फुटबाल की

---

[264] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 146

तरह हो जाता है । निंदक का कोई भी हितैषी साथ नहीं देता और सभी उसको उसके आवश्यकता की घड़ी पर दुत्कारते हैं ।

'निंदारस' नामक निबंध हरिशंकर परसाई ने भी लिखा है जिसे माधवराव सप्रे के निंदा विषयक ज्ञान के आगे की कड़ी माना जा सकता है । निंदा करना और सुनना दोनों अच्छी बात नहीं है । इससे मनुष्य अपने समाज में अपनी विश्वसनीयता खो देता है । हरिशंकर परसाई निंदा को ईर्ष्या–द्वेष से प्रेरित मानते हैं । माधवराव सप्रे लिखते हैं, "परनिंदक मनुष्यों की दशा ठीक उस पागल मनुष्य की तरह होती है, जिसके हाथ में एक तलवार दे दी जाती है और जो किसी भी मनुष्य को मारने में नहीं हिचकता । निंदा करने वाले प्रत्येक मनुष्य में कुछ भी नैतिक साहस नहीं रहता ।"[265]

माधवराव सप्रे अपने एक निबंध 'व्यवहारिक कार्यशीलता' में व्यवहारिक बुद्धि के बारे में बताते हैं कि एक समझदार इंसान में यह गुण अवश्य ही होना चाहिए, जिससे वह अपने जीवन संग्राम में, समाज में अपना अस्तित्व बना सके । आज की शिक्षा व्यवस्था किताबी है जहाँ रटंत विद्या पर अधिक जोर दिया जा रहा है जो विद्यर्थियों को विभिन्न पदों के लिए योग्य तो बना देगी पर व्यवहार में अकुशल छात्र उस पद की गरिमा और खुद को अपनी उदंडता के चलते विभिन्न लोगों संस्थाओं से उलझ जाएगा ।

माधवराव सप्रे बताते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान भी व्यवहारिक बुद्धि के अभाव में आजीवन आर्थिक तंगी से जूझते रहे । उन्हीं में एडम स्मिथ भी थे जिन्हें आधुनिक अर्थशास्त्र विषय का जन्मदाता माना जाता है । और ये स्वयं मितव्ययी न हो सके । ऐसे ही कवि गोल्डस्मिथ भी कई अर्थशास्त्र संबंधी लेख लिखें हैं पर इनकी अच्छी आमदनी होने पर भी इन्हें अपने जीवनकाल के अंतिम समय में दूसरों के लिए लेख-लिखकर अपनी आजीविका के लिए यत्न करने पड़ते थे । माधवराव सप्रे लिखते हैं, "व्यवहार-ज्ञान रहित मनुष्य सदैव

---

[265] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 151

उटपटांग कार्य करता रहेगा। ऋण चुकाने में वह सदा कुछ न कुछ बकाया ही रखेगा। बड़ों को चिट्ठी लिखने में वह उदंडता दिखलावेगा। छोटों के लिए घृणासूचक शब्दों का प्रयोग करेगा। उसको सोने के समय खाने की सूझेगी और दुःख के समय दिल्लगी करना पसंद करेगा; परंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि असाधारण बुद्धि वाले मनुष्य भी बहुधा व्यवहार ज्ञानशून्य रहा करते हैं।"[266]

माधवराव सप्रे युवावस्था को एक महत्त्वपूर्ण अवस्था मानते हैं। उन्होंने युवाओं के कर्तव्यों पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए 'युवावस्था का उपयोग' नामक निबंध लिखा है। युवावस्था वही समय है जिससे बालक का भविष्य तय होता है। यह अवस्था एक अच्छे और दायित्वपूर्ण नागरिक बनने, बनाने की अवस्था भी है। इस अवस्था में तरुण अपने में परिवर्तन महसूस करता है और वह अपनी ज़िंदगी की इस अवस्था में किसी की भी रोक टोक बर्दाश्त नहीं कर पाता और उसका विरोध कर देता है जो उसे कुसंग की राह पर ले जाता है। इसलिए इस अवस्था के तरुणों का मार्गदर्शन आप उसका दोस्त बन कर ही कर सकते हैं।

माधवराव सप्रे तरुणों की इसी अवस्था में देशप्रेम सिखाने के पक्ष में हैं, जिससे इस विद्रोही चेतना का देशहित में उपयोग हो सके। देशभक्ति के बारे में माधवराव सप्रे का मत स्पष्ट है, "हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि जो मनुष्य अपने देश के प्रति प्रेम नहीं रखता, वह कभी राजभक्त भी नहीं हो सकता। देशभक्ति ही का एक प्रधान अंग राजभक्ति है, इसलिए हर युवक को देशभक्त बनने और कहलाने में अपना गौरव समझना चाहिए।"[267]

'मध्यावस्था का उपयोग' वही प्रौढ़ अच्छे से कर पाते हैं जो बाल्यावस्था की बचकानी हरकतों पर नियंत्रण प्राप्त कर चुके होते हैं। इस अवस्था में ज़िम्मेदारी तो बढ़ती ही है, पर ज़िम्मेदारी के साथ ही साथ जो प्रौढ़ नवीन ज्ञान से भी नाता रखता है, वही प्रौढ़ वृद्धावस्था में खुशहाल रहता है। प्रौढ़ावस्था में ही प्रौढ़ व्यक्ति समाज में स्नेह और घनिष्ठता

---

[266] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' - पृष्ठ सं. 158
[267] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 164

प्राप्त करता है। इस अवस्था के कर्तव्य के बारे में माधवराव सप्रे लिखते हैं, "स्वाध्याय पठन-पाठन, अनुसंधान, अवलोकन, सद्गुणाभिरुचि विद्याप्रेम आदि भी इस अवस्था के अन्य कर्तव्य हैं, जिनकी उपयोगिता हमारे विचारशील पाठकगण भली-भाँति जानते हैं।"[268]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य समाज के बिना नहीं रह सकता है। वह अपनी ज़रूरत और पसंद के आधार पर मित्र बनाता है। मित्र मात्र परिचित भर नहीं होता वह अपने मित्र की रुचि-अरुचि, सुख-दुःख सब को भली-भाँति जानता है और समय-समय पर मित्र को सही राह भी दिखाता है। तभी न दुनियाँ मित्र के महत्त्व को स्वीकार करती है। मित्रता के महत्त्व से परिचित माधवराव सप्रे 'सन्मित्र –संग्रह' निबंध में लिखते हैं, "मित्र के साथ सदा सौम्यता और उदारता का बरताव रखना चाहिए। बहुतेरे लोग मान लिया करते हैं कि एक बार मित्रता हो जाने पर मनमानी रीति से, बिना किसी रोक-टोक के, बरताव रखने में कोई हर्ज नहीं पर यह ठीक नहीं है। हमें अपने मित्र के प्रति ऐसा आचरण रखना चाहिए, जिससे उसे अपने विषय में बुरा न मालूम हो, किंतु उसका स्नेह और आनंद दिनोंदिन बढ़ता ही जाए।"[269]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'मित्रता' नामक निबंध लिखा है जो बहुत ही प्रसिद्ध है। माधवराव सप्रे अपने निबंधों में मनुष्य के मन को टटोलने की कोशिश नहीं करते, उन्होंने अपना पूरा ध्यान मनुष्य की बाह्य चेष्टाओं पर केंद्रित कर विश्लेषित करने में लगाया है। रामचंद्र शुक्ल अपने 'मित्रता' निबंध में मित्रों के चुनाव की प्रक्रिया और गलत मित्रों का चुनाव, किसी को भी रसातल में गिरा सकता है का मनोवैज्ञानिक पाठ प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने पाठकों को आगाह करते हुए लिखा है- 'कुसंग का ज्वर बहुत भयानक होता है।'

माधवराव सप्रे अपने 'धैर्य' नामक निबंध की शुरूआत गोस्वामी तुलसीदास की इस पंक्ति से करते हैं – 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परिखिअहिं चारी ॥' 'धैर्य' विषय पर माधवराव सप्रे ने अपने कई निबंधों में चर्चा की है, पर इसके महत्त्व को और स्पष्ट

---

[268] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 173
[269] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 178

करने के लिए 'धैर्य' नाम से निबंध लिखते हैं। विपदा के समय धैर्य ही है जिस पर सवार होकर मनुष्य आगे बढ़ता है। बड़े से बड़ा ज्ञानी भी अधीर होने के चलते अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पाता, जबकि धैर्य से लगे साधारण मानसिकता वाला इंसान अपने धैर्य और साहस से ऐसा मुक़ाम हासिल करता है जो दुनियाँ के लिए अनुकरणीय होता है।

माधवराव सप्रे नैतिकता पर बल देते हैं जहाँ छोटे अपने से बड़ों का आदर-सम्मान करें और बड़े अपने छोटों को प्यार दें। साथ ही, उन्होंने, लोगों में किसी भी काम को पूरा करने के लिए समय के प्रबंधन को आवश्यक माना है।

यदि इंसान अपने परम्परागत रीति से कोई काम करता चलता है तो उसको परम्परागत ही परिणाम मिलेगा। वह उद्देश्य समान रखकर मौलिकता की ओर प्रबल रूप से कार्य करने करे तो उसकी कार्य करने की दक्षता उसे समाज में सफल ही नहीं बनाएगी बल्कि उसका मान सम्मान भी बढ़ाएगी।

माधवराव सप्रे का मानना है की परम्परागत व्यवसायों में अधिक भीड़ हो जाने से वहाँ आमदनी की कमी हो जाती है। यूरोपीय हमेशा नए-नए उद्योग करते रहते हैं। जब कई लोग उनके व्यवसाय में आ जाते हैं तो वो कोई नया व्यवसाय शुरू कर देते हैं और मुनाफ़ा कमाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस विभिन्न प्रकार के उद्योग में हमेशा ये सफल ही होते हैं पर नवीनता की ओर इनका शोध पूरे विश्व के लिए अनुकरणीय रहता है।

माधवराव सप्रे साहित्य में मौलिकता को महत्त्व देते हैं और कहते हैं कि वही साहित्य बहुत दिनों तक याद किया जाएगा जो मौलिक है, आगे वे लिखते हैं, "तुम्हारी व्यक्तिगत विशेषता ही तुम्हें संसार का आदरपात्र बना सकती है। यदि तुम पगड़ी बांधते हो और इसमें तुम्हारा स्वाभाविक प्रेम है तो इस बात की कोई ज़रूरत नहीं कि दूसरों को देखकर तुम्हारी

पगड़ी टोपी में बदल दी जाए। तुम्हारी विशेषता, विभिन्नता और स्वतंत्रता उस पगड़ी से ही भली-भाँति सिद्ध होती है।"[270]

कोई भी इंसान रातों-रात न विद्वान हो सकता न ही धनवान। इंसान किसी विशेष लक्ष्य को तब प्राप्त कर पाता है जब वह उस क्षेत्र में निरंतर काम करता है। कई बार आपने देखा होगा कि दो भाई एक साथ व्यवसाय करना शुरू करते हैं पर उसमें से एक बड़ा व्यापारी बन जाता है तो दूसरा वहीं का वहीं रह जाता है। बड़ा व्यापारी बनने के लिए उसने छोटी-छोटी बातों पर विशेष ध्यान दिया जो अमूमन दुकानदार नहीं देते हैं। माधवराव सप्रे बताते हैं कि जो दुकानदार छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देता है और लोगों के मनोविज्ञान को समझकर व्यवहार करता है, वही समाज में अलग मुक़ाम हासिल करने में सफल होता है।

भारतीयों में एक खास तरह की मानसिकता का विकास हुआ है जब तक कोई विद्वान सामाजिक कार्यकर्ता विदेशों में पुरस्कृत नहीं होता तब तक ये अपने यहाँ के विद्वान को सम्मान देना उचित नहीं समझते। माधवराव सप्रे बताते हैं कि जब तक दादा भाई नौरोजी, रवीन्द्रनाथ टैगोर को विदेशों में सम्मान नहीं मिला तब तक इन्हें देश की जनता ने सम्मान नहीं दिया। माधवराव सप्रे इस मानसिकता के ख़िलाफ़ हैं और कहते हैं कि ज़रूरी नहीं कि हमारे विद्वानों का सम्मान विदेशी करें तभी हम उनका सम्मान करेंगे। वे आगे लिखते हैं, "शांतिपूर्ण कामों और व्यवसायों में जिस तरह छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है, उसी तरह युद्ध संबंधी कार्यों में भी है। जिस महान विश्व विजयी सेनापति का नाम किसी देश में बड़े गौरव और अभिमान के साथ लिया जाता है, वह एक छलाँग कूदकर ही बड़ा भारी सेनापति नहीं बन जाता ...एक लाख तुच्छ बातों पर ध्यान देने से और एक लाख आज्ञाएँ देकर अनेक बार भयंकर निराशाओं का सामना करने पर कहीं उसे एक विजय मिलती है।"[271]

---

[270] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 195

[271] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 198

माधवराव सप्रे का स्पष्ट मानना था कि दृढ़ इच्छा शक्ति और धैर्य से किसी भी कार्य को उसके उद्देश्य तक पहुँचाया जा सकता है। उन्होंने दृढ़ इच्छा शक्ति और धैर्य से काम करने के निर्णय को और स्पष्ट करने के लिए दो प्रसंगों का उदाहारण दिया है। जो दृढ़ इच्छा शक्ति और धैर्य से लिए गए निर्णय का परिचायक है। पहले प्रसंग में एक सिपाही की उदंडता से ग़ुस्सा होकर सेनापति ने उसे कोड़े लगाने की सज़ा दी, जिससे सिपाही ग़ुस्से में अपने सेनापति पर गोली चला देता है। निशाना चूक जाने से सेनापति बच गया। सेनापति को इतना अधिकार था कि जानलेवा हमले का आरोप लगाकर उस सिपाही को तत्काल मृत्य दंड दे सकता था, पर उसे अपने इन्हीं सिपाहियों के बल पर युद्ध लड़ना है और युद्ध जीतना है। सेनापति उसे तीन दिन की जेल की सज़ा इसलिए देता है कि उसका निशाना इतना ख़राब है कि वह करीब से भी अपने लक्ष्य को नहीं मार पाया। सेनापति की निर्णय शक्ति ही उसको सिपाहियों में आदर सम्मान दिलाती है और बदले में सिपाही अपने सेनापति की आज्ञा पर अपनी जान न्योछावर करने में तनिक भी न हिचकते हैं।

धैर्य से लिए गये निर्णय का दूसरा उदाहरण यह कि एक स्त्री अपने घर में सो रही थी कि अचानक उसकी नींद खुली तो उसने देखा कि घर में चोर घुस आया है, स्त्री चुपचाप वैसी ही सोने का नाटक करने लगी और चोर स्त्री के बगल से तिजोरी की चाभी उठाकर तिजोरी खोलने लगा, स्त्री ने तपाक से उठकर बाहर से दरवाजा बंद कर दिया। यहाँ स्त्री के निर्णय ने उसकी जान और धन दोनों की रक्षा की।

माधवराव सप्रे ने 'जीवन–संग्राम में विजय प्राप्ति के कुछ उपाय' में मानवीय जीवन से संबंधित व्यवहारिक बातों का विभिन्न विद्वानों के हवाले से कई नैतिकतापरक निबंध लिखे हैं जो निश्चय ही बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए सहायक सिद्ध हो सकते हैं। विनय मोहन शर्मा ने ठीक ही लिखा है, "सप्रेजी लेख लिखते समय बहुत ही सावधानी रखते थे। जो मन में आया वह घसीट देना उनका स्वभाव न था। प्रेस के भूत भले छाती पर सवार रहें, पर

आप जब तक विषय की रूपरेखा, उसके मुद्दे टीप न लेते, आगे न बढ़ते। लेख लिखने पर दुबारा पढ़े बिना कंपोज को न देते। तभी आपके लेखों में विचार-गंभीरता और तर्कबद्धता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक शब्द को तौलकर लिखना आप खूब जानते थे।"[272]

---

[272] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 18

## पंचम अध्याय

# कथाकार और अनुवादक माधवराव सप्रे

### 5. 1 हिंदी की आरम्भिक कहानियाँ :

किसी भी जनसमुदाय में उसकी आशा,आकांक्षा, लालसा आदि मानवीय गुणों-अवगुणों को लक्षित करती हुई कहानियाँ हमेशा से प्रचलित रही हैं। भारत में तो इसकी एक समृद्ध लिखित परम्परा मिलती है । चूँकी हिन्दी एक आधुनिक भाषा है इसलिए इसका साहित्य अपनी पिछली परम्पराओं से प्रभावित है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास से पहले भारत की जनभाषा संस्कृत थी । संस्कृत के बाद पालि, प्राकृत, अपभ्रंश होते हुए हिन्दी तक पहुँची। हिन्दी अपने पहले के साहित्य को आत्मसात करते हुए उससे ऊर्जा प्राप्त कर आगे बढ़ रही है। पहले की कथाओं के आधार पर हिन्दी में अनेक महाकाव्य, उपन्यास और कहानियों का आधुनिक रूप उपस्थित हुआ है । ऋग्वैदिक काल से ही लिखित कथाओं का प्रचालन है । ऋग्वेद में 'अपाला' और 'मैत्रेयी' जैसी आदर्श स्त्रियों की कथा है । आज के कवि और कथाकार पुराणों, उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथों की कथाओं के आधार पर अनेक महाकाव्य लिख रहे हैं। इन्हीं पौराणिक ग्रंथों में से एक 'शतपथ ब्राह्मण' ग्रन्थ है, जिसमें पुरुरवा और उर्वशी की कथा है। इसी कथा को आधार बनाकर रामधारी सिंह दिनकर ने 'उर्वशी' नामक महाकाव्य लिखा है।

लोकप्रिय कथा संग्रहकर्ताओं में आठवीं नवीं सदी के बुद्ध स्वामी का 'वृहद्कथा', क्षेमेन्द्र का 'वृहद्कथा मंजरी', सोमदेव का 'कथासरित सागर', विष्णु शर्मा का 'पंचतंत्र' और नारायण पंडित का 'हितोपदेश' की कहानियाँ विश्व प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत से हिन्दी में अनूदित कथाओं की एक लंबी परंपरा है। उसी में संस्कृत के 'वैताल पंचाविंशतिका' एवं 'सिंहासन् द्वात्रिंशिका' का हिन्दी अनुवाद 'वैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन् बत्तीसी' बहुत लोकप्रिय है। इसके अलावा बौद्ध धर्म से संबंधित जातक कथाओं का भी अनुवाद भारत की विभिन्न भाषाओं में हुआ है। इसी लोकप्रिय कथाओं में 'शुक सप्तसति' प्रमुख है। इसका अनुवाद चौदहवीं शताब्दी में ही फ़ारसी भाषा में 'तूती नामा' नाम से हुआ था। इसी क्रम में विद्याधर भट्ट का 'माधवानल कथा' है, बाद में इसके आधार पर सूफियों ने प्रेमकाव्य 'माधवानल कामंदकला' लिखा। और तो और विद्यापति भी कहानियों के महत्त्व से परिचित थे उन्होंने 'पुरुष परीक्षा' में चौवालीस कहानियाँ लिखी हैं। आरम्भिक हिन्दी कहानियों की परम्परा में गोकुलनाथ का वार्ता साहित्य, लल्लू लाल का 'प्रेमसागर' 1803, सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' 1803 और 'रानी केतकी की कहानी' आदि कहानियों ने आधुनिक हिन्दी कहानियों के लिए उर्वर ज़मीन तैयार की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है- "जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वाभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा कहानी कहना और सुनना भी। कहानियों का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों से चला आ रहा है। सब जगह उसका समावेश शिष्ट साहित्य के भीतर भी हुआ है। घटना प्रधान और मार्मिक, उनके दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी। वृहद्कथा, वैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि घटना चक्र में रमने वाली कथाओं की पुरानी पोथियाँ हैं। कादंबरी, माधवनल कमंदकला, शीत बसंत इत्यादि वृत्त वैचित्र्य पूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमने वाले भाव प्रधान आख्यान हैं।"[273]

आधुनिक कहानी की शुरूआत यूरोप में उन्नीसवीं सदी में हुई। इस कहानी के स्वरूप को लेखकों के, समूह ने गढ़ा। आधुनिक कहानी के प्रसिद्ध लेखक- जैकब और विल्हेल्म

[273] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं. 344

ग्रीम ने परियों और धर्मग्रंथों की कथाओं का संपादन कर कहानी को लोकप्रिय विधा बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आधुनिक कहानी के पहले श्रेष्ठ कहानीकार एडगर एलन पो को माना जाता है। इन्होंने कहानियाँ तो लिखी ही साथ ही उसके सिद्धांत का विवेचन भी किया। जो विश्व भर की कहानी विधा के लिए अनुकरणीय रहा है।

हिन्दी साहित्य अपने आधुनिक युग की शुरूआत नाटक के साथ करता है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक कहानी कह सकने लायक कहानियाँ द्विवेदी युग से लिखी जाने लगी। भारतेंदु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य के लगभग सभी विधाओं का जन्मदाता है। इसलिए शुरूआती कहानी अपने आरम्भिक रूप से इस युग में देखी जा सकती है। भारतेंदु युग में कुछ लोकप्रिय कथा संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें हमें आरम्भिक कहानियों के अक्स दिख जाते हैं जैसे नवलकिशोर द्वारा संपादित 'मनोहर कहानियाँ' 1880 ई., शिवप्रसाद सितारे हिंद कृत 'वामा मनोरंजन' 1886 ई., अम्बिका दास व्यास कृत 'कथा-सुमन-कलिका' 1888 एवं चंडी प्रसाद कृत 'हास्य रतन' थी। भारतेंदु युग तक कहानी और उपन्यास में स्पष्ट भेद नहीं हो पाया था। उस युग में, " समस्त कथा साहित्य (फिक्सन) को उपन्यास कहने का चलन था। एक कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' को, जो कदाचित उपन्यास के रूप में लिखा जा रहा था भारतेंदु ने कहानी की संज्ञा दी। किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती' जिसे हिन्दी की पहली कहानी माना जाता है और जो सरस्वती में (1900 ) कहानी के रूप में प्रकाशित हो चुकी थी उसे भी गोस्वामी जी ने उपन्यास कहकर ही प्रकाशित किया।"[274]

आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास बांग्ला भाषा की पत्रिकाओं में छप रही छोटी – छोटी मगर लोकप्रिय कहानियाँ जो गल्प नाम से प्रकशित होती थी, के अनुकरण से हुआ। इसी गल्प के अनुकरण में लिखी हिन्दी कहानी को आधुनिक कहानी कहा जाने लगा। आपके मन की यह स्वाभाविक जिज्ञासा होगी कि फिर आधुनिक कहानी क्या है ? उसमें वह

[274] बच्चन सिंह, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं. -86 -87

कौन से नए तत्त्व हैं जो अब तक के हिन्दी साहित्य से दूर रहे ? गणपतिचन्द्र गुप्त ने इसका जवाब बखूबी दिया है, "प्राचीन कहानियों का क्षेत्र इतना व्यापक होता था कि उसमें पशु – पक्षियों तक का भी पात्रों के रूप में समावेश होता था किन्तु आधुनिक कहानी सामान्यत: मनुष्य वर्ग तक सीमित है। दूसरे, प्राचीन कहानी में उच्च वर्ग राजा–रानी, सेठ–सेठानी आदि के जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का अंकन होता है। प्राचीन कहानियों में पात्रों का चरित्र विश्लेषण नहीं होता था और न ही उनके चरित्र में कृत्रिम विकास प्रस्तुत किया जाता था, जबकि आधुनिक कहनियों में ऐसा होता है। उनमें देश काल के वातावरण का भी चित्रण अपेक्षित नहीं था।"[275]

हिन्दी की पहली कहानी को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं । रामचंद्र शुक्ल ने किशोरीलाल गोस्वामी के 'इंदुमती' (1900) को पहली मौलिक कहानी माना है, तो बच्चन सिंह ने किशोरीलाल गोस्वामी की ही कहानी 'प्रणयनी परिणय' को पहली कहानी माना है। पहली कहानी को लेकर इतने मतभेद हैं कि कई विद्वानों ने इस विषय पर अपने सबल तर्कों से विभिन्न आरम्भिक कहानियों को पहली कहानी होने की बात की है। 'सारिका' पत्रिका में पहली कहानी से संदर्भित बहस छिड़ी जो बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँची कि 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिन्दी की पहली कहानी है। इस कहानी को पहली कहानी के रूप में मान्यता दिलाने वालों में देवी प्रसाद वर्मा और कमलेश्वर का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

हिन्दी कहानी को लेकर विद्वान भले ही एकमत न हो, पर हिन्दी कहानी के उद्भव और विकास में 'सरस्वती' पत्रिका के महत्त्व से सब सहमत हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं, "अंग्रजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी–छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती हैं वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' नाम से बंग भाषा में चल पड़ी थी। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भाव व्यंजक खंड चित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की

[275]गणपति चन्द्र गुप्त, 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' पृष्ठ सं.452

सारी प्रवृत्तियों का आभास लेकर प्रकट होने वाली ‘सरस्वती’ पत्रिका में इस प्रकार की छोटी –छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे।”[276]

हिन्दी कहानी का आरंभ पश्चिमी कहानियों की भाँति ही हुआ पर वहाँ की कहानी पहले आधुनिकता को प्राप्त करने में सफल रही। यूरोप में भी आरम्भिक कहानियों में नैतिकता, स्वप्नशीलता जैसी अवस्थाएँ थी जो बाद में अपने आधुनिक रूप में विकसित हुई। रामदरश मिश्र ने ठीक ही लिखा है, “एडगर एलन पो के शब्दों में इसे प्रभाव की अन्विति कह सकते हैं। पो के शब्दों में कहानी कथा का एक टुकड़ा है जिसमें कोई एक भौतिक या आध्यात्मिक घटना होती है। वह एक बैठक में पढ़ी जाती है। यह मौलिक होती है। इसे प्रभावित, उद्दीप्त या उत्तेजित करना चाहिए। इसमें प्रभाव की अन्विति होनी चाहिए।”[277]

‘सरस्वती’ पत्रिका में छपी आरम्भिक कहानियाँ जिसका जिक्र आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने इतिहास में करते हैं। उन्हीं कहानियों को मैंने आरम्भिक कहानियों की कथावस्तु को समझने के लिए चुना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी ‘इंदुमती’ 1900 को पहली कहानी मानते हुए यह कहते हैं कि अगर यह किसी बांग्ला कहानी का अनुवाद नहीं है तो यही हिन्दी की पहली कहानी है। शिवदान सिंह चौहान ‘इंदुमती’ कहानी पर शेक्सपियर के नाटक ‘टेम्पेस्ट’ की छाया माना है। इन तथ्यों के आधार पर ‘इन्दुंमती’ को पहली कहानी नहीं माना जा सकता। फिर भी हमें इस कहानी की कथावस्तु को जान लेना ज़रूरी जान पड़ता है।

‘इंदुमती’ कहानी सामंती वातावरण प्रधान कहानी है, कथा की प्रमाणिकता बनी रहे इसलिए कथाकार ने इतिहास के सहारे कल्पना का सुंदर मिश्रण किया है। इस कहानी में सामंती मानसिकता अपनी चरम पर दो जगह दिखती है एक बार तब जब इब्राहीम लोदी इंदुमती की माँ को प्राप्त करने के लालच से उसके राज्य पर चढ़ाई करता है और पूरे राज्य को

[276]आचार्य रामचंद्र शुक्ल, ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ - पृष्ठ सं. 345
[277] रामदरश मिश्र ‘हिन्दी कहानी अंतरंग पहचान’ पृष्ठ सं.01

नष्ट कर देता है। दूसरी जगह इंदुमती के पिता ने अपनी बेटी का विवाह उस राजकुमार से करने की क़सम खाए हुए है कि इंदुमती की शादी उसी युवक से होगी जो इब्राहिम लोदी का वध करेगा, नहीं तो इंदुमती कुँवारी रहेगी। संयोगवश इंदुमती जिस राजकुमार से प्यार करती है वही इब्राहिम लोदी की हत्या कर भागा है और अपने को छुपाने के लिए जंगल की ओर आया जहाँ पहले से इंदुमती के पिता अपने राज्य के नष्ट होने पर बेटी और कुछ सहायकों के साथ रह रहे थे। चंद्रशेखर पहली बार अतीव सुंदरी इंदुमती को देखता है और इंदुमती भी पहली बार पिता के बाद किसी परपुरुष को देखती है, दोनों एक दूसरे को देखते ही पसंद करने लगते हैं।

'इंदुमती' कहानी प्रेम में समर्पण को दिखाती है जहाँ अभिमान का कोई स्थान नहीं है। जब चंद्रशेखर को इंदुमती जंगल में पहली बार देखती है तो देखते ही मोहित हो जाती है और उसे अपने घर ले आती है। जिससे उसके पिता राजकुमार को मारने के लिए उठते हैं तो इंदुमती पिता से अपने को दोषी बताते हुए दंड के लिए अपने को प्रस्तुत कर देती है। और राजकुमार इंदुमती के पिता का पैर पकड़कर कहता है कि इंदुमती की कोई ग़लती नहीं है, मेरी ग़लती है, इसलिए सज़ा भी मुझे मिलनी चाहिए। चंद्रशेखर से इंदुमती की शादी होने से लेखक दुःखी है वह बड़े भारी मन से लिखता है, "आह ! जो इंदुमती इतने दिनों तक वन विहंगिनी थी, वह आज घर के पिंजरे में बंद होने चली। परमेश्वर की महिमा का कौन पार पा सकता है!"[278]

रामदरश मिश्र ने ठीक ही लिखा है, " इंदुमती में ऐतिहासिक वातावरण में एक आदर्श प्रेम का वर्णन है। रहस्य रोमांच से भरी यह कहानी वास्तव में एक ओर तो एक निश्चित देशकाल में बनी है, दूसरा इसमें आधुनिक कहानी का रूप है, तीसरा इसमें प्रेम की आदर्श

[278] संपादक गंगा प्रसाद विमल, 'हिन्दी की आरम्भिक कहानियाँ' पृष्ठ सं. 69

स्वरूप की झाँकी है। आदर्श दो स्तर पर है : एक तो इंदुमती और चंद्रशेखर के सात्विक प्रेम के स्तर पर, दूसरे सत्रु से बदला लेने के प्रण और उसकी क्रियान्वित के स्तर पर।"[279]

मास्टर भगवान दास जी अपनी कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' की भूमिका में पहले ही स्पष्ट कर देते हैं कि कहानी की कथावस्तु प्रयाग में फैले प्लेग पर आधारित है। प्लेग उस समय की लाइलाज महामारी थी। प्लेग की अज्ञानता और डर से लोग अपने जान से बढ़कर चाहने वाले को उसकी हालत पर छोड़कर भागने के लिए मज़बूर हो गए थे। इसी घटना पर आधारित 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी है।

'प्लेग की चुड़ैल' कहानी में जमींदार विभव सिंह प्रयाग में फैले प्लेग से अपना घर छोड़कर अपने पाही घर जाने ही वाले थे कि उसी दिन उनकी पत्नी भी बीमार पड़ गयी और डाक्टर ने उनको भी प्लेग होने की पुष्टि की। विभव सिंह अपने वंश के लिए अर्थात् बेटे नवल सिंह के लिए पाही घर जाने की सोचते हैं पर पत्नी के प्यार और बेटे की माँ के चाह के ख़ातिर कुछ दिन रुक जाते हैं। लेखक ने माँ-बेटे के प्यार और रुदन का बड़ा ही कारुणिक चित्रण किया है। विभव सिंह पुरोहितों से पूछकर मरणासन्न पत्नी को छोड़कर, बेटे नवल सिंह को लेकर पाही घर चले गए। वे पत्नी के अंतिम संस्कार का भार पंडित और अपने नौकर पर छोड़ चले गए। अधिक रात हो जाने की वजह से ये लोग अपना काम (अर्थात् लाश को बिन जलाए ही) ईमानदारी पूर्वक न कर लाश को गंगा में प्रवाहित कर देते हैं। जो एक बेटे को फिर से माँ को मिलाने का कारण बनता है।

विवरण मिलता है कि ठकुराइन गले में हुए फोड़े के दर्द से बेहोश हो गयी थीं और सब लोगों ने उन्हें मृत मानकर उनका अंतिम संस्कार कर डालते हैं। रात की हड़बड़ी में लोगों ने इनको बिना बांधे ही तिट्ठी पर लेटा कर बहा दिया। जब वे होश आयीं तो वे अपने को तिट्ठी पर लेटा पाया कुछ देर तक उन्हें अपने को स्वर्ग में होने जैसा लगा। गले में हुई गिल्टी करौंदे

---

[279] 'रामदरश मिश्र 'हिन्दी कहानी अंतरंग पहचान' पृष्ठ सं. 0 5

के पेड़ से टकराने की वजह से (उसके नुकीले कांटे से) वह फूट चुका था और अब उन्हें बोलने में हो रही दिक्कत से आराम था।

ठकुराइन को जैसे ही लगा कि वो अभी ज़िंदा हैं वो अपने बेटे से मिलने के लिए तड़प उठीं और महज संयोग से ठकुराइन उसी गाँव के घाट पर किनारे आती हैं जहाँ उनकी जमींदारी थी। पर्दा में रहने से और यहाँ इनका आना कभी कभार ही होता था इसलिए उन्हें यह तनिक भी आभास नहीं था कि यह उनका अपना गाँव है। लोग ठकुराइन को उनके दुबले शरीर और सफ़ेद साड़ी की वजह से चुड़ैल समझ बैठे। वे गाँव की तरफ़ गयीं, लोग उन्हें देखकर भाग खड़े हुए एक बाग़ में गयीं जहाँ उनका बेटा नवल सिंह था जिसे वे गले लगा ली। यह बात पूरे गाँव में आग की तरह फ़ैल गयी कि चुड़ैल विभव सिंह के बेटे को खा रही है इतना सुनते ही ठाकुर विभव सिंह आये और बेटे को बचाने के लिए हवाई फायरिंग कर दी। जिससे ठकुराइन बेहोश होकर गिर पड़ी। नवलसिंह ने जाकर बताया कि वह उसकी माँ ही है और बाद में विश्वसनीय नौकर ने उस दिन की सारी घटना को बताया कि कैसे लोगों ने जल्दी में सब काम किया। गोपाल राय 'हिन्दी कहानी का इतिहास' में लिखते हैं- " भवदेव पाण्डेय के अनुसार इस कहानी में उस वर्तमान को प्रस्तुत किया है, जिसमें 'प्लेग की चुड़ैल की तरह अंग्रेजी सत्ता ने भारत माता को अधमरा कर दिया था और उसके पुत्र की नियति में रोने – बिलखने के अलावा कुछ शेष नहीं बचा था।' यह कहानी सामंतवादी हृदयहीनता और भोगवादी पुरोहित संस्कृति का कच्चा चिट्ठा भी साफ़गोई के साथ प्रस्तुत करती हैं।"[280]

'ग्यारह वर्ष का समय' कहानी में रामचंद्र शुक्ल ने प्राकृतिक आपदा, बाढ़ और उससे होने वाली जनधन की हानि का चित्रण किया है। बाढ़ से कितने परिवार सड़क पर आ जाते हैं तो किसी की पूरी दुनियाँ ही लूट जाती है। उन्हीं में से एक परिवार जो बाढ़ से तितर–बितर हुआ तो उस परिवार से जुड़ी एक नवयौवना की दुनियाँ ही लुट गयी।

---

[280] गोपाल राय, 'हिन्दी कहानी का इतिहास' पृष्ठ सं. 49

इस कहानी में चंद्रशेखर मिश्र का परिवार भी अचानक आये बाढ़ से बिछड़ गया। परिवार का बिछड़ना भर होता तो शायद शुक्ल जी की कथावस्तु का विषय न होता। उन्होंने इस परिवार के बेटे का बाढ़ में बह जाने से उसके बचपन में हुए विवाह की विवाहिता के कष्ट और संघर्ष को ध्यान में रखकर कथावस्तु का चयन किया है।

बाढ़ में चंद्रशेखर का बेटा अपने परिवार से बिछड़ जाता है और वह एक बँगाली परिवार के साथ रहने लगता है। चंद्रशेखर ने अपने बेटे को खूब ढूँढ़ा पर उसका कोई पता न चला। चंद्रशेखर की बहू जब चौदह वर्ष की हुई तो उसके पिता ने भी चंद्रशेखर के बेटे को बहुत खोज की पर उसका कोई पता नहीं चला। लड़का बँगाली परिवार के साथ पढ़ाई में मशग़ूल रहा उसे न घर की याद आती न वह घर की तरफ़ आने की ही सोचता। इधर लड़की अपने भाभी का ताना सुनते–सुनते तंग आकर अपने भविष्य के बारे में बिना कुछ सोचे ईश्वर पर अटल विश्वास रख घर छोड़कर चली गयी। वह उस जगह गयी जहाँ उसका ससुराल था। बाढ़ के कारण वह जगह अब खंडहर में बदल चूकी थी। वह वहीं किसी खँडहर में रहने लगी और इंतजार भी करने लगी, शायद उसका पति आएगा। इस घटना पर गोपालराय ने लिखा है, "तत्कालीन परिवेश में एक स्त्री का विधवा या किसी कारणवश पति–विहीन हो जाना समाज में उसके निर्वासन् का कारण बन जाता है।"[281]

जब बँगाली परिवार अपने बेटे की शादी करने लगा तब युवक को याद आया कि उसकी भी शादी बचपन में हुई है और वह उसे खोजने चल पड़ा और अपने गाँव पहुँचा। वह रात को अपने घर के खँडहर के पास अपने मित्र के साथ विश्राम करने का मन बनाता है। उसी खँडहर में युवक की पत्नी अपने अस्तित्व को बचाए कई वर्षों से अपने पति का इंतजार कर रही थी। रात को युवक को एक स्त्री दिखी जिसके पीछे दोनों गएँ जहाँ स्त्री ने बातों बातों में अपनी कहानी बताई तो युवक को पता चला कि यह तो उसकी पत्नी ही है। आचार्य रामचंद्र

[281] गोपाल राय 'हिन्दी कहानी का इतिहास'- पृष्ठ सं. 47

शुक्ल को पता है कि लोग इस प्यार को प्यार न मानेंगे इसलिए कहानी में ही इसका स्पष्टीकरण यों देते हैं, "हमारे कतिपय पाठक हम पर दोष करेंगे कि हैं ! न कभी साक्षात हुआ, न वार्तालाप हुआ, न लंबी–लंबी कोर्टशिप हुई; यह प्रेम कैसा ? महाशय रुष्ट न हूजिये । इस अदृश्य प्रेम का धर्म और कर्तव्य से घनिष्ट संबंध है । इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और नि:स्वार्थ हृदय में ही हो सकती है । इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है । आपको संतुष्ट करने को मैं इतना और कहे देता हूँ कि इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमंत्री लार्ड बेंकस फील्ड का भी यही मत था ।"[282]

हिन्दी की आरम्भिक कहानियों में गिरीजादत्त वाजपेयी की 'पंडित और पंडितानी' एक महत्त्वपूर्ण कहानी है । इस कहानी की कथावस्तु अनमेल विवाह से उपजा मतभेद है । पंडित जी की उम्र पैतालीस साल और पंडितानी पंडित जी से बीस साल छोटी है । लेखक बताता है कि अमूमन देखा गया है कि बड़ी उम्र का आदमी अपनी कम उम्र की पत्नी से बहुत प्यार और सम्मान करता  है । इस कहानी के पंडित जी भी ऐसे ही हैं, वे बुद्धिजीवी और सुलझे हुए इंसान हैं । पंडित जी सप्ताह में एक दो लेख निश्चय ही पत्रिकाओं के लिए लिखते हैं । पंडितानी अपने समय को काटने के लिए इधर–उधर की फरमाईश करती रहती हैं जो पंडित जी यथासंभव पूरी भी करते रहते हैं । एक दिन पंडितानी जी को अख़बार में तोते का विज्ञापन दिखा तो वो उस तोते को खरीदने के लिए लालाईत हो गयीं और पंडित जी से उस तोते के लिए जिद कर बैठीं । जब पंडित जी मना कर दिए तो पहले रोई फिर भी नहीं माने तो क्रोधित हो गयीं और बोली, "अच्छा तो पूछती हूँ कि, अगर मैं एक तोता न पालूं तो तुम छ: कुत्ते कैसे पालोगे ? छ: कुत्ते और उसमें से ऐसा काटनेवाला कि जिसके मारे धोबिन, नाइन, तेलिन–तमोलिन तक का आना मुश्किल ! अहीर जब दूध दुहने आता है तब दो नौकर उस कुत्ते को

[282] संपादक गंगाप्रसाद विमल, 'हिन्दी की आरम्भिक कहानियाँ' -पृष्ठ सं.99 -100

पकड़ने को चाहिए। यह सब तुम जानते हो; तब भी उसे नहीं निकालते, अभी उस दिन तुम्हें मेहतर को दो रुपये देने पड़े। जिससे वह उसके काटने का ख़बर पुलिस को न करे।"[283]

उपर्युक्त कथन में पुरुष की शोषक नीति स्पष्ट दिखती है कि पंडित जी कुत्तों से डिस्टर्ब नहीं होते, बस तोते की आवाज से उन्हें पढ़ने लिखने में दिक्कत होगी। शायद यह कुत्ते उनकी सामंती हठधर्मिता के प्रतीक हैं तभी इनका मन कुत्तों के खूँखार आवाज़ से विचलित नहीं होता, उनका मन तोते की आवाज़ से अधीर हो जाता है।

पंडितानी के तर्क से पंडित जी जीत नहीं पाते और व्यंग्य में कहते हैं कि चलो तुम्हारे लिए भी छ: तोते ला देंगे और पंडितानी खुश हो जाती हैं। गोपालराय ठीक ही लिखते हैं, "गिरिजा दत्त वाजपेयी की कहानी 'पंडित और पंडितानी' में तत्कालीन समाज में प्रचलित अनमेल विवाह–प्रौढ़ पुरुष और युवती कन्या की विसंगतियों पर व्यंग्य किया गया है। इस कहानी की धार तो पैनी ही है, वह स्त्री की नियति को भी संकेतित करती है।"[284]

बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी में दो मित्रों के निश्छल प्रेम और मज़ाक के माध्यम से मध्यवर्ग की आर्थिक विपन्नता को स्पष्ट किया गया है। इस कहानी के मुख्य पात्र नवल किशोर और वंशीधर दोनों अच्छे मित्र हैं। यह कहानी आज के आपाधापी जीवन से अलग की कथावस्तु है। अब कौन किसी मित्र के आने की सूचना भर से थोड़ी दूर साथ यात्रा के सुख के लिए अपने जीवन साथी तक की सुविधा–असुविधा का ध्यान नहीं करेगा ? पर पहले ऐसा होता था रिश्तों में ताजगी बनी रहे इसलिए लोग अपनों के साथ बेफिक्री का जीवन बीता लेते थे।

वंशीधर एक ज़िंदादिल इंसान था जो पत्नी को बुलाने बनारस गया हुआ था। बनारस में दो तीन दिन रुकने के बाद ही बिदाई होने की प्रथा थी, फिर भी जैसे ही वंशीधर को अपने मित्र नवलकिशोर का पत्र मिला जो कलकत्ता से आ रहा है, उसके साथ इलाहाबाद जाने को

[283] संपादक गंगाप्रसाद विमल 'हिन्दी की आरम्भिक कहानियाँ' पृष्ठ सं. 106
[284] गोपाल राय 'हिन्दी कहानी का इतिहास' गोपाल राय पृष्ठ सं. 50

तुरंत तैयार हो जाता है जबकि विदाई की ज़रूरी तैयारी नहीं हुई थी। पत्नी के साथ वंशीधर कलकत्ता से आने वाली ट्रेन पर बैठ तो जाता है, वहाँ उसे उसका मित्र नहीं दिखता, उसकी निगाह मित्र को ढूँढ़ती रहती है। इसी क्रम में वो स्टेशन पर कुछ खाता भी है। नवलकिशोर मित्र से मसखरी करने के लिए दुलाई वाली बन जाता है और यह बात अपनी पत्नी तक से नहीं बताता, पत्नी पति के न होने पर बहुत परेशान हो जाती है। वंशीधर परेशान औरत को घर तक पहुँचाने का आश्वासन् देता है। इस पर एक मुसाफ़िर वंशीधर से अपना हिस्सा मांगता है, जिस पर वह भड़क उठता है कि यहाँ एक स्त्री परेशान है और उसकी मदद करने को कौन कहे इसकी निगाह उसके गहने पर है। इलाहबाद स्टेशन पर उतरने के बाद भी स्त्री के पति का कोई पता नहीं है, वहीं एक दुलाई वाली दिखती है जिसको झिड़कते हुए वंशीधर कहता है कि तुम्हारे ही कारण यह सब हुआ है। वह दुलाई वाली और कोई नहीं नवल किशोर था जो अपने मित्र को छकाने के लिए अपनी पत्नी तक को नहीं बताया और वह बेचारी उसको ढूँढ़ती रही। गोपाल राय ने इस कहानी पर लिखते हैं- "यह एक चुहलबोध की कहानी है। पर इस चुहल के बीच मध्यवर्ग की आर्थिक अभावग्रस्तता के संकेत भी बहुत मार्मिक हैं। समकालीन परिवेश का यथार्थ चित्रण भी कहानी को नयापन प्रदान करता है। इसके साथ ही स्वदेशी आन्दोलन का उल्लेख और दबा–छिपा समर्थन भी कहानी को उल्लेखनीय बनाता है।"[285]

## 5.2 माधवराव सप्रे की कहानियाँ :

माधवराव सप्रे की कुल छः कहानियों का संकलन देवी प्रसाद वर्मा ने किया है। उनकी कहानियों पर विचार करते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि माधवराव सप्रे के साहित्य को भुलाने की एक साजिश हुई थी। किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आरम्भिक

[285]गोपाल राय, 'हिन्दी कहानी का इतिहास'- पृष्ठ सं. 50

कहानियों या कथाकारों में न इनकी किसी कहानी का जिक्र है, न आलोचना का। बहुत बाद में देवी प्रसाद वर्मा ने 'सारिका' मे हो रहे आरम्भिक कहानी के विवाद में 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी पर आलोचक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। जिससे 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी सर्वमान्य हिन्दी की पहली कहानी मानी गयी।

माधवराव सप्रे अपने लेखन में कई जगह यह बताते हैं कि इमानदारी से किया गया कोई भी कार्य सकारात्मक परिणाम देता है। इनकी कहानियों की कथावस्तु का मूल निहितार्थ भी यही है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "हिन्दी में जब कहानी लिखने की शुरूआत हो रही थी तब लेखकों के सामने कथा के पांच स्रोत मौजूद थे– संस्कृत का कथा साहित्य, उर्दू में प्रचलित दास्तान और किस्से, लोक कथा, बँगाल की कहानियाँ और अंग्रेजी का कथा साहित्य।"[286]

माधवराव सप्रे का कथा साहित्य अपने पूर्व प्रचलित श्रोंतों का अनुकरण है। ये कहानियाँ आगे आने वाले कथाकारों का मार्ग प्रशस्त करती हैं। माधवराव सप्रे की कहानी 'सुभाषित रत्न1' में पाँच नीतिगत बातों की सामाजिक व्याख्या है जो समाज को जगाने के लिए लिखी गयी है। लेखक की ऐसे कथावस्तु पर कहानी लिखने का उद्देश्य तत्कालीन समय की आवश्यकता थी, क्योंकि उस समय कुछ पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी, अंग्रेजों से हाथ मिलाकर अपने ही देश भाईयों को गुलाम बनाये रखने में सरकार की मदद कर रहे थे। 'सुभाषित रत्न' कहानी की कथावस्तु कुछ ऐसी ही है- जिसमें माली के हाथ में कुल्हाड़ी को देखकर सारे पेड़ डर जाते हैं, तब एक पुराना वृक्ष कहता है कि डरो मत यह हमारा तब तक कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा, जब तक हममें से कोई इसका बेंत न बनेगा।

'सुभाषित रत्न 1' की दूसरी कहानी में मूर्ख ज्योतिष और वेश्या को एक जैसा बताया गया है क्योंकि दोनों लोगों के मनोरंजन के लिए पंचांग दिखाते हैं। एक लोगों को पंचांग से

---

[286] संपादक मैनेजर पाण्डेय, 'माधवराव सप्रे प्रतिनधि संकलन' - पृष्ठ सं. भूमिका से

भविष्य दिखाकर मूर्ख बनाता है तो दूसरी अपने पांचों अंग दिखाकर रिझाकर क्षणिक सुख पाने के लिए उद्यत करती है। दोनों ही इंसान को अकर्मण्य बनाकर सारा धन ले जाते हैं। माधवराव सप्रे भारतीयों से आग्रह करते हैं कि वो अपने वर्तमान की चिंता करें तत्कालीन सुख के लिए अपने और अपने देशभाईयों के भविष्य को अंधाकार में न डालें। पंचांग की तुलना वेश्या से करना यह अपने में क्रांतिकारी विचार है।

'सुभाषित रत्न 1' की तीसरी कहानी पर्यटन के लाभ को बताती है। इसकी चौथी कहानी कंजूस को देश का सबसे बड़ा दानी बताया है, क्योंकि कंजूस उस द्रव्य का न स्वयं खर्च करता है और न ही कभी दूसरों को करने देता है। उसके मरने के बाद उसका धन देश का ही है तो वह बिना कुछ आशीर्वचन कहे–सुने ही देश का सबसे बड़ा दानी हुआ। पाँचवी नीतिगत कहानी में विद्वान अपनी योग्यता से परिस्थिति को अपने अनुकूल कर पद पर शोभित होता है। एक वाकपटु विद्वान राजा से कहता है कि राजा आप लोकनाथ हैं और मेरे तो लोग (आम जन) नाथ हैं, इसलिए दोनों एक छोर पर एक हैं। राजा इससे प्रसन्न होकर विद्वान को अपना आश्रय प्रदान करता है।

माधवराव सप्रे की दूसरी कहानी 'सुभाषित रत्न 2' है। यह कहानी भी संस्कृत कथा साहित्य के नीतिगत कथाओं से प्रेरित है। जिसमें यह बताया गया है कि धन मूर्खों के पास इसलिए होता है कि विद्वान लोगों को धन की कमी न हों। धनवान मूर्ख अपने धन की वजह से अपने क्षेत्र में पूजा जाता है जबकि विद्वान सर्वत्र पूजा जाता है। इस नीतिगत कहानी में एक विद्वान एक धनवान से आश्रय मांगने के लिए उसके पास जाता है। धनवान कहता है कि उसने कितनी मेहनत से धन इकट्ठा किया है और वह क्यों कवियों पर खर्च करे ? इस पर विद्वान कहता है कि रत्न तो तीन हैं –अन्न, जल और सुभाषित। पर मूर्ख लोग अज्ञानता के वशीभूत होकर पत्थरों को रत्न समझ बैठे हैं। विद्वान की बातों से राजा बहुत शर्मिंदा हुआ।

माधवराव सप्रे की कहानी 'एक पथिक का स्वप्न' जिसे उन्होंने उर्दू की दास्तान शैली में लिखा गया है । इस कहानी का मुख्य पात्र इतिहास प्रसिद्ध सुबुक्तगीन है । सुबुक्तगीन का संघर्ष और उसकी स्वतंत्रता की चाह ने अंततः उसे सम्राट बना दिया ।

सुबुक्तगीन बिना उद्देश्य ही जंगल में भटकता हुआ आराम करने के लिए एक जगह रुका वहाँ एक शेर ने उसके घोड़े पर हमला कर मार दिया । सुबुक्तगीन अपनी तलवार से उस शेर को मार देत है । सुबुक्तगीन रास्ते में भूख को शांत करने के लिए एक हिरन के बच्चे को पकड़ लेता है । हिरन की माँ उसके पीछे तब तक छुप –छुप कर चली, जब तक उसने उसके बच्चे को छोड़ नहीं दिया । सुबुक्तगीन माँ की ममता को देखकर हिरन के बच्चे को छोड़ देता है और भूखे ही आगे बढ़ा । रास्ते में उसे कुछ डकैत मिले और उसे बंदी बना लिया और एक व्यापारी को बेच दिया । व्यापारी ने भी उसे ऊँचे दाम पर बेचना चाहा पर कोई ग्राहक न मिलने पर व्यापारी ने सुबुक्तगीन को अपनी स्वतंत्रता खरीदने के लिए कहता है । वह कहता है कि "स्वतंत्रता मनुष्य मात्र को ईश्वर के यहाँ से मिली है, उसे मोल लेने की मेरी इच्छा नहीं । सच पूछिए तो तुम्हारे जैसे नीच रोजगार करने वालों का गला काटना ही मेरा कर्तव्य है । पर इस काम के लिए जितना मुझे अधिकार है, उतना ही तुमको मेरी स्वतंत्रता छीन लेने का है ।"[287]

व्यापारी, अपने गुलाम सुबुक्तागीन को बहुत परेशान करने लगा बाद में वहाँ का राजा अलप्तगीन इसे ख़रीद लिया । जल्दी ही यह राजा का विश्वासपात्र गुलाम बन गया । एक दिन बात ही बात में राजा ने गुलाम से उसके वंशजों के बारे में पूछा तो गुलाम ने बताया कि वह ईरान के बादशाह याजीदजद का वंशज है जो शत्रुओं से हारने के बाद उसका परिवार तुर्किस्तान में ही रहा । बाद में बादशाह ने सुबुक्तगीन को 'अमीरुल उमरा' का पद दिया ।

[287] संपादक देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ'- पृष्ठ सं.326

सुबुक्तगीन की अगुवाई में अलप्तगीन ने कई युद्ध जीते तो कुछ राजाओं ने बिना लड़े ही आत्म-समर्पण कर दिये।

अलप्तगीन की पुत्री जाहिरा राज्य के कई अमीरों का प्रेम निवेदन ठुकरा चुकी थी। राजा भी चिंतित हुआ फिर सोचा कि बेटी जहीन है अपना निर्णय ले रही है तो अच्छा है। जाहिरा और सुबुक्तगीन काफ़ी समय एक साथ गुजारते थे, धीरे–धीरे सुबुक्तागीन जाहिरा से प्यार करने लगा और एक दिन उसने अपने प्यार का इज़हार भी कर दिया। जाहिरा कहती है कि वह अपने पिता से पूछकर बताएगी और कहती है, “जो कन्या धर्म के अनुसार नहीं चल सकती, वह शादी हो जाने पर, स्त्री-धर्म से कैसे रह सकेगी ? जिसके हृदय में पितृप्रेम नहीं, उसके मन में पतिप्रेम कहाँ से आ सकता है।”[288]

अलप्तगीन अपनी बेटी के इस निर्णय से खुश होता है और दोनों की शादी कर देता है। अलप्तगीन के मरने के बाद उसका बेटा राजा बनता है पर वह जल्दी ही मर जाता है उसके बाद सुबुक्तगीन राजा बनता है।

माधवराव सप्रे की इस ऐतिहासिक कहानी में सहृदयता, स्वतंत्रता और प्रेम का बड़ा अच्छा चित्रण है। भारत में महमूद गजनवी लूट पाट का पर्याय है। फिर भी माधवराव सप्रे अपनी कहानी का विषय उसके पिता के संघर्ष को बनाते हैं। कैसे एक गुलाम अपने नेक इरादे और धर्मसम्मत जीवन जीते हुए सम्राट बना।

इस कहानी को संक्षिप्त में कहें तो हम कह सकते हैं कि एक भूखा किसी की ममता के वशीभूत होकर अपना खाना छोड़ता है, एक गुलाम अपनी स्वतंत्रता को खरीदने से साफ़ मना कर दण्डित होता है और एक अधिकारी के रूप में अपनी योग्यता को सिद्ध करते हुए अपनी स्वतंत्रता ही नहीं छीनता बल्कि सम्राट तक बन जाता है।

[288] संपादक देवीप्रसाद वर्मा, - ‘माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ’ पृष्ठ सं.330

माधवराव सप्रे की कहानी ‘सम्मान किसे कहते हैं’ की कथावस्तु अपनी स्वतंत्रता को बचाए रखने की प्रबल इच्छा पर आधारित है। सप्रे जी इस कहानी में आतताई सरकार का लालच और उसके षड्यंत्र की परिघटना को स्पष्ट किया गया है।

ग्रीस के राजा को अपने राज्य क्षेत्र के पास अवस्थित सुली नामक प्रदेश को अपने राज्य में मिलाने की बड़ी इच्छा हुई। उसने इस प्रदेश पर कब्ज़ा करने के लिए कई कार्य किये जैसे वहाँ के नेताओं को धन का लालच दिया, यहाँ तक धमकाया भी फिर भी कोई भी सुली नागरिक ग्रीस राजा के साथ न आया। ग्रीस के राजा ने इस राज्य को हर हाल में जीतने के लिए युद्ध छेड़ दिया, जिससे सुली लोग पराजित हो गए और उनके नेता को परिवार सहित बंदी बना लिया गया। सुली प्रदेश प्राकृतिक रूप से ऐसा बसा है कि वहाँ पर बाहरी सरकार बहुत दिन तक कब्ज़ा नहीं कर सकती। सुली के बंदी नेता झबेला से ग्रीस राजा ने कहा कि वह सुली प्रदेश उसे सौप दे बदले में उसे रिहाई और धन दिया जाएगा। झबेला मान गया और अपने बेटों को जमानत के रूप में वहीं छोड़ आया। बंदीगृह से छूटते ही झबेला अपने लोगों को और भी संगठित कर बड़ा आंदोलन करने की योजना बनाने लगा तो किसी ने कहा कि आपके बेटों को राजा मार देगा। इस पर झबेला कहता है कि ग्रीस सरकार के कहने पर यदि वह अपने देश को परतंत्र भी करा दे तब भी वह हमें ज़िंदा नहीं छोड़ेगा और कहता है कि क्या मेरा बेटा अपने देश के लिए कुर्बानी नहीं देगा, क्या वह सुली का बेटा नहीं है ?

ग्रीस राजा झबेला के बेटे को मारने का हुक्म देता है जिससे झबेला का बेटा कहता है कि एक न एक दिन मेरे पिता जी आपको हरा ही देंगे अगर मैं जिन्दा रहा तो आपको कम दंड मिलेगा नहीं तो उन्हें आपको माफ़ करने की कोई वजह नहीं होगी। राजा लड़के को नहीं मरवाता दुबारा .कैद करवा देता है। झबेला के कार्यों से नाराज़ ग्रीस सरकार ने चौबीस उन लोगों को बंदी बना लिया जिन्हें सरकार ने सुलह के लिए बुलाई थी। इससे सुली लोगों में स्वतंत्रता की चाह और बढ़ गयी। राजा सुली के मुखिया को धन का लालच देता है जिस पर

मुखिया बड़ी ही गंभीरता से कहता है कि सुली का एक पत्थर भी ग्रीस के सारी संपत्ति से भी अधिक क़ीमती है। सूली के लोगों का देश प्रेम देखकर माधवराव सप्रे लिखते हैं, "क्षणभंगुर द्रव्य की आशा न करके शास्त्रों के बल पर अपना नाम अजर–अमर करना और अपने स्वतंत्रता की रक्षा करना–यही हमारा काम है, यही हमारा धर्म है। हम कहते हैं कि यही सम्मान है !"[289]

माधवराव सप्रे की 'आजम' कहानी बालगंगाधर तिलक की विचार धारा की अनुगामिनी लगती है। क्योंकि इस कहानी का पात्र उदारवादी होने के चलते अपना सारा धन लोगों में बाँटकर कंगाल हो जाता है और उन्हीं के बीच वह हँसी का पात्र बन जाता है। वह दु:खी होकर जंगल की तरफ़ चला जाता है और वहीं रहने लगता है। उसने देखा कि यहाँ के पशु भी कमज़ोर जानवरों को खा जाते हैं। इससे वह और दु:खी होता है और मरने के लिए एक तालाब में कूदने की सोचता है, तभी कोई देवलोक से आकर उसे एक आदर्श शहर में ले जाता है और वहाँ कोई इंसान किसी को नहीं मारता खुद की जान बचाने के लिए वह कुत्ते बिल्लियों से डरकर छुपता है। यह देखकर वह उदारवादी इंसान यह मान लेता है कि धरती पर जीवन बहुत ही सरल और अच्छा है। वह देव दूत से कहता है- " नहीं, नहीं, हे गुरु महाराज ! मैं भूल गया। मैंने जो कुछ कहा व्यर्थ समझिए। यदि इस संसार में हम लोगों को रहना है तो अपने से नीचे के वर्ग के प्राणियों पर अन्याय करने का पातक लेना ही होगा।"[290]

'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिन्दी की सर्वमान्य पहली कहानी होने का गौरव मिला है। हिन्दी कहानी में इस कहानी को पहली कहानी का ख़िताब दिलाने का श्रेय देवीप्रसाद वर्मा और 'सारिका' पत्रिका के संपादक कमलेश्वर को जाता है। जिन्होंने हिन्दी की पहली कहानी विषय पर बहस में सारिका को मंच के रूप में प्रयोग किया था। यह कहानी हिन्दी की पहली कहानी है इसमें स्त्री अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती है। गोपाल राय लिखते हैं,

---

[289] संपादक देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.334
[290] संपादक देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.338

“1900-1905 की कहानियों में माधवराव सप्रे की ‘एक टोकरी भर मिट्टी’ पाश्चात्य कहानी की अवधारणा के सबसे निकट दिखाई पड़ती है। आश्चर्यजनक रूप से यह उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू–हिन्दी में प्रकाशित समस्त गद्यकथाओं से प्रकृतित: भिन्न है।”[291]

इस कहानी में जमींदार को अपने घर के पास की झोपड़ी तक चहारदीवारी बनाने की इच्छा हुई, बस क़ानूनी दाँव पेंच से झोपड़ी हड़प ली। बुढ़िया ने उसी झोपड़ी में अपने पति, बेटा और बहु को मरते देखा है; अब उसके जीने का सहारा मात्र एक पोती है। लेखक ने बुढ़िया की निरीहता और उसके अकेलेपन को दिखाया है और समकालीन सामंतवर्ग की धूर्तता भी। बुढ़िया को पता है कि जमींदार से लड़कर जीत तो नहीं सकती, पर उसका तिरस्कार तो कर ही सकती है। वह कहती है कि “महाराज ! नाराज न हों ! आपसे तो एक टोकरी भर मिट्टी उठाई नहीं जाती और इस झोपड़ी में तो हजारों टोकरियाँ मिट्टी पड़ी है। उसका भार जनम भर क्योंकर उठा सकेंगे ! आप इस बात का विचार कीजिए !”[292]

**5.3 माधवराव सप्रे की अनूदित कृतियाँ :**

भारत एक बहुभाषी राष्ट्र है जिसमें अनेक भाषाएँ एवं बोलियाँ बोली जाती हैं। इन सभी भाषाओं को एक मनुष्य जान ले यह संभव नहीं है। इसलिए नवजागरण काल में पूरे भारत को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए भारतीय साहित्य का विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना शुरू हुआ। इनमें प्रमुख नाम रवीन्द्रनाथ टैगोर का है जिन्होंने लोक कथाओं, गीतों और बाल गीतों को संग्रहित ही नहीं किया बल्कि उस समय इस आन्दोलन का नेतृत्व भी किया। दक्षिण में यही काम नटेसा शास्त्री कर रहे थे, इस क्षेत्र में उनकी ‘द फोक लार्स ऑफ सर्दन इण्डिया’ किताब बहुत प्रसिद्ध है। उपनिवेशवाद के समय अनुवाद की महत्ता और उसके उपयोग ने अनुवाद को एक लोकप्रिय विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। अनुवाद के

[291] गोपाल राय, ‘हिन्दी कहानी का इतिहास’ पृष्ठ सं. 50
[292] सं.देवीप्रसाद वर्मा, ‘माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ’ पृष्ठ सं.340

चलते विजित राष्ट्र उपनिवेशित राष्ट्र के मानस पर भी कब्ज़ा जमा लेता था। जिससे उसकी सत्ता सदियों तक बनी रहे। इसीलिए अंग्रेजों ने भारतीय साहित्य का अनुवाद किया और यहाँ की प्रतिरोध की संस्कृति से परिचित हुए। मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही लिखा है- "भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के अधिकांश निर्माता महत्त्वपूर्ण अनुवादक थे। हिन्दी नवजागरण के लेखक भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल के अनुवाद विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। ...भारतीय लेखक अनुवाद को औपनिवेशिक प्रभावों के विरुद्ध प्रतिरोध के साधन के रूप में विकसित कर रहे थे।"[293]

माधवराव सप्रे अपने मराठी भाषा के ज्ञान को दो संस्कृतियों को मिलाने में अच्छा उपयोग करते हैं। वे अनुवाद के महत्त्व और राजनीति में हो रहे उसके उपयोग से परिचित थे। उन्होंने अंग्रेजी में भी लिखे देश विरोधी लेखों या भारत की राष्ट्रीयता को खंडित करने वाली किताबों पर हिन्दी में लेख लिखकर अपने पाठकों को देश की अखंडता के ख़िलाफ़ हो रही साज़िश से सावधान करते थे। माधवराव सप्रे वैसे तो एक राष्ट्रवादी पत्रकार के रूप में अपनी पहचान बना चुके थे। इसी समय की एक दुर्घटना घटी और 'हिन्दी केसरी' के संपादक रूप में इन्हें जेल जाना पड़ा जहाँ वो ख़ुशी से जेल में थे। बड़े भाई की आत्महत्या की धमकी के दबाव साथ ही भाई को कुछ हो जाने पर परिवार के भरण-पोषण की चिंताएँ सप्रे जी को माफ़ी माँग कर जेल से बाहर आने को मज़बूर किया। उनको अपना यह निर्णय दुर्भाग्यपूर्ण लगा उन्होंने परांजपे से दीक्षा लेकर सन्यास ग्रहण कर लिया। इस समय उनका मन बहुत विचलित रहा करता था, जिससे इनके आध्यात्मिक गुरु परांजपे ने उन्हें मराठी मूल के ग्रन्थ 'दासबोध' का अनुवाद करने को कहा। दासबोध की भूमिका में लिखते हैं- "हिन्दी केसरी के पढ़ने वालों को स्मरण होगा कि सन् 1908 के नवंबर महीने की 22 तारीख तक नागपुर के सेन्ट्रल जेल में मेरे सार्वजनिक जीवन का कुछ भाग व्यतीत हुआ था। मैंने सरकार से क्षमा मांगकर अपनी

[293] संपादक मैनेजर पाण्डेय, 'देश की बात' भूमिका पृष्ठ बारह

मुक्तता प्राप्त कर ली। इस बात पर लोगों ने कुछ अनुकूल और प्रतिकूल टीका की; परंतु उस समय मैंने अपनी ओर से उत्तर नहीं दिया। उस विषय पर मैं अब भी किसी प्रकार की चर्चा नहीं करना चाहता। इसमें संदेह नहीं कि कारागृह से मुक्त होने के बाद मेरे अंत:करण की दशा बहुत चंचल, क्षुब्ध और क्लेशदायक हो गई थी। इसलिए शांति-सुख का अनुभव करने हेतु मुझे कुछ समय तक रायपुर में आकर अज्ञातवास स्वीकार करना पड़ा। वहाँ एक ओर जन-मास ने मुझे स्वदेशद्रोही, विश्वासघाती और डरपोक कहकर मेरा त्याग कर दिया, दूसरी ओर सरकार ने मुझे बलवाई, अराजकनिष्ठ और विद्रोही मानकर अपने जासूस, गुप्तदूत (डिटेक्टिव) मेरे पीछे लगा दिए। ऐसी अवस्था में मेरी जो आंतरिक दुर्दशा हो रही थी, उसका हाल मैं ही जानता हूँ।"[294]

माधवराव सप्रे ने मराठी के उन ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया है जो मराठों में शक्ति और स्वाभिमान का संचार करते थे। इन्होंने तीन प्रमुख मराठी ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया है जिनमें 'दासबोध', 'महाभारत मीमांसा', और 'गीता रहस्य' महत्त्वपूर्ण हैं। संतोष कुमार शुक्ल माधवराव सप्रे के अन्य कुछ अनूदित किताबों या लेखों का जिक्र करते हैं जिनमें 'श्री राम चरित्र', एकनाथ चरित्र' और 'शालोपयोगी भारत वर्ष' है। उन्होंने मात्र इन ग्रंथों का नाम ही बताया है, इनकी कथावस्तु के बारे में कुछ नहीं बताया है।

माधवराव सप्रे 'गीता रहस्य' की भूमिका में बताते हैं कि अनुवादक को अनुवाद करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। वे लिखते हैं- "इसलिए मैंने अपने लिए दो कर्तव्य निश्चित किए : (1 ) यथामति मूल भावों की पूरी–पूरी परीक्षा की जाए और (2 ) अनुवादक की भाषा यथाशक्ति शुद्ध, सरल, सरस और सुबोध हो।"[295]

माधवराव सप्रे को राजद्रोह के मुकदमें से बचने के लिए घर परिवार के दबाव में सरकार से माफ़ी मांगनी पड़ी। अंग्रेज सराकर से माफ़ी के आत्मग्लानि से सप्रे ने सार्वजनिक

---

[294] सं.देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 24

[295] अनुवादक माधवराव सप्रे, 'गीतारहस्य' पृष्ठ सं. 1

जीवन से सन्यास ले लिया, पर इनका मन विचलित रहता था। वर्धा के पास अवस्थित हनुमानगढ़ के संत विष्णु परांजपे ने इन्हें एक वर्ष 'मधुकरी' मांगकर खाने और 'दासबोध' का हिन्दी में अनुवाद करने को कहा। माधवराव सप्रे 'दासबोध' का अनुवाद अपने सहयोगी लक्ष्मीधर वाजपेयी के साथ मिलकर पूरा किया।

'दासबोध' ग्रन्थ शिवाजी के समकालीन श्री समर्थ स्वामी रामदास की रचना है। यह ग्रन्थ सगुण विचारधारा का पोषक है साथ ही साथ इस ग्रन्थ में समकालीन समस्याओं पर भी विचार किया गया है। इसलिए यह ग्रन्थ एक साथ राजनीतिक, धार्मिक और नीतिगत विषयों का ग्रन्थ है। सप्रे इस ग्रन्थ को सर्वकालिक ग्रन्थ मानते हैं।

'दासबोध' में कुल बीस दशक (अध्याय) हैं, जिसके आठ दशक क्रम से हैं और शेष बारह दशक में पुनरावृत्ति है। यह पुनरावृत्ति स्वामी रामदास के एक जगह पर ठहर कर न लिखने के कारण हुई। स्वामी रामदास बहुत घुमक्कड़ी जीवन जीते थे वे एक जगह पर बहुत समय तक नहीं रुकते थे। इसलिए बारह से बीस दशक में खूब पुनरावृत्ति है, इस ग्रन्थ में कुल 7749 पद्य हैं।

'दासबोध' का मुख्य प्रतिपाद्य परोपकार है। मनुष्य में परोपकार ही एक ऐसा गुण है जो उसको इस भवसागर से मुक्ति दिला सकता है। समर्थ रामदास जी संत समाज से बहुत आशान्वित हैं और उन्हें अनेक शिष्य बनाने को कहते हैं। उन शिष्यों को शिक्षित कर सुदूर स्थानों पर भेजकर ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने के लिए कहते हैं। समर्थ रामदास जी का मानना है की संत समाज की ज़िम्मेदारी है कि वो समाज को शिक्षित और जागरूक करें। माधवराव सप्रे ने 'दासबोध' पर एक परिचयात्मक लेख 'सरस्वती' में लिखा था, जिसमें वे बताते हैं कि "अधिकांश जन स्वार्थ ही में फंसे रहते हैं। इसलिए इन लोगों को परमार्थ मार्ग में लगने के लिए साधु और संतों के बोध की परम आवश्यकता है। इस प्रकार के स्वार्थो–संसारी-जनों के

हित का बोध इस दासबोध ग्रन्थ में किया गया है । श्रीरामदास स्वामी जैसे परमार्थ में पारंगत थे वैसे ही व्यवहार में भी कुशल और दक्ष थे ।"[296]

श्री रामदास आधुनिक शिक्षा जैसे तर्क विज्ञान, औषधि ज्ञान आदि को शुद्ध ज्ञान नहीं मानते, वे इसे माया कहते हैं । अपने को पहचानने और आत्मबल से ब्रह्म की खोज को वे ज्ञान मानते  हैं । उनका मानना है कि परोपकार ही एक ऐसा गुण है जो लोगों को लोक और परलोक में प्रसिद्धि और अमरत्व प्रदान करता है ।

समर्थ रामदास जी एक अच्छे समाज के निर्माण में संत समाज की  महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं । साथ ही यह भी कहा है कि यदि समाज में दुर्गुण फलफूल रहे हैं तो इसका ज़िम्मेदार भी संत समाज है क्योंकि इसने अपने कर्तव्य का निर्वहन अच्छे से नहीं किया । मानव समूह तो हमेशा से मूर्ख ही रहा है और उन पर इन दुर्गुणों का आरोप लगाना भी सही नहीं है ।

इस ग्रन्थ में गुरु शिष्य के संवाद के माध्यम से मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है । जिससे यह ग्रन्थ राजनीति और नीतिगत विषयों से प्रेरित लगता है । माधवराव सप्रे 'दासबोध' ग्रन्थ की भूमिका में इसके महत्त्व पर लिखते हैं, " आप इस बात को न भूलिए कि यह ग्रन्थ कोई जासूसी किस्सा या अद्भुत उपन्यास नहीं है, जो एक बार पढ़कर किसी कोने में फेंक दिया जाए । इसमें ऐसी अनेक बातें बताई गई हैं जो आत्मा, व्यक्ति, समाज और देश के हित की दृष्टि से विचार करने तथा कार्य में परिणत करने योग्य हैं । इसलिए परमार्थ की इच्छा रखनेवाले पुरुष को इसका उत्तरार्ध बारंबार मनन पूर्वक पढ़ना चाहिए ।"[297]

माधवराव सप्रे का महत्त्वपूर्ण हिंदी अनुवाद बालगंगाधर तिलक की मराठी मूल की 'गीता रहस्य' है । 'गीता रहस्य', 'भगवद्गीता' का आधुनिक पाठ है । 'गीता रहस्य' का अनुवाद सबसे पहले भारतीय भाषाओं में हिन्दी में हुआ । यह अनूदित किताब हिन्दी पाठकों में बहुत लोकप्रिय हुई । इसके पहले संस्करण की मात्र दो महीनों में ही सारी प्रतियाँ बिक

[296] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं. 418
[297] संतोष कुमार शुक्ल 'पत्रकारिता के युग निर्माता माधवराव सप्रे' पृष्ठ सं. 99

गयीं। अब तक इस किताब के पच्चीस संस्करण आ चुके हैं। किताब में भगवद्गीता के गूढ़ रहस्य को समझाने का प्रयत्न है। माधवराव सप्रे ने 'गीता रहस्य' का अनुवाद करने के बाद इस किताब पर एक निबंध लिखा, जो 'सरस्वती' के अप्रैल 1917 के अंक में छपा है। माधवराव सप्रे तिलक के बारे में लिखते हैं, "'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' और 'ओरायन' नामक उनके दो ग्रन्थ से उनकी कीर्ति तथा शोधक बुद्धि दूर–दूर तक प्रसिद्ध हो गई है। आपने लगातार 40 वर्ष तक गीता पर विचार किया है। श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि महापुरुषों के साम्प्रदायिक भाष्यों, आधुनिक देशी तथा विदेशी टीकाओं और बौद्ध, जैन आदि भारतीय तथा यूरोप के भिन्न–भिन्न दर्शनशास्त्रों का अच्छी तरह अनुशीलन करके आपने यह 'गीता रहस्य' लिखा है तथा बड़ी ही योग्यता से सिद्ध किया है कि गीता-प्रतिपादित धर्म ही संसार के सब धर्मों में श्रेष्ठ है।"[298]

बालगंगाधर तिलक 'गीता रहस्य' लिखते समय अपने से पहले 'भगवद्गीता' पर लिखे टीकाओं पर भी विचार करते हैं। इसमें कर्म को प्रतिष्ठित कर, कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। माधवराव सप्रे अपने लेख 'गीता रहस्य विवेचना' में बताते हैं कि कुछ लोग कर्मयोग को पतंजलि का योग मार्ग समझ बैठे हैं जबकि 'भगवद्गीता' का कर्मयोग अलग है। इस कर्मयोग में कर्म को प्रधान रूप में स्वीकार किया गया है। माधवराव सप्रे योग को स्पष्ट करते हुए 'योग' शब्द के शाब्दिक अर्थ को बताते हुए उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं। 'योग' शब्द 'युज' धातु से मिलकर बना है जिसका अर्थ 'युक्ति' है। माधवराव सप्रे ने इसी युक्ति को योग का पर्याय माना है, बिना विघ्न के काम में लगे रहने की 'युक्ति' कर्मयोग है।

गीता के अनुसार सन्यास और कर्मयोग दोनों ही अलग हैं। भगवान के उपदेश का पालन इंसान गृहस्थाश्रम में भी कर सकता है। सन्यास धर्म का पालन मोक्ष की कामना करने वाले करते हैं। जबकि कर्मयोग इनसे विशिष्ट है इसलिए इसका उपदेश भगवान श्री कृष्ण ने

---

[298] सं. विजय दत्त श्रीधर, 'माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं. 430

अर्जुन को दिया। गीता में अर्जुन को कर्मयोगी कहा गया है। गीता में कर्मयोग, सद्विचार और सद्कार्य आदि बहुत सी बातों पर विचार किया गया है।

माधवराव सप्रे ने अपने लेख 'गीता रहस्य विवेचना' में भगवद्गीता के श्रृष्टि की उत्पत्ति संबंधी विचार की व्याख्या करते हुए बताया है कि ब्रह्मा के सात मानस पुत्रों से श्रृष्टि की उत्पत्ति हुई है। श्रृष्टि का कार्य निरंतर चलता रहे इसलिए ब्रह्मा ने इनके दो संगठन बनाये। एक संगठन ने कर्ममय सिद्धांत को अपनाया तो दूसरे (सनत्कुमार आदि ने ) सन्यास मार्ग ग्रहण किया। गीता से यह स्पष्ट है कि गृहस्थाश्रम और सन्यासी दोनों को समान रूप से मोक्ष प्राप्ति की शक्ति है।

गीता में स्पष्ट लिखा है कि पाप पूण्य का संबंध कर्म से नहीं बल्कि बुद्धि से है। कुछ लोगों का आरोप है कि क्या भगवान कृष्ण ने गीता का उपदेश युद्ध के लिए दिया है अगर नहीं तो वे गीता पाठ युद्ध से पहले भी दे सकते थे ? अर्जुन की किंकर्तव्यविमूढ़ अवस्था को दूर करने के लिए भगवान श्री कृष्ण को मनुष्य की उसकी शक्ति और सामर्थ्य और संबंधों के मिथ्याभिमान को बताना ज़रूरी हो गया जो आगे आने वाली मानव की पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय है। सही समय पर लिया गया निर्णय ही एक बड़ी जीत का आधार है भगवान श्री कृष्ण का यह उपदेश पांडवों के जीत का आधार बना। गीता में लोककल्याण की भावना को देखते हुए तिलक ने इसका पुनर्पाठ दुनियाँ के सामने प्रस्तुत किया। माधवराव सप्रे लिखते हैं- " ज्ञानी पुरुष जब मुक्त हो जाते हैं तब उन्हें स्वयं अपने लिए इस संसार में कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। परंतु अन्य अज्ञानी जीव उन्हीं पर अवलंबित रहते हैं। अतएव उनके हित के लिए ज्ञानियों को कर्म करते ही रहना चाहिए। इसी को गीता 'लोक संग्रह' कहती है। यहाँ संग्रह - शब्द का अर्थ संचित करना, पालना, रखना, नियमन करना, पोषण करना इत्यादि होता है।[299]

[299]' सं. विजय दत्त श्रीधर माधवराव सप्रे रचना संचयन' पृष्ठ सं. 446

माधवराव सप्रे का तीसरा अनूदित ग्रन्थ 'महाभारत मीमांसा' है। यह ग्रन्थ महाभारत पर आधारित चिंतामणि विनायक वैद्य की रचना 'उपसंहार' का अनुवाद है। इस ग्रन्थ को माधवराव सप्रे ने अठारह प्रकरणों में विभाजित कर विस्तृत विश्लेषण किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ का अनुवाद ही नहीं किया है, बल्कि इससे संबंधित कई प्रश्नों और जिज्ञासाओं को शांत करने की चेष्टा भी की है।

कुछ विद्वान महाभारत काल जैसी अवधारणा पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते हैं तो कुछ ने कृष्ण को एक ही कृष्ण नहीं मानते, कृष्ण के तीन रूप मानते हैं एक बाल कृष्ण दूसरे द्वारिकाधीश कृष्ण और तीसरे भगवद्गीता वाले कृष्ण। माधवराव सप्रे ऐसे सभी प्रश्नों को निरर्थक बताते हुए सबल तर्कों से महाभारत काल की सच्चाई और सभी गुण कृष्ण में है को स्थापित करते हैं। संतोष कुमार शुक्ल लिखते हैं, " अपने गंभीर विवेचन से सप्रे जी ने यह बात पाई कि भगवद्गीता अथ से इति तक एक संबद्ध ग्रन्थ है। वह किसी एक अलौकिक बुद्धिमान कवि अर्थात् व्यास या वैशंपायन का बनाया है। वह प्रारंभ से ही भारत ग्रन्थ का भाग जानकर तैयार किया गया था और जब सौति ने अपने महाभारत की रचना की, उस समय वह ज्यों का त्यों उसके सामने उपलब्ध था।" [300]

---

[300] सतोष कुमार शुक्ल 'पत्रकारिता के युग निर्माता : माधवराव सप्रे' पृष्ठ सं. 105

## षष्ठम अध्याय

## हिन्दी पत्रकारिता और माधवराव सप्रे

### 6.1 आरम्भिक हिन्दी पत्रकारिता :

आधुनिक पत्रकारिता का जन्म जिज्ञासा और खोज के सतत विकास-क्रम में हुआ। कागजी मुद्रण की खोज चीन ने बहुत पहले कर ली थी। यूरोपीयों को इस मुद्रण कला का ज्ञान बाद में हुआ। पत्रकारिता का आधुनिक रूप नवजागरण की देन है। विश्व का पहला पत्र चीन से 'पेंकिंग गजट' या 'चिंताओ' नाम से प्रकाशित हुआ। यूरोप में प्रेस स्थापित करने का श्रेय जर्मनी के गुटेन बर्ग नामक व्यक्ति को जाता है जिसने 1440 में एक प्रेस की स्थापना की। इंग्लैण्ड में प्रेस की स्थापना करने का श्रेय कैक्सटन 1477 ई. को जाता है। इंग्लैण्ड में पहला समाचार पत्र का प्रकाशन 1603 ई. में प्रकाशित हुआ। बाद में लन्दन से ही 1666 में 'लंदन गजट' प्रकाशित हुआ जो सप्ताह में दो बार प्रकाशित होता था।

भारत में पत्रकारिता की शुरूआत यूरोप की तरह नहीं हुई, यहाँ छापाखाना तो पुर्तगाली लाये, पर इन लोगों ने समाचार पत्रों के प्रकाशन की शुरूआत नहीं की। भारत में गोवा के जेस्युट मिशनरियों ने 1556 ई. में पहले प्रेस की स्थापना की। बाद में दक्षिण भारत में दो प्रसिद्ध प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना हुई, उनमें से एक अबलक्कुडू (1679) और त्रान्कवार (1712-1713) था। हिन्दी क्षेत्र में तो बहुत बाद में प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना सीरामपुर में 1800 ई. में हुई। यह प्रेस बाईबिल के अनुवाद और इसाई धर्म के प्रचार के लिए स्थापित किया गया था।

भारत में प्रेस की स्थापना यूरोपियों ने अपने निजी हित के लिए की थी इसलिए यहाँ पत्रकारिता की शुरुआत बहुत बाद में हुई। भारत का पहला समाचार पत्र कोलकाता से 'बँगाल गजट' 29 जनवरी 1780 को प्रकाशित हुआ, जिसके संपादक जेम्स आगस्टस हिकी थे। वे अपने पत्र के माध्यम से अंग्रेज सरकार की नीतियों पर तल्ख़ टिप्पणी करते थे। जिसके

लिए अंग्रेज सरकार ने आगस्टस को बहुत परेशान किया और इन पर जुर्माना लगाकर जेल तक भेजा। दक्षिण भारत में चेन्नई का पहला समाचार 'मद्रास कुरियर' 1791 था, जिसके संपादक ब्यायड थे। चेन्नई से ही 'मद्रास गजट' 1794 और 'इण्डिया हेराल्ड' नामक दोनों पत्रों के संपादक ह्मफ्रेज को गिरफ्तार कर इंग्लैण्ड भेजने की कोशिश की गयी, जहाज पर से ये भाग निकले थे। मुंबई का पहला समाचार पत्र 'बांबे हेराल्ड' 1789 में प्रकाशित हुआ। मुंबई से दो अन्य समाचार पत्र 'कूरियर' 1790 और 'बांबे गजट' 1791 के साथ जोड़ दिया गया।

लार्ड वेलेजली के पत्रों पर प्रतिबंध लगाने से भारत से समाचार पत्र लगभग गायब हो गया था। 1814 तक कोलकाता से मात्र एक 'कलकत्ता गवर्नमेंट गजट' समाचार पत्र निकलता था जो ब्रिटिश सरकार का था। लार्ड हेस्टिंग्ज ने 1818 ई. में समाचार पत्रों पर लगे प्रतिबंध हटा लिये। जिससे कोलकाता से ही कई समाचार पत्र निकले। आरम्भिक भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता के विकास का श्रेय श्री रामपुर (सीरामपुर) से 1818 में निकलने वाली पत्रिका जिसके संपादक बैपटिस्ट पादरी जेशुआ मार्शमैन को जाता है। जिनके संपादन में 'दिग्दर्शन' निकला जो अंग्रेजी और बांग्ला दोनों भाषाओं में निकलता था। बाद में यहीं से 23 मार्च 1818 को 'समाचार दर्पण' नाम से बांग्ला में निकला। इन पत्रों को धर्म प्रचार के लिए प्रकाशित किया गया था इसलिए पत्रकारिता के विकास में इनका कोई बहुत महत्त्व नहीं है।

अब धीरे–धीरे कुछ उत्साही भारतीयों ने भारतीय भाषाओं में समाचार पत्रों को प्रकाशित करने के उद्योग करने लगे। उन्हीं उद्यमियों में हरिहर दत्त हैं, जिन्हें उर्दू का पहला समाचार पत्र 'जाम-ए-जहानुमा' 27 मार्च 1822 ई. को प्रकाशित करने का गौरव मिला। इसके संपादक मुंशी सदासुख मिर्जापुरी थे। राजा राममोहन राय द्वारा संपादित बांग्ला भाषी समाचारपत्र 'संवाद कौमुदी' (1819 ) बहुत लोकप्रिय हुआ। इन्होंने ही फ़ारसी का पहला समाचार पत्र 'मिरातुल अख़बार' 20 अप्रैल 1822 ई. से प्रकाशित किया।

1823 में एडम्स गवर्नर जनरल हुए, इन्होंने प्रेस संबंधी सभी कार्य के लिए सरकार से अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया। लाइसेंस के बिना प्रेस की स्थापना ग़ैर कानूनी कर दी। इस नियम को न माननेवालों पर एक हजार रुपये का आर्थिक दंड या छ: महीने की जेल का प्रावधान किया गया था। 'मिरातुल अख़बार' ने इस कानून की खुलकर आलोचना की। इस कानून के ख़िलाफ़ राजा राममोहन राय और पांच अन्य ने मिलकर सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर की, हालाँकि याचिका खारिज़ कर दी गयी। उसके बाद भी राजा राममोहन राय ने हार नहीं मानी और वे ब्रिटेन कौंसिल से इस अध्यादेश के ख़िलाफ़ गुहार लगाई। वहाँ भी शिकायत पर कोई संज्ञान न लेने पर राजा राममोहन राय ने विरोध स्वरूप 'मिरातुल अख़बार' बंद कर दिया।

अंग्रेज सरकार ने जब भी भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता को कानूनी दांव–पेंच में उलझाने की कोशिश की, तब–तब पत्रकारिता ने दूनी ताकत और संख्या से कानून का प्रतिकार किया। 1823 के पत्रकारिता संबंधी लाइसेंस की अनिवार्यता के विरोध में कई नई पत्रिकाओं का जन्म हुआ। इनमें 'उदंत मार्तंड' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जिसे हिन्दी का पहला समाचार पत्र होने का गौरव मिला।

पंडित युगल किशोर शुक्ल ने 30 मई 1826 को 'उदंत मार्तंड' नामक हिन्दी का समाचार पत्र प्रकाशित किया। इस पत्र को प्रकाशित करने के लिए उनका उद्देश्य स्पष्ट था, वे बताते हैं कि हिन्दी भाषियों में उनकी बोली में समाज, साहित्य का ज्ञान प्रदान करना है। इस पत्र में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग मिलता है- कविता के लिए ब्रज भाषा का तो गद्य के लिए खड़ी बोली का, जिसे संपादक महोदय मध्यदेशीय भाषा कहा है। यह साप्ताहिक पत्र सरकार की उपेक्षा और आर्थिक तंगी से जूझते हुए 11 दिसंबर 1827 तक ही प्रकाशित हो पाया। पंडित युगल किशोर अपने संपादकीय लेख में स्पष्ट लिखा है "शूद्र चाकरी आदि नीच काम करते हैं, उन्हें पढ़ाई-लिखाई आदि से मतलब नहीं। ब्राह्मणों ने तो कलयुगी ब्राह्मण

बनकर पठन-पाठन को तिलांजलि दे रखी है, फिर हिन्दी का समाचार पत्र कौन पढ़े और ख़रीदे।"[301]

राजा राममोहन राय ने कोलकाता से ही बहुभाषी समाचार पत्र 'बंगदूत' प्रकाशित किया। जो एक साथ ही अंग्रेजी, बांग्ला, फ़ारसी और हिन्दी में 10 मई 1829 को प्रकाशित हुआ। पत्र का अंग्रेजी संस्करण 'हिन्दू हेराल्ड' नाम से अलग निकलता था। राजा राममोहन राय धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अंग्रेज सरकार को ज्ञापन देकर भारतीयों को आधुनिक शिक्षा देने की माँग की। राजा राममोहन राय की नज़रों में हिन्दी बहुत ही महत्त्व रखती थी तभी तो वे अपनी बहुभाषी पत्रिका में हिन्दी को भी जोड़ा और तो और उन्होंने वेदांत सूत्रों का अनुवाद क्रमानुसार बांग्ला, हिन्दी और अंग्रेजी में किया है।

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी अपनी किताब 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' में राजा राममोहन राय के हिन्दी लेखन का नमूना हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'विशाल भारत' के दिसम्बर 1933 के अंक में छपे लेख से उद्धृत करते हैं, "जो सब ब्राह्मण सामवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्मपरायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री ने जो पत्र सांगवेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है– वेदाध्ययनहीन मनुष्यों के स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"[302]

राजा राममोहन राय की हिन्दी आज की मानक हिन्दी के बहुत नज़दीक है। 'बंगदूत' लगभग एक वर्ष के अंदर ही बंद हो गयी। जगदीश चतुर्वेदी इस पत्र के महत्त्व को बताते हुए लिखते हैं कि "यद्यपि इस बात का पता नहीं लगता कि 'बंगदूत' कितने दिन तक चला; परंतु इसने अहिन्दी भाषियों के हिन्दी समाचार-पत्र प्रकाशित और संपादित करने की परंपरा स्थापित कर दी।"[303]

---

[301] अर्जुन तिवारी, 'हिन्दी पत्रकारिता का वृहद इतिहास' पृष्ठ सं. 89

[302] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 27

[303] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 26 -27

‘बंगदूत’ के बाद कलकत्ता से एक ‘मार्तंड’ समाचार पत्र 11 जून 1846 से प्रकाशित हुआ। इस साप्ताहिक पत्र के प्रकाशक मौलवी नसीरुद्दीन थे। यह पत्र भी पाँच भाषाओं अंग्रेजी, हिन्दी, बांग्ला, उर्दू और फारसी में प्रकाशित होता था।

1848 में हिन्दी क्षेत्र से निकलने वाला पहला हिन्दी समाचार पत्र होने का गौरव ‘बनारस अख़बार’ को मिला है। इस पत्र के प्रकाशक गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे। अम्बिकादत्त बाजपेयी ने इस अख़बार पर उर्दू अख़बार होने का आरोप लगाया है। उर्दू पत्रकारिता के इतिहासकार नादिर अली खां ने भी इसे उर्दू अख़बार बताया है। बनारस अख़बार पर उर्दू अख़बार होने का आरोप लगाने की दो वजहें हैं। पहला यह कि राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द कट्टर हिन्दी के समर्थक नहीं थे। दूसरा, जहाँ से ‘बनारस अख़बार’ निकलता था वहीं से उर्दू अख़बार ‘बनारस गजट’ भी छपता था। अब की तरह तब टाइपिंग छापाखाने का विकास बहुत कम हुआ था और वह प्रेस, लिथो प्रेस था इसीलिए दोनों अख़बार की शब्दावलियाँ एक जैसी थी।

‘बनारस अख़बार’ अपनी भाषा और शब्दावलियों के चलते अंग्रेजों में लोकप्रिय पत्रिका थी। इसलिए वह कभी घाटे में नहीं रही। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने लिखा है, “वर्ष 1848 की सरकारी रिपोर्ट में कहा गया है कि इस पत्र की प्रतिमास आय चौवालीस रुपये थी, जिसमें तेईस रुपये यूरोपियनों से मिलते थे और इक्कीस हिन्दुओं से।”[304]

‘सुधाकर’ बनारस का दूसरा अख़बार था। जिसके संपादक तारामोहन मैत्र थे। शुरू में यह पत्र बांग्ला और हिन्दी में छपता था, तीन वर्ष बाद यह केवल हिन्दी में छपने लगा। अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने इसे हिन्दी का पहला पत्र माना है।

‘बुद्धि प्रकाश’ अपने समय का एक अच्छा अख़बार था, जिसके संपादक सदासुख लाल जी थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सदासुखलाल की भाषा की प्रशंसा करते हुए संस्कृत

[304] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, ‘हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास’ पृष्ठ सं. 29

मिश्रित साधु भाषा कहा है। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी सदासुख लाल की व्यापारिक क्षमता का बखान करते हुए लिखते हैं कि जिस समय हिन्दी अख़बार निकालना घाटे का व्यापार होता था, उस समय "उनके दोनों अखबारों की दो–दो सौ प्रतियाँ सरकार ख़रीदती थी; जबकि उर्दू अख़बार के ग़ैर–सरकारी ग्राहक सैंतीस और हिन्दी के तो पंद्रह ही थे। उस समय दिल्ली ग्वालियर और लाहौर से भी उर्दू के अख़बार निकल रहे थे। आगरा का 'ज़ोबदुत–उल' अख़बार बीस साल तक चला।"[305]

हिन्दी की आरम्भिक पत्रिकाओं में कलकत्ता से निकलने वाला पत्र 'समाचार सुधावर्षण' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पत्र के संपादक श्याम सुंदर सेन थे, जिन्होंने अपने समय की सबसे बड़ी घटना 1857 की क्रांति की रिपोर्टें अपने पत्र में छापे। रिपोर्टिंग के साथ ही श्याम सुंदर सेन ने बहादुर शाह जफ़र का 'घोषणापत्र' भी छापा, जिसमें लोगों से क्रांति में हिस्सा लेने की अपील की गयी थी। इनके इस कार्य से अंग्रेज सरकार ने इन पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया, पर सुप्रीमकोर्ट इन्हें दोषी नहीं ठहरा पायी। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं, "परंतु दो भाषाओं का यह पत्र होने के कारण संभवतः दोनों में से किसी भाषा की पत्रकारिता के आरम्भिक इतिहासों में इसका उल्लेख उतने गौरवपूर्ण शब्दों में नहीं किया गया जितने चौबीस वर्ष तक चलने वाले और सरकार का कोप सहन करने की शक्ति रखनेवाले इस पत्र का होना चाहिए था।"[306]

1857 की क्रांति पर कई उर्दू के अख़बारों ने भी रिपोर्टिंग की थी उनमें 'सुलतानुल अखबार' और 'दूरबीन' पर भी राजद्रोह का मुकदमा चला, पर इसके प्रकाशकों ने माफ़ी माँग ली। दिल्ली से 8 फरवरी 1857 को 'पयामे आज़ादी' अख़बार का प्रकाशन शुरू हुआ। यह पत्र क्रांति का उद्घोष करने वाला था इसके संपादक अलीमुल्ला खां थे और प्रकाशक बहादुर शाह जफ़र के पुत्र बेदार बख्त थे। इस पत्र ने 1857 की क्रांति की रिपोर्टिंग की, साथ ही लोगों

---

[305] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 33

[306] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 40

को क्रांति से जुड़ने का आह्वान भी किया। बाद में इसके संपादक और प्रकाशक को फाँसी की सज़ा दे दी गयी। यह भी कहा जाता है कि यह अख़बार जिनके भी घर मिला उन्हें भी फाँसी दे दी गयी। कोलकाता से 1857 की क्रांति के समर्थन में 'हिन्दू पैट्रियाट' ने भी रिपोर्टिंग की जिसके संपादक हरिश्चंद्र मुखर्जी थे।

'मालवा अख़बार' इंदौर राज्य सरकार के संरक्षण में 1849 में शुरू हुआ। जो 1857 तक निरंतर प्रकाशित होता रहा। इस पत्र के संपादक प्रेमनारायण थे। यह द्विभाषी (हिन्दी, उर्दू) पत्र था। 1857 की क्रांति से उपजी स्थिति पर तत्कालीन संपादक प्रेमनारायण जी ने एक लेख प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था, 'जनता में फूट डालने के लिए साम्प्रदायिकता को बनाए रखना सरकार का एक सगल था।' ''यूनान में ऐसा कानून था, जिसके मुताबिक मुल्क में आपस में फसाद होने पर हर शख़्स को किसी न किसी पक्ष का साथ देना ज़रूरी था। जो शख्स ऐसा नहीं करता, उसे यूनानी नहीं माना जाता था और यूनान से बाहर निकाल दिया जाता था।''[307]

1857 की क्रांति के बाद हिन्दी पत्रकारिता या यूँ कहें भारतीय पत्रकारिता में राष्ट्रीय चेतना अपने आरम्भिक दौर में थी। इन पत्रों का उद्देश्य समाज सुधार और शिक्षा के क्षेत्र में लोगों को जागरूक करना था। इन्हीं शिक्षा संबंधी और समाज सुधारक पत्रिकाओं में भारतेंदु हरिश्चंद्र की 'कविवचन सुधा' 1867-1868 का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेंदु हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी और समाज सुधार के लिए दृढ़ संकल्प थे। हिन्दी क्षेत्र को जगाने में 'कविवचन सुधा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लोगों के स्वाभिमान को जगाने के लिए स्वत्त्व की पहचान पर जोर दिया। भारतेंदु हरिश्चंद्र को पता था की हिन्दी साहित्य के लिए जितनी ज़रूरत साहित्यिक पत्रिकाओं की है, उतनी ही भारत की आधी आबादी को शिक्षित करना भी, इसलिए उन्होंने स्त्रियों के लिए 'बालाबोधिनी' पत्रिका का प्रकाशन किया। भारतेंदु का अपने

[307] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 43

समय के बड़े विचारकों से व्यक्तिगत संबंध था। उन्हीं विचारकों में 'सोम प्रकाश' के संपादक ईश्वरचंद्र विद्यासागर भी थे। भारतेंदु द्वारा संपादित पत्रिकाएँ 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और 'बाला बोधिनी' की पांच-पांच सौ प्रतियाँ प्रकाशित होती थी। उस समय हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाएँ न इतनी बड़ी संख्या में छपती थी, न ही बिकती थी।

भारतेंदु अपनी ज़िंदगी में बहुत कुछ करना चाहते थे, पर वे कर न सके। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी अपनी किताब 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' में लिखते हैं कि - "भारतेंदु ने कहा था- मेरे पास पूर्ववत धन होता तो चार काम करता 1. श्री ठाकुर जी के बगीचे पधारकर धूमधाम से षडऋतु का मनोरथ करता, 2. विलायत (ब्रिटेन), फ्रांस और अमेरिका जाता, 3. अपने उद्योग से एक शुद्ध हिन्दी की यूनिवर्सिटी स्थानापन्न करता और 4. पश्चिमोत्तर प्रदेश में शिल्पकला का एक कालेज खोलता।"[308]

'हिन्दी प्रदीप' के संस्थापक भारतेंदु मंडल के वरिष्ठ सदस्य बालकृष्ण भट्ट थे। इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन एक सितंबर 1877 ई. को हुआ, जो विभिन्न रुकावटों से टकराते हुए 1909 तक निकलती रही। यह पत्रिका अभाव से जूझती रही, इसलिए यह क्रम से नहीं प्रकाशित हो पायी। 'जरा सोचों यार बम भी क्या चीज़ है' नामक कविता प्रकाशित करने के दंड स्वरूप अंग्रेज सराकर ने पत्रिका को बंद करवा दिया। बालकृष्ण भट्ट के समकालीन जहाँ जातीय जागरण पर जोर दे रहे थे, वहीं 'हिन्दी प्रदीप' ने राष्ट्रवादी विचारधारा की अलख जगाए रखी। रामविलास शर्मा ठीक ही लिखते हैं, " बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सबसे क्रांतिकारी विचारक और लेखक थे, वह दो युगों को जोड़ने वाली कड़ी थे। वह भारतेंदु हरिश्चंद्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी दोनों के समकालीन थे, वह दो युगों को जोड़ने वाली कड़ी थे। 'मतवाला' के संस्थापक महादेव प्रसाद सेठ ने उनकी परंपरा से नाता जोड़ते हुए अपने छापेखाने का नाम 'बालकृष्ण प्रेस' रखा था। 'मतवाला' ने भारतेंदु के व्यंग्य-विनोद, उसकी

[308] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 52

शानदार गद्य शैली को ही नहीं अपनाया, उसने बालकृष्ण भट्ट की राजनीतिक चेतना का विकास और प्रसार किया।"[309]

प्रताप नारायण मिश्र ने कानपुर से 'ब्राह्मण' पत्रिका का संपादन किया और 'हिन्दी हैं हम वतन हिन्दुस्तान हमारा' का नारा बुलंद किया। भारतेंदु मंडल के लगभग सभी विद्वानों ने पत्रकारिता से हिन्दी साहित्य और समाज को समृद्ध किया। राधाचरण गोस्वामी का 'भारतेंदु' (1883 ), बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनंद कादंबिनी' जैसे पत्र का संपादन किया। कर्मेंदु शिशिर ने ठीक ही लिखा है- "हमें यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि नवजागरण का रचनाकार सिर्फ लेखन के लिए यश: कामी लेखक नहीं था - वह नवजागरण का अलख जगाने वाला एक 'होलटाइमर' था। इसलिए नवजागरण के जो महानायक थे - वे जिस सोच, संवेदना, आकांक्षा और कल्पना को मूर्त करना चाहते थे, उन्हें हम सिर्फ सिद्धांतों से नहीं आँक सकते।"[310]

'सोमप्रकाश' की लोकप्रियता से प्रभावित कश्मीर निवासी छोटू लाल मिश्र और दुर्गा प्रसाद मिश्र ने कलकत्ता से 17 मई 1878 को 'भारत मित्र' का प्रकाशन शुरू किया। जिसका मूल्य दो पैसा रखा। शुरू में यह पत्र पाक्षिक था बाद में साप्ताहिक हो गया। 'भारतमित्र' के प्रकाशन काल में ही इसके पचास ग्राहक हो गए थे। कोलकाता के पंजाबी खत्री लोगों ने कहा कि चंदा तो हम दे देंगे पर न पत्र पढ़ने का समय है और न ही अभ्यास ही। दुर्गा प्रसाद मिश्र पत्र को दुकान–दुकान पर पढ़कर सूना आया करते थे। जिससे लोगों में हिन्दी पढ़ने की रुचि बढ़े और पढ़ने में जो थोड़ी बहुत दिक्कत हो रही वह दूर हो जाये।

'भारतमित्र' के संपादक अपने पत्र को मात्र नागरी लिपि कहने के पक्ष में नहीं थे, उनकी चाहत थी कि उनके पत्र को हिन्दी पत्र के रूप में जाना जाए। वे अपनी पत्रिका की भाषा को सावधानी पूर्वक उर्दूपन से अलग कर, शब्द संपदा के रूप में संस्कृत और देशज

[309] संपादक कर्मेंदु शिशिर, 'नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला भाग 2 की भूमिका से

[310] संपादक कर्मेंदु शिशिर, नवजागरण कालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि भाग 1 की भूमिका से

शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं, "'भारतमित्र' की असाधारण लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि उसकी भाषा संदेश देने का एक उपकरण या औजार थी, न कि अपने आप में कोई देवमूर्ति; जिसकी पूजा की जाए और जिसे छोड़ा न जाए।"[311]

कोलकाता में चार सुधी विद्वान श्री सदानंद मिश्र, श्री दुर्गा प्रसाद मिश्र, श्री गोविंद नारायण मिश्र और शंभुनाथ मिश्र ने मिलकर 1879 में 'सारसुधानिधि' नामक समाचार पत्र का संपादन शुरू किया। यह समाचार पत्र अपने समय के पत्रों में अधिक सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित था। नवजागरण को और स्पष्ट करने के लिए कर्मेंदु शिशिर ने नवजागरण कालीन पत्रिकाओं पर विचार करना ज़रूरी माना है। इसलिए उन्होंने 'सारसुधानिधि' के बारह वर्षों के कुछ हिस्सों का पुनः संपादन 'नवजागरण कालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि' नाम से किया है। कर्मेंदु शिशिर ने 'सारसुधानिधि' के पांच स्पष्ट उद्देश्यों की चर्चा किया है- 1. निज भाषा की उन्नति 2. देश देशांतर के समाचारों का प्रकाशन 3. भारतवासियों के मनोबल को उठाना, उनमें तेजस्विता और ओजस्विता उत्पन्न करना 4. जन सामान्य और वणिक जनों को समसामयिक आर्थिक परिदृश्य से अवगत कराना 5. सत्परामर्श देने पर विशेष बल-जो तत्कालीन समय की माँग थी।

'सारसुधानिधि' पर काम करते हुए कर्मेंदु जी को इसकी भाषा को लेकर बहुत मेहनत करनी पड़ी और उनकी मेहनत सार्थक भी है। वे लिखते हैं- "'सारसुधानिधि' की भाषा इतनी टूटी–फूटी है कि पढ़ते हुए आज आप भारी रूकावट महसूस करते हैं। लेकिन इस भाषा में वे विश्वराजनीति के हलचल भरे परिदृश्य के अंदरूनी यथार्थ को बड़ी सुगमता से सरल और बोधगम्य शैली में अभिव्यक्त कर देते थे। आयरलैंड, फ्रांस, मिस्र, अफगानिस्तान, रूस, बर्मा

---

[311] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 60

या किसी अन्य देश पर लिखे लेखों को पढ़कर विश्व राजनीति के प्रति उनकी दिलचस्पी, सरोकार और समझ का आप अंदाज कर सकते हैं।"[312]

'सारसुधानिधि' के ही एक संपादक दुर्गा प्रसाद मिश्र ने 'उचित वक्ता' नाम से एक पत्र प्रकाशित किया। यह हिन्दी का पहला पत्र था जिसके ग्राहकों की संख्या 15,100 तक थी। इसकी लोकप्रियता भारत के प्रमुख पत्रों की तरह थी। इस पत्र की लोकप्रियता का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि जब यह पत्र आर्थिक तंगी के कारण बंद होने को हुआ तब विभिन्न पत्रिकाओं में इस पत्र की सहायता करने के लिए लोगों से अपील की गयी। इस पत्र की सहायता करने के लिए 'खड्गविलास' प्रेस के स्वामी राजकुमार रामदीन सिंह कोलकाता आकर इस पत्र की आर्थिक मदद की। बालमुकुंद गुप्त इस पत्रिका के बारे में लिखते हैं- "दुर्गाप्रसादजी स्वयं एक तेज संपादक और जबरदस्त लेखक थे। उनके धुआँधार लेख कभी-कभी ग़ज़ब किया करते थे। दिल्लगी की फुलझड़ियाँ और छेड़छाड़ के पटाके छोड़ने में वे किसी उत्सव व पर्व का खयाल न रखते थे। मीठी-मीठी छेड़छाड़ करने, व्यंग्य-विद्रूप करने, मुंह चिढ़ाने में ' उचित वक्ता' 'पंच' का काम करता था।"[313]

यह पत्र अंग्रेजों की करतूतों का खुलासा करने में नहीं झिझकता था। अंग्रेजों ने कश्मीर के राजा को ग़ैरकानूनी तरीके से अपदस्थ कर दिया था। जिसका पुरजोर विरोध दुर्गा प्रसाद मिश्र ने किया। 'उचित वक्ता' और अन्य पत्रिकाओं के विरोध स्वरूप कश्मीर के राजा प्रताप सिंह को वापस उनका राज मिल जाता है। दुर्गा प्रसाद मिश्र इस विरोध में इतना व्यस्त हुए की उनकी पत्रकारिता पिछड़ती चली गई और बाद में बंद भी हो गई।

प्रयागराज से 'हिन्दी प्रदीप' के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण पत्र 'प्रयाग समाचार'(1882 ) प्रकाशित हुआ जिसके संपादक देवकीनंदन तिवारी जी थे। शुरू में वे स्वयं पत्र को कंधे पर रखकर ग्राहकों तक पहुँचाया करते थे। बाद में जब पत्र निकल पड़ा तो अमृतलाल चक्रवर्ती

---

[312] संपादक कर्मेंदु शिशिर, 'नवजागरण कालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि भाग 1 की भूमिका से
[313] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं.64

और शशि भूषण चटर्जी इससे जुड़ गए और उनकी लेखनी से यह पत्र हिन्दी के अच्छे पत्रों में गिना जाने लगा। इसी पत्र से गोपाल राम गहमरी, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल और अमृतलाल चक्रवर्ती आदि प्रशिक्षित हुए थे। जब संचालक महोदय से किसी बात को लेकर देवकीनंदन तिवारी जी से मतभेद हुए तो देवकीनंदन ने पत्र को छोड़ दिया जिसके बाद इस पत्र के संपादक जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल बने जो बाद में मुंबई से निकलने वाली पत्रिका 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के संपादक हुए।

1885 में कानपुर से 'भारतोदय' नामक दैनिक पत्र निकला जिसके संपादक सीताराम जी थे। इनका स्वयं का प्रेस था पर पत्र के प्रचार-प्रसार की उचित व्यवस्था न होने के कारण यह पत्र एक साल में ही बंद हो गया।

1 नवंबर 1885 में कालाकांकर से 'हिन्दुस्थान' नामक पत्र निकला, इसके पहले यह पत्र लंदन में 1883 से ही निकल रहा था। लन्दन में यह पत्र तीन भाषाओं हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में निकलता था। इसके संपादक राजा रामपाल सिंह थे, जिन्हें अपने पितामह हनुमत सिंह की मृत्यु पर कालाकांकर (प्रतापगढ़ उत्तर प्रदेश ) आना पड़ा। यहाँ से इन्होंने फिर 'हिन्दुस्थान' को हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित करना प्रारंभ कर दिया।

शुरू में इस पत्र को प्रकाशित करने और एक जगह से दूसरे जगह तक पहुँचाने में बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा क्योंकि कालाकांकर से रेलवे स्टेशन भी दस मील दूर था। यहाँ से स्टेशन तक पत्र बैलगाड़ी से पहुँचाया जाता था। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं, "अगर गाड़ी समय की नहीं होती थी तो घोड़ागाड़ीयों द्वारा कानपुर तक अख़बार पहुँचाया जाता था। कालाकांकर में तारघर नहीं था। अख़बार के लिए तार आवश्यक था और राजा रामपाल सिंह ब्रिटेन से लौटे थे, जहाँ समाचारों की तीव्रता को महत्त्व दिया जाता था।

इसलिए तार की विशेष लाइन लखनऊ से कालाकाँकर तक डाली गई और तार मंगाने का प्रबंध किया गया।"[314]

'हिन्दुस्थान' हिदी क्षेत्र का पहला हिन्दी दैनिक अख़बार था। इसके संपादकों में मदनमोहन मालवीय, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, अमृतलाल चक्रवर्ती, और गोपालराम गहमरी जैसे कई हिन्दी के साहित्यकार थे।

मदन मोहन मालवीय हिन्दुस्थान के मात्र 3 महीने तक ही संपादक रहे, बाद में एल एल बी की पढ़ाई के लिए संपादन का कार्य छोड़ दिया। मालवीय जी को संपादक के रूप में जो ₹200 मासिक मिल रहा था वह तब तक मिलता रहा जब तक इन्होंने अपनी खुद की वकालत शुरू नहीं कर दी। बाद में मालवीय जी लीडर, अभ्युदय, मर्यादा, जैसी पत्रिकाओं के संस्थापक हुए और हिन्दुस्तान टाइम्स को खरीद कर उसमें जान डाल दी।

उन दिनों योगेशचंद्र बसु बांग्ला में 'बंगवासी' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन कर रहे थे। उन्होंने अमृतलाल चक्रवर्ती को संपादक बनाकर 'हिन्दी बंगवासी' नामक एक अख़बार 1890 में निकाला। यह पत्र आरम्भिक हिन्दी दैनिक पत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस पत्र के पहले संपादक अमृतलाल चक्रवर्ती थे। बाद में इस पत्र से बालमुकुंद गुप्त भी जुड़े। इस अख़बार में सामाजिक घटनाओं के साथ ही साथ धारावाहिक रूप से पुराणों और स्मृतियों को भी छापा गया। इन्होंने धार्मिक और लोकप्रिय पुस्तकें अपने ग्राहकों को साल में एक बार देने की परंपरा भी शुरू की। इस पत्र की लोकप्रियता में संपादकों का नवीन प्रयोग बहुत मायने रखता है। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं, "इस पत्र ने एक नई व्यवस्था यह प्रारंभ की कि समाचार के नीचे प्रेषक का नाम नहीं दिया जाता था। इस कारण बहुत से लोगों को अपने

[314] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' - पृष्ठ सं.69

यहाँ के समाचार उसमें भेजने का उत्साह हुआ और पत्र की लोकप्रियता भी बढ़ी । यह व्यवस्था केवल 'बंगवासी' और 'हिन्दी बंगवासी' में थी।"[315]

पहली बार एक स्त्री द्वारा स्त्रियों के लिए फरवरी 1888 में 'सुगृहिणी' नामक पत्रिका निकाली गई। जिसकी संपादक श्रीमती हेमंत कुमारी चौधरानी थी, जो एक कुशल पत्रकार और हिन्दी प्रेमी नवीनचंद्र राय की बेटी थी। नवीनचन्द्र राय ने पंजाब में 'ज्ञान प्रदायिनी' और 'मित्र विलास' पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी की अलख जगायी रखी। हेमंत कुमारी जी के पति एक अधिकारी थे और नौकरी के सिलसिले में उनका विभिन्न स्थानों पर ट्रांसफर होता रहता था। पति के साथ रहते हुए भी हेमंत कुमारी इस पत्र को निकालती रही। इस पत्र के माध्यम से हेमंत कुमारी हिन्दी क्षेत्र की स्त्रियों को उन्नति के लिए प्रेरित करती हैं, साथ ही अपने समय की बँगाल और मद्रास की स्त्रियों के बारे में भी बताती हैं। इस पत्रिका के उद्देश्य के बारे में वे लिखती हैं - "हे प्यारी बहिनों ! द्वार खोल देखो, तुम्हारे यहाँ कौन आई। तुम लोग क्या इसे पहचानती हो? यह भी तुम्हारी एक भगिनी है। इसका नाम 'सुगृहिणी' है। तुम्हारे दुःखों को देखकर, तुम्हें अज्ञानता और पराधीनता में बद्ध देखकर तुम्हारी यह बहिन तुम्हारे द्वारे पर आई है।"[316]

हेमंत कुमारी पत्र को प्रकाशित करने के लिए लगातार तीन साल तक जहमत उठाती रहीं। फिर भी पत्रिका के ग्राहकों की संख्या नहीं बढ़ी और आर्थिक अभाव के चलते, इन्हें पत्रिका बंद करनी पड़ी। किसी महिला द्वारा संपादित दूसरा पत्र 'भारत भगिनी' का संपादन 1889 से शुरू हुआ जो लगातार 1906 तक प्रकाशित होता रहा। इस पत्रिका के संपादक हरिदेवी जी थीं।

हिन्दी का पहला व्यवसायिक पत्र 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' था। यह एक साप्ताहिक पत्र था और इसके पहले संपादक रामदास वर्मा थे उसके बाद जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल और

---

[315] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास'- पृष्ठ सं.73

[316] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास'- पृष्ठ सं.74 -75

अमृतलाल चक्रवर्ती हुए। यह अख़बार दीर्घजीवी रहा 1896 से 1956 मुंबई से निकलता रहा। प्रथम विश्व युद्ध के समय लगभग पांच साल के लिए दैनिक हो गया था। इस पत्र ने एक नई परम्परा की शुरूआत की जिसमें दीवाली के अवसर पर कोई एक पुस्तक भेंट स्वरूप दी जाती थी। इस परम्परा का बाद में 'भारत मित्र' और 'हिन्दी बंगवासी' ने भी अनुकरण किया।

अंबिका प्रसाद वाजपेयी 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' पत्र के बारे में लिखते हैं "श्रीवेंकटेश्वर समाचार' अपनी सीधी–सादी चाल से चला आ रहा है। वह न किसी की आलोचना करता है और न किसी से लड़ता है। भाषा व विचारों व लेखन शैली, किसी बात के लिए वह प्रसिद्ध नहीं रहा।"[317]

हिन्दी पत्रकारिता ग्रामीण परिवेश में भी 'सत्त्व' पहचान की अच्छी समझ विकसित करने में सफल रही हैं। उन्हीं ग्रामीण परिवेश के छोटे से कस्बे रीवा से 1887 में निकलने वाली पत्रिका 'भारत भ्राता' है। जो विशुद्ध राजनीतिक पत्र था। इस पत्र के संपादक लाला बलदेव सिंह थे जो रींवा रियासत के सेनापति भी थे। यह पत्र हर शुक्रवार को प्रकाशित होता था। पत्र की प्रमाणिकता और खबरों की तत्काल जानकारी के लिए रींवा नरेश ने सताना स्टेशन से रींवा तक एक की एक विशेष लाइन लगायी। दादा भाई नौरोजी के ब्रिटेन की संसद में सदस्य चुने जाने पर 'भारत भ्राता' के संपादक लिखते हैं, "भारतवासी आज इस आनंद समाचार को सुनकर फूले नहीं समाएंगे कि लार्ड साल्सबरी का वही काला आदमी उनके एक भाई बंबई निवासी पारसी काँग्रेस के मुख्य नेता, भारत भूषण मिस्टर दादा भाई नौरोजी गत 6 जुलाई को पार्लियामेंट के मेंबर चुने गए।"[318]

हिन्दी में पढ़ाई–लिखाई शुरू करने वाला पहला राज्य बिहार ही है। इस भाषा को बिहार में पठन-पाठन की भाषा बनाने में 'बिहार बंधु' 1874 का अविस्मरणीय योगदान है।

---

[317] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास'- पृष्ठ सं.80

[318] जगदीश प्रसाद चतुर्वदी 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं.82

इस पत्र के प्रकाशक दो मराठी बंधु–मदन मोहन भट्ट और श्री केशवराम भट्ट जी थे। बिहार में हिन्दी भाषा के दूसरे उद्धारक बंगाली भाषी तत्कालीन शिक्षा इंसपेक्टर श्री भूदेव मुखर्जी थे। बिहार की जनता भी हिन्दी भाषा के महत्त्व से परिचित थी। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं "'बिहार बंधु' के प्रथम संपादक श्री हसन् अली थे, यह कोई आश्चर्य नहीं था; क्योंकि बिहार में प्रारंभ से ही अनेक हिन्दी लेखक मुसलमान थे। यही क्यों, ईसाई लेखकों ने भी बिहार में हिन्दी प्रचार के लिए बहुत काम किया। आई. सी. एस. अफसर सर जार्ज ग्रियर्सन, जिन्होंने भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण किया, बिहार में ही सेवारत थे और हिन्दी में बड़ी रुचि लेते थे। उन्होंने 'रामचरितमानस' का अनुवाद अंग्रेजी में कराया था।"[319]

अल्मोड़ा से पहला हिन्दी अख़बार 'अल्मोड़ा अख़बार' 1871 में प्रकाशित हुआ। जिसके संपादक सदानंद सनवाल थे। अल्मोड़ा एक पहाड़ी इलाका है जहाँ कोई भौतिक संसाधन नहीं थे, उन सब परेशानियों से जूझते हुए 'अल्मोड़ा अख़बार' ने हिन्दी पत्रिकाओं में प्रतिष्ठा अर्जित की। इस अख़बार में भारतीय राजनीति और तत्कालीन बहसें छपती थीं। अल्मोड़ा अख़बार के बंद होने का कारण भी समसामयिक मुद्दा था। डिप्टी कमिश्नर लामस द्वारा एक कुली की हत्या के विरोध में 'अल्मोड़ा अख़बार' ने आवाज़ उठाई। कमिश्नर साहब ने सफाई में कहा कि मुर्गी मारते समय गोली के छर्रे से कुली की मौत हो गयी। और कुली की हत्या अप्रैल में हुई थी और सरकार ने ही अप्रैल महीने में मुर्गी मारने पर प्रतिबंध लगाया था। ऐसे ही मुद्दों पर सदानंद सनवाल बेबाकी से लिखते थे जिससे सरकार ने इस पत्र पर एक हजार रुपये का जुर्माना लगा दिया। जुर्माना न चूका पाने की स्थिति में अख़बार बंद कर दिया गया। गढ़वाल के एक अख़बार ने यह लिखा :

"एक फायर में तीन शिकार ,

---

[319] जगदीश प्रसाद चतुर्वदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास'- पृष्ठ सं.88

कुली, मुर्गी और अल्मोड़ा अख़बार।"[320]

नवजागरण युग में हिन्दी भाषा के प्रचार और उसके विकास में आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आर्यसमाज का प्रभाव भारत के पश्चिमी भाग पर अधिक था। पूर्वांचल में आर्यसमाज का प्रभाव नहीं था और दयानंद सरस्वती के बारे में इन पत्रों में अच्छी टिप्पणी भी नहीं होती थी। आर्य समाजियों ने भी अपने मत का प्रचार-प्रसार करने के लिए विभिन्न पत्र, पत्रिकाओं को प्रकाशित किया। उसमें 'आर्यमित्र' जो मुरादाबाद से निकलता था। एक और महत्त्वपूर्ण पत्र 'आर्यविनय' भी मुरादाबाद से निकला। इसके संपादक रुद्रदत्त शर्मा थे और इसकी भाषा विशुद्ध हिन्दी थी।

हिन्दी की आरम्भिक पत्रकारिता को पढ़ते हुए यह स्पष्ट हुआ कि पत्रकारिता अपने जन्मकाल से ही अपने उद्देश्य सरकार की नीतियों को स्पष्ट करना और विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर आमजन की आवाज बनना आदि था। हिन्दी पत्रों का उद्भव महानगरों में हुआ तो उसका विकास कस्बों में। आरम्भिक दौर की हिन्दी पत्रकारिता स्वत्त्व की पहचान पर जोर दे रही थी तो कुछ ऐसी भी पत्रिकाएँ थी जो मुखर होकर अपने अधिकार की माँग और सरकार की आलोचना कर रही थीं। उनमें श्यामसुंदर सेन का 'समाचार सुधावर्षण' बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' उल्लेखनीय हैं।

## 6.2 माधवराव सप्रे और तद्युगीन हिन्दी पत्रकारिता :

भारतीय इतिहास में 1900 से 1920 तक के समय को तिलक युग कहा जाता है। इस समय भारत में राष्ट्रवादियों का प्रभाव था, जिसके सर्वमान्य नेता बालगंगाधर तिलक थे। इनके प्रमुख राजनीतिक साथी पूर्व में विपिनचंद्र पाल तो पश्चिम में लाला लाजपत राय थे। ये तीनों 'लाल बाल पाल' बँगाल विभाजन से उपजी विद्रोह की भावना को एक क्रांति का रूप

[320] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 94

देने में सफल रहे। कई राजनीतिक और साहित्यिक लोग भी इनके अनुयायी हुए। उन्हीं में माधवराव सप्रे भी थे। माधवराव सप्रे हिन्दी में राष्ट्रवादी पत्रकारिता के अगुआ थे और बालगंगाधर तिलक से बहुत प्रभावित थे। इन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य पत्रकारिता के माध्यम से देशहित में कार्य करने को बनाया। ऐसे ही इस युग में कई पत्रकार हुए जो राष्ट्रवादी विचार को जन–जन तक पहुँचाने के लिए अपनी ज़िन्दगी को जोखिम में डाले हुए थे।

इन पत्रिकाओं की एक लंबी फेहरिस्त है। राष्ट्रवादियों द्वारा किये गए जोखिम भरी पत्रकारिता ने देश में राष्ट्रीयता के पक्ष में प्रबल जनाधार तैयार किया था। तिलक ने 'केसरी' पत्रिका का प्रकाशन 1 जनवरी 1881 से शुरू किया था। जिसकी राजनीतिक टिप्पणियों और समसामयिक मुद्दों की संपादकीय से एक बड़ा समूह उनका अनुयायी हुआ था। उस समय की सबसे लोकप्रिय पत्रिका 'केसरी' थी। 'केसरी' पत्रिका में भारत में हुए प्लेग का ज़िम्मेदार अंग्रेज सरकार को माना और इससे संबंधित लेख प्रकाशित किया, जिससे प्रभावित चापेकर बंधुओं ने मिस्टर रैंड की हत्या कर दी। जिससे अंग्रेज सरकार ने 'केसरी' और उसकी सहयोगी पत्रिका 'मराठी' साप्ताहिक पर जनसमूह की भावना भड़काने का आरोप लगाकर मुक़दमा चलाया और दोष सिद्ध होने पर तिलक को डेढ़ साल तक कैद की सज़ा सुनायी गयी।

1902 में उग्र राष्ट्रवाद के समर्थक विपिन चन्द्र पाल ने 'न्यू इण्डिया' नामक अंग्रेजी अख़बार का संपादन किया। बँगाल विभाजन के लोकप्रिय नारे 'वंदेमातरम' को बहुत समय तक लोगों में ज़िंदा रखने के लिए विपिनचंद्र पाल अपने मित्र सुबोध, श्री चितरंजन दास और हरिदास के साथ मिलकर 'दैनिक वंदेमातरम' का प्रकाशन किया। राष्ट्रवादी विचार पूरे भारत को आंदोलित कर रहे थे और लोगों में इसका सकारात्मक परिवर्तन भी दिख रहा था। अपने समय के राष्ट्रवादी विचार से उत्साहित होकर 1904 में ब्रह्म बांधव उपाध्याय और पंचकौड़ी बनर्जी ने सायंकालीन 'संध्या' समाचार पत्र निकाला। विवेकानंद के छोटे भाई भूपेन्द्र नाथ दत्त और अरविंद घोष के छोटे भाई वारिंद कुमार घोष और उपेन्द्र नाथ बंद्योपाध्याय और

अन्य ने मिलकर ‘युगांतर’ समाचार पत्र का संपादन किया। तिलक की विचारधारा का प्रचार करने के लिए माधवराव सप्रे ने ‘हिन्दी केसरी’ का संपादन किया।

इन पत्रिकाओं की लोकप्रियता से भयभीत अंग्रेज सरकार ने पत्रिकाओं पर देशद्रोह का आरोप लगाया और संपादकों को बड़ी संख्या में जेल में डाला। ‘वन्देमातरम’ में अरविंद घोष का एक लेख प्रकाशित हुआ जिससे क्रुद्ध सरकार ने उन पर मुक़दमा चलाया पर अरविंद घोष को पत्रिका का संपादक सिद्ध नहीं कर पायी तो प्रकाशक और मुद्रक को तीन महीने की सज़ा हुई। इस मामले में विपिनचंद्र पाल ने गवाही देने से मना कर दिया जिसके लिए उन्हें छ: महीने की सज़ा हुई। भूपेन्द्र नाथ दत्त को ‘युगांत’ के संपादक के रूप में एक साल की सज़ा हुई थी। ब्रह्मबांधव उपाध्याय पर भी ‘संध्या’ समाचार के संपदन के लिए राजद्रोह का मुक़दमा चला जिससे वे इसलिए बच गए जिस दिन उन्हें सज़ा हुई उससे दस दिन पहले इनकी मृत्यु हो चुकी थी। बालगंगाधर तिलक पर 1908 में राजद्रोह का मुक़दमा चला और इन्हें छ: साल के लिए देश निकाला देकर वर्मा के मांडले जेल, वर्मा भेज दिया गया। तिलक की विचारधारा के प्रचार–प्रसार के लिए माधवराव सप्रे ने हिंदी में ‘हिन्दी केसरी’ का संपादन किया, जिसके लिए इन्हें भी जेल हुई और इन पर राजद्रोह का मुक़दमा चला, मुकदमें के दौरान ही उन्होंने माफ़ी मांगकर जेल से मुक्ति पा ली।

माधवराव सप्रे अपने समय के प्रमुख सांस्कृतिक व्यक्तित्व थे। इन्होंने अपना जीवन हिन्दी और राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित कर दिया था और अपने साथ के लोगों को उन्नतिशील बनाया। उनके सहयोगियों में कुछ बड़े पत्रकार जैसे माखनलाल चतुर्वेदी तो कुछ बड़े नेता बने। संतोषकुमार शुक्ल लिखते हैं, “रविशंकर शुक्ल, सेठ गोविंददास, गाँधीवादी चिंतक सुंदरलाल शर्मा, द्वारिका प्रसाद मिश्र, माखनलाल चतुर्वेदी, लक्ष्मीधर बाजपेयी,

लल्लीप्रसाद पाण्डेय, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, मावली प्रसाद श्रीवास्तव प्रभृत अनेक हिन्दी सेवियों को उन्होंने सदैव सेवा के लिए प्रेरित एवं अनुप्राणित किया ।"[321]

माधवराव सप्रे के समय में 'सरस्वती' एक लोकप्रिय पत्रिका थी । यह साहित्यिक गतिविधियों और सामाजिक जागरूकता की अग्रणी पत्रिका थी । रामविलास शर्मा 'सरस्वती' पत्रिका का उसके समकालीन संदर्भों में अध्ययन करते हुए पाते हैं कि यह जनजागरण की पत्रिका थी । उनके 'हिन्दी नवजागरण' की अवधारणा का आधार यही पत्रिका है । इस पत्रिका में तत्कालीन भारत और विश्व में हो रही तमाम घटनाओं पर लेख और संपादकीय प्रकाशित होते रहते थे । इस पत्रिका में माधवराव सप्रे जी के भी कई लेख प्रकाशित होते रहते थे । रामविलास शर्मा 'सरस्वती' पत्रिका के महत्त्व को 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' नामक किताब में रेखांकित करते हैं । जिसमें वे लिखते हैं -"उस समय का कोई ऐसा लेखक नहीं जो बाद में प्रसिद्ध हुआ हो और पहले उसकी रचनाएँ सरस्वती में न छपी हों । प्रसिद्ध हो, चाहे अज्ञात नाम द्विवेदी जी अपना ध्यान इस बात पर केन्द्रित करते थे कि वह लिखता क्या है । इसलिए सरस्वती में रचना छपने का मतलब यह था कि वह एक निश्चित स्तर की है ।"[322]

'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन इंडियन प्रेस इलाहबाद से 1900 ई. में हुआ । जिसके मालिक 'चिंतामणि घोष' थे । सरस्वती पत्रिका को एक जन जागरण के रूप में ख्याति प्राप्त कराने का श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी को है, इन्होंने रेलवे विभाग के कार्यालयाध्यक्ष का पद छोड़ दिया, जिसमें मासिक वेतन डेढ़ सौ रुपया था । द्विवेदी जी ने सरस्वती में 20 रुपये मासिक पर सेवा देना स्वीकार किये । इन्होंने खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों की एक भाषा के रूप में प्रतिष्ठापित की और नए-नए लेखकों को प्रोत्साहित भी किया । हिन्दी में प्रचलित व्याकरणगत अशुद्धियों को शुद्ध रूप देने में इन्होंने विशेष ध्यान दिया और सफल भी रहे ।

---

[321] संतोष कुमार शुक्ल, 'पत्रकारिता के युग निर्माता 'माधवराव सप्रे'- पृष्ठ सं. 34

[322] रामविलास शर्मा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' - पृष्ठ सं. 365

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं- "द्विवेदीजी ने इतने से ही संतोष नहीं कर लिया कि 'सरस्वती' में लेख, कविता, कहानी, आदि जो कुछ छपे, वह व्याकरणसम्मत हो और उसकी अखरौटी और वर्तनी एक-सी। उन्होंने 'सरस्वती' के नंबर 1905 के अंक में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने पुराने हिन्दी लेखकों की भाषा विषयक भूलें बताईं।"[323]

'छत्तीसगढ़ मित्र' इस पत्रिका के भले ही छत्तीस अंक निकले हों, पर यह अपने प्रकाशन काल से ही अपनी भाषा और विचार के लिए जानी गयी। पत्रिका का उद्देश्य छत्तीसगढ़ जैसे पिछड़े क्षेत्र में ज्ञान का संचार करना था। माधवराव सप्रे को पेंड्रा रोड के राजकुमार से जो ट्यूशन फीस मिली थी, उसकी मदद से उन्होंने अपने दो मित्रों के साथ मिलकर 'छत्तीसगढ़ मित्र' 1900 का संपादन शुरू किया। इस पत्रिका के प्रकाशक माधवराव सप्रे के सहपाठी वामन बलीराम थे और सह संपादक चिंचोलकर बने। पत्रिका के मुख पृष्ठ पर लिखा होता था –

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल॥'

'छत्तीसगढ़ मित्र' में विभिन्न सामाजिक समानता से संबंधित लेख छपते थे। सप्रे जी व्यक्तिगत रूप से सामाजिक असमानता और जातिभेद के विरोधी थे। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं "सप्रे जी की राय है कि भारत के पूर्ण जागरण और सर्वांगीण विकास के लिए जाति व्यवस्था की पराधीनता से दलितों की मुक्ति आवश्यक है।"[324]

'छत्तीसगढ़ मित्र' में माधवराव सप्रे, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की किताब 'विधवा-विवाह' की प्रशंसा में निबंध लिखते हैं। पत्रिका में 'नारी शिक्षा' नाम से एक निबंध छपा जिसमें एक नारी शिक्षा का समर्थन करती है तो दूसरी विरोध में तर्क देती है। रमेश अनुपम

[323]जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 112

[324] सं. मैनेजर पाण्डेय नामवर सिंह, 'माधवराव सप्रे प्रतिनधि संकलन' - पृष्ठ सं. उन्नीस (भूमिका)

अपने लेख में माधवराव सप्रे के विचार को स्पष्ट करते हैं कि "अपने इस लेख का प्रारंभ माधवराव सप्रे इन शब्दों में करते हैं कि प्रथम यह वर्णन हो चुका है कि हमारे देशहित साधन को विभिन्न शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता है और जब तक विविध प्रकार की शिक्षा तथा मानसिक, क्रमिक, धार्मिक, नैतिक,राजकीय और औद्योगिक इत्यादि संग ही संग प्रदान न की जावेगी, यह देश कभी उन्नति के सोपान पर न रखेगा।"[325]

माधवराव सप्रे नारी शिक्षा के पक्षधर हैं। उन्होंने छत्तीसगढ़ मित्र में इससे संबंधित कई लेखों का प्रकाशन कर, इस ओर कदम बढ़ाने वालों को प्रोत्साहित किया। मराठी मूल के लेख 'पुरुषों के कर्तव्य' जिसकी लेखिका चन्द्रप्रभा बाई थीं और इस लेख के अनुवादक सप्रे जी खुद थे। "इधर कई सौ वर्षों से समाज में यह मत प्रचलित हो गया कि स्त्री जाति मनुष्य जाति से नीची है, स्त्री किसी प्रकार के सम्मान पाने का अधिकार नहीं रखती, वह अपने पति की सेवा करके दासी की बाई रहे इत्यादि। स्त्री का यह धर्म है कि वह अपने पति की सेवा करे, परंतु क्या यह अच्छी बात है कि इसके बदले पति अपनी स्त्री का निरादर करें और अपशब्दों से उसके कोमल अंत:करण को दूषित कर उसे लात या डंडे से मारे।"[326]

माधवराव सप्रे स्त्रियों के सामाजिक अधिकार और दायित्व को बखूबी समझते थे। उन्होंने अपने घर में देखा था कि एक स्त्री ने अपने पति की जुआ जैसी बुरी लत को छुड़ाने का प्रयास ही नहीं किया बल्कि इसका भी यह ध्यान रखा कि बच्चों के पढ़-लिख लेने से ही परिवार समाज में अच्छे से अपने को स्थापित कर सकता है। यह स्त्री और कोई नहीं माधवराव सप्रे की माँ लक्ष्मीबाई और जुआ की लत इनके पिता कोंडोपंत को थी। माधवराव सप्रे एक पुस्तक 'बालाबोधिनी' की समीक्षा करते हुए इस मत कि 'स्त्रियों को पुरुषों के अधीन होना चाहिए', भर्त्सना करते हैं।

[325] आलोचना' सन् 2013 के जुलाई –सितंबर अंक पत्रिका पृष्ठ सं 111.
[326] आलोचना, सन् 2013 के जुलाई –सितंबर अंक- पृष्ठ सं. 112

माधवराव सप्रे ने 'छत्तीसगढ़ मित्र' के अप्रैल 1901 में 'सृष्टि निरीक्षण' नामक लेख प्रकाशित किया। जिसमें स्त्री की शिक्षा के ज़रूरी पहलूओं पर वे पाठकों का ध्यानाकर्षित करते हैं। इस लेख में अशिक्षित माँ-बेटे की स्वाभाविक जिज्ञासाओं का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाती है, जबकि यूरोप में ऐसे प्रश्न का उत्तर साधारण से साधारण महिला दे सकती है क्योंकि वे शिक्षित हैं। किसी विद्वान ने कहा है कि बालक का प्रथम शिक्षक उसकी माँ होती है। वह माँ से बहुत कुछ सीखता है। माधवराव सप्रे स्त्री शिक्षा के हिमायती हैं और उन्हें पता है, हम सामने वाले से तभी अपनी स्वतंत्रता छीन सकते हैं जब हम उनसे सब क्षेत्र में बढ़कर रहेंगे और हमारे यहाँ भारत के भविष्य को यह बताया जा रहा है कि बादल इसलिए गरजते हैं क्योंकि वहाँ हाथी दौड़ रहे हैं- "इसी (स्त्री शिक्षा और शिशु शिक्षा) के आभाव में हम लोगों में सृष्टि के विषय में अज्ञान और उदासीनता भरी हुई है। आंग्ल माता और बालक तथा हिन्दू माता और बालक की इस विषय में तुलना कर देखिए तो सत्य स्थिति आप ही प्रकट हो जाएगी। जब कोई हिन्दू बालक अपनी माता से प्रकृति के किसी दृश्य अथवा किसी पदार्थ के विषय में कुछ पूछता है तो बेचारी माता जवाब देते–देते हैरान हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब बादल गरजते हैं और बालक पूछता है कि यह क्यों हो रहा है तो माता कहती है कि बेटा, आसमान में हाथी दौड़ रहे हैं और तब वह बालक पूछता है कि माँ आसमान में हांथी कहाँ से आए तो जवाब मिलता है कि इंद्र महाराज के हाथी हैं। बालक की जिज्ञासा तीव्र होती है। वह इस प्रकार के जवाब से संतुष्ट नहीं होता।"[327]

'छत्तीसगढ़ मित्र' में माधवराव सप्रे साहित्य समीक्षा तो चाव से करते हैं पर विज्ञापन पर टिप्पणी करने से बचते हैं। 'ढ़ोरों का इलाज' नामक विज्ञापन में स्पष्ट अपने ज्ञान की सीमाओं को बताते हैं कि वे उस विज्ञापन की वस्तु के बारे में नहीं जानते तो कैसे टिप्पणी कर सकते हैं ? और अन्य हिन्दी पत्रिकाओं के संपादकों से भी कहते हैं कि जिस विषय पर

---

[327] आलोचना, सन् 2013 के जुलाई –सितंबर अंक, पृष्ठ सं. 113

आपका ज्ञान हो उसी पर टिप्पणी लिखें और  विषय विशेषज्ञ की टिप्पणी मांगे और प्रकाशित करें।

माधवराव सप्रे अपने 'हड़ताल' शीर्षक निबंध में देश को गुलामी से बचाने और इसका पुरजोर विरोध करने में आम लोगों का समर्थन अनिवार्य मानते हैं। उनका कहना था कि किसी भी सरकारी नीति का विरोध लंबे समय तक नहीं चल सकता जब तक कि उसमें आम जन सम्मिलित न हों। जनता तभी किसी चीज़ का समर्थन करेगी जब उसे पता होगा कि उसको या उसकी संतति को इन लोगों से नुक़सान है या कुछ लोग हैं जो इससे भी अच्छी स्थिति में उन्हें पहुँचा सकते हैं। हालाँकि 'हड़ताल' निबंध 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। रामविलास शर्मा अपनी किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' में इस लेख का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं, "मई 1907 की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने माधवराव सप्रे का लेख 'हड़ताल' प्रकाशित किया। ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी और सप्रे जी आपस में मिलकर मज़दूर-संगठन की समस्या पर विचार करते थे और सप्रे जी अपनी सामग्री द्विवेदी जी को 'संपत्तिशास्त्र' में इस्तेमाल करने के लिए दे देते थे। साथ ही सप्रे जी के अन्य लेखों से विदित होता है कि वह यथेष्ट प्राचीनता प्रेमी थे, पुरानी समाजव्यवस्था उन्हें प्रिय थी।"[328]

रामविलास शर्मा, माधवराव सप्रे को पुरातन प्रेमी कहते हैं। शायद यह सप्रे जी के आत्मग्लानि से लिए गए निर्णय और सामाजिक जीवन से संन्यास के लिए कहा होगा। किन्तु, संन्यास से पहले और बाद के सार्वजनिक जीवन में भी उनकी लेखनी और पत्रकारिता में स्वाधीन चेतना स्पष्ट दिखती है।

माधवराव सप्रे को मालूम है कि भारत गुलाम है और वे एक गुलाम देश के नागरिक हैं। उनका ध्यान इस ओर पढ़ाई करते समय ही स्पष्ट था कि वे इस अंग्रेज सरकार की मशीनरी

[328] रामविलास शर्मा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' पृष्ठ सं. 77

में कभी शामिल न होंगे। माधवराव सप्रे ने इलाहबाद विश्वविद्यालय से 1896 में एफ. ए. की परीक्षा पास की और 1898 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. ए. करने के बाद, आगे की पढाई के लिए एल.एल. बी. करने की सोची और उसकी तैयारी भी की। उन्होंने प्रवेश परीक्षा के दौरान परीक्षा छोड़ दी। यदि वे वकील बनेंगे तो देशहित के लिए अपने कर्तव्यों से डिग जायेंगे। माधवराव सप्रे को दो–दो बार तहसीलदार बनने का मौका मिला था- एक बार तब जब इनके ससुर लक्ष्मीराव शेवडे जो रायपुर में एक्स्ट्रा असिस्टैंट कमिश्नर थे, ने अपने प्रभाव से इन्हें नायब तहसीलदार के पद पर सीधे नियुक्त करना चाहा तो इन्होंने मना कर दिया। ऐसे ही पेंड्रा के राजकुमार को पढ़ाते समय इन्होंने विलासपुर के असिस्टेंट कमिश्नर को विभागीय परीक्षा पास करने के लिए दो महीने में मराठी भाषा सिखायी। जब वह कमिश्नर हुआ तो उसने भी माधवराव सप्रे को सीधे तहसीलदार का पद देने से संदर्भित पत्र भेजा, जिसका उन्होंने कोई जवाब ही नहीं दिया। देवीप्रसाद वर्मा लिखते हैं "सप्रेजी पर हिन्दी प्रेम का नशा चढ़ा था। तहसीलदार की नौकरी छोड़ी, लॉ की परीक्षा से विमुख हुए और पूरी तरह समर्पित होकर हिन्दी सेवा में जुट गए। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के अंतिम अंक देश सेवक प्रेस, नागपुर से मुद्रित हुए थे। उस प्रेस के मालिक पं. माधवराव पाध्ये मराठी 'देश सेवक' का प्रकाशन करते थे, साथ ही वकालत भी करते थे। सप्रे जी ने देश सेवक प्रेस में दस रुपये मासिक पर नौकरी कर ली। पर उन्होंने शर्त रखी थी कि जैसे–जैसे प्रेस की हालत में सुधार हो, उनका वेतन बढ़ा देंगे।"[329]

माधवराव सप्रे पदलोलुप नहीं थे। जितना हो सका वे किसी भी बड़ी संस्था की पृष्ठभूमि बनाने में ही लगे रहे चाहे वह जबलपुर का 'राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर' हो या उससे जुड़ी विभिन्न संस्थाएँ, जिसमें 'कर्मवीर' पत्रिका का संपादन भी शामिल था। मार्च 1902 में 'छत्तीसगढ़ मित्र' में 'यह विद्रोह नहीं देश भक्ति है' नामक ऐतिहासिक निबंध में यह बताया है

[329] सं. देवीप्रसाद वर्मा, 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. 18 -19

कि जब कोई बाहरी शक्ति हम को शासित करने के लिए विभिन्न उपक्रम से हम पर अपने कानून थोपे तो उसका प्रतिकार करने वाले अपने देशवासियों के लिए देशभक्त हैं और शासित देश के लिए वह विद्रोही और आतंकी है। जब इंग्लैण्ड ने स्काट लैंड पर कब्ज़ा कर लिया और वहाँ के लोग अंग्रेज सरकार का विरोध करने लगे तो उनके नेता 'वालेस' को गिरफ़्तार कर लिया और उस पर राजद्रोह का मुक़दमा चला, "अंग्रेज सरदारों ने वालेस के अपराधों की जाँच और उस पर राजद्रोह का अभियोग लगाया। अपनी यह दशा देखकर वालेस ने उत्तर दिया कि एडवर्ड मेरा राजा नहीं है और न मैं उसकी प्रजा हूँ। इसलिए मुझ पर जो अभियोग लगाया जाता है, वह विद्रोह नहीं स्वदेश भक्ति है।"[330]

माधवराव सप्रे ने हिन्दी भाषा और साहित्य को समृद्ध करने के लिए, कई संस्थाओं की स्थापना करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वे असहयोग आन्दोलन के समय अपने लड़कों को स्कूल से निकाल कर रायपुर में ही 'राष्ट्रीय विद्यालय' की स्थापना की साथ ही महिलाओं के लिए 'जानकी महिला पाठशाला' की भी स्थापना की। उन्होंने 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी द्वारा बनाए जा रहे शब्दकोश में अर्थशास्त्र विषय के कोश का लेखन और संपादन किया। पत्रकारिता के क्षेत्र में 'छत्तीसगढ़ मित्र' के साथ साहित्य जगत में अवतरित हुए। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के बंद होने के बाद उन्होंने 'हिन्दी चित्रमाला', 'हिन्दी ग्रन्थ माला' और 'हिन्दी केसरी' का संपादन किया। जबलपुर के 'हिन्दी मंदिर', 'शारदा भवन पुस्तकालय' और 'कर्मवीर' पत्रिका से जुड़े रहे। 'छत्तीसगढ़ मित्र' के संपादकीय में इस पत्र का उद्देश्य स्पष्ट था- "संप्रति छत्तीसगढ़ विभाग को छोड़कर ऐसा एक भी प्रान्त नहीं है, जहाँ दैनिक, साप्ताहिक, मासिक या त्रैमासिक पत्र प्रकाशित नहीं होता है। सुसंपादित पत्रों द्वारा हिन्दी भाषा की उन्नति हुई। अतएव यहाँ भी 'छत्तीसगढ़ मित्र' हिन्दी भाषा की उन्नति करने में विशेष प्रकार से ध्यान दे। आजकल भाषा में बहुत सा कूड़ा–करकट जमा हो रहा है। वह

[330] आलोचना, सन् 2013 के जुलाई –सितंबर अंक- पृष्ठ सं. 114

नहीं होने पाए; इसलिए प्रकाशित ग्रंथों पर प्रसिद्ध मार्मिक विद्वानों द्वारा समालोचना भी कहें।"[331]

'हितवार्ता' 1903 का एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र था। इसको बांग्ला भाषा में तिलक के विचारधारा की प्रचारक 'हितवादी' का हिन्दी रूप माना जाता है। 'हितवार्ता' के पहले संपादक पंडित रुद्रदत्त शर्मा हुए उसके बाद जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी। इसी पत्रिका में गोविन्द नारायण मिश्र का 'विभक्ति विचार' और 'प्रकृति विचार' प्रकाशित हुआ था।

'हितवादी' पत्रिका के संपादक कालीप्रसन्न राष्ट्रवादी कवि थे। 'हितवादी' पत्रिका के संपादकों में मराठी मूल के सखाराम गणेश देउस्कर थे। जो पहले अध्यापक थे और उन्होंने देवघर के अत्याचारी अंग्रेज अधिकारी हार्ड के ख़िलाफ़ कोलकाता से छपने वाली 'हितवादी' पत्रिका में कई लेख लिखे और अंग्रेज अधिकारियों से मिल रही बराबर धमकी से नौकरी छोड़ दी। पहले हितवादी में प्रूफरीडर का काम किया फिर अपनी योग्यता के अनुसार संपादक बने। और उन्होंने विभिन्न सामाजिक विषयों पर लेख लिखे जिससे लोगों में इनकी लोकप्रियता बढ़ी। फिर इन्होंने बांग्ला में 'देशेर कथा' (1904) लिखा। जो बहुत लोकप्रिय हुई और दो साल के भीतर ही इसके कई संस्करण छपे। इस किताब में अंग्रेजों की नीतियों का पर्दाफ़ाश किया गया है, जिससे अंग्रेज सरकार ने इस किताब को प्रतिबंधित कर दिया। इस किताब का हिन्दी में पहला अनुवाद अमृतलाल चक्रवर्ती ने पूरा किया और दूसरे अनुवादक बाबूराव विष्णुप्रभाकर ने किया। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- "सखाराम गणेश देउस्कर के पहले दादा भाई नौरोजी और रमेशचंद्र दत्त ने अंग्रेजी राज द्वारा भारत के शोषण की प्रक्रिया का विवेचन किया था। साथ ही विलियम डिग्वी ने भारत में अंग्रेजी राज के झूठ और लूट पर पर्दाफ़ाश किया था। देउस्कर जी ने दादा भाई नौरोजी, रमेशचंद्र दत्त और डिग्वी की पुस्तकों से 'देशेर कथा' के लेखन में मदद ली है। लेकिन दो बातें देउस्कर को दादा भाई नौरोजी,

[331] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' -पृष्ठ सं. 116

रमेशचन्द्र दत्त और डिग्वी की पुस्तकों से भिन्न तथा विशिष्ट बनाती है । एक तो इन तीनों लेखकों की किताबें अंग्रेजी में थीं, 'जो अंग्रेजी नहीं जानते वे इन किताबों से बिल्कुल लाभ नहीं उठा सकते । उस श्रेणी के लोगों के लिए यह पुस्तक 'देशेर कथा' सरल भाषा (बांग्ला) में लिखी गई है ।' दूसरी बात यह कि देउस्कर की पुस्तक का लक्ष्य आम जनता में स्वदेशी की भावना जगाना और स्वाधीनता की चेतना पैदा करना था ।"[332]

राष्ट्रवादी विचारों से ओत-प्रोत पत्रिका 'अभ्युदय' का नामकरण बालकृष्ण भट्ट ने किया था । इस पत्रिका के संपादक काँग्रेस के हिन्दूवादी संगठनों के नेता मदनमोहन मालवीय थे । 1907 में मदन मोहन मालवीय ने 'अभ्युदय' पत्रिका का संपादन शुरू किया । यह पत्रिका राजनीति से प्रेरित थी, पर यह अंग्रेज सरकार का मुखर विरोध नहीं करती थी । अभ्युदय के संपादकों में पुरुषोत्तमदास टंडन, सत्यानंद जोशी और कृष्णकांत मालवीय जी जैसे जागरूक पत्रकार थे । जब 1907 में 'पंजाबी' पत्रिका के संपादक पर मुकदमा चला तो 'अभ्युदय' के संपादक मदनमोहन मालवीय ने लिखा, "संपादक ने अपना संपादकीय लेख लिखकर एक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक मामले के ऊपर सरकार और जनता दोनों का ध्यान दिलाया है । यदि ऐसे मुकदमें में संपादक को सज़ा हुई तो समाचार पत्रों की स्वतंत्रता को बड़ी बाधा पहुँचेगी । संतोष हमें उस बात का है कि पंजाबी के संपादक श्री अठावले ने अपने कर्तव्य पालन में हर प्रकार का साहस और दृढ़ता दिखाई है ।"[333]

1909 से निकलने वाली पत्रिका 'कर्मयोगी' को सुंदर लाल ने श्री अरविंदघोष की पत्रिका 'कर्मयोगिनी' के अनुकरण पर निकाला था । यह पत्रिका बहुत लोकप्रिय हुई और इसके ग्राहकों की संख्या जल्दी ही दस हजार तक पहुँच गयी । पांच महीने तक यह पत्र पाक्षिक रहा और बाद में साप्ताहिक हो गया । 1910 में प्रेस क़ानून पारित होने से इस पत्रिका पर तीन हजार रुपये की जमानत राशि मांगी गयी जिसको न पूरा कर पाने पर यह पत्रिका बंद

[332] सखाराम गणेश देउस्कर संपादक मैनेजर पाण्डेय 'देश की बात'- पृष्ठ सं.सोलह –सत्रह
[333] अर्जुन तिवारी 'हिन्दी पत्रकारिता का वृहद् इतिहास' पृष्ठ सं 117

हो गयी। जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी लिखते हैं "पं. सुंदरलाल एक तरफ़ 'कर्मयोगी' निकाल रहे थे तो दूसरी ओर उर्दू पत्र 'स्वराज्य' में भी सहयोगी थे। उर्दू 'स्वराज्य' के एक के बाद एक नौ संपादकों को लंबे–लंबे समय की सज़ाएँ हुई थीं और तीन को लंबी अवधि के लिए काला पानी भेज दिया गया था। इसके अधिकतर संपादक पंजाब से आए थे।"[334]

'छत्तीसगढ़ मित्र' के बंद होने के बाद माधवराव सप्रे नागपुर के देश सेवक प्रेस में नौकरी करने लगे। प्रेस के मालिक ने माधवराव सप्रे को मुनाफ़े में भी हिस्सा देते थे। माधवराव सप्रे अपने समय में हो रहे राष्ट्रीय जागरूकता अभियान से परिचित ही नहीं उसके सहयोगी भी थे। उस समय विभिन्न भारतीय भाषाओं में साहित्य निर्माण संबंधी ग्रंथमाला निर्माण हो रही थी। इस क्षेत्र में काम करने के लिए उन्होंने नागपुर से ही 'हिन्दी ग्रंथमाला' की स्थापना की और इसका प्रथम अंक मई 1906 में निकाला। इसी पत्र में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा अनूदित जान स्टुअर्ट मिल का निबंध 'लिबर्टी' का अनुवाद 'स्वाधीनता' नाम से प्रकाशित हुआ। गोखले के भाषणों का हिन्दी अनुवाद भी इसी पत्र में 'स्वराज्य तथा सुराज्य' नाम से प्रकाशित हुआ था। माधवराव सप्रे का अंग्रेजी शासन के प्रति स्पष्ट मत है कि "राज्य करने वाले अंग्रेज क्या दुधमुहें बच्चें हैं जो वे 'बायकॉट', 'बहिष्कार योग', 'विदेशी वस्तु या त्याग' 'राजनैतिक' इत्यादि शब्दों के बदले 'स्वदेशी', 'स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार', अपने व्यापार और कारखानों की उन्नति जैसे शब्दों के प्रयोग से धोखा खा जायें और उनके राजनैतिक अर्थ को न समझें ? अठारहवीं शताब्दी में देश स्वर्णभूमि कहलाता था और अकेले बँगाल के प्रतिवर्ष पंद्रह करोड़ रुपयों का कपड़ा विदेश को निर्यात होता था। पटना, शाहाबाद, मुर्शिदाबाद इत्यादि स्थानों की स्त्रियाँ चरखे पर सूत कातकर लाखों रुपयों की मुद्रा अर्जित करती थीं। सन् 1757 में जब क्लाइव मुर्शिदाबाद को गया था तब उसने इस शहर को लंदन के बराबर जनाकीर्ण और विस्तृत देखा था। लेकिन तमाम वह दौलत गई कहाँ ?

[334] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' पृष्ठ सं. 121

विदेशी सौदागर आया और देश की समृद्धि विलीन हो गई कहाँ ? विदेशी सौदागर आया और देश की समृद्धि विलीन होने लगी ।...रेशम लपेटने वाले अंगूठे कटवा दिये गये और नील की खेती शुरू कर दी गई ।"[335]

'हिन्दी केसरी' का प्रकाशन 1907 में नागपुर से हुआ। इस पत्रिका ने माधवराव सप्रे को विवादों में ऐसा उलझाया जिससे सप्रे जी को अपने सार्वजनिक जीवन से कुछ वर्षों के लिए संन्यास लेना पड़ा। 'हिन्दी केसरी' का पत्रकारों ने खुले मन से स्वागत किया कुछ ने इस ऐतिहासिक पत्रिका का हिस्सा बनने के लिए अपने स्थापित उद्योग को छोड़कर आए। उनमें पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित लल्ली प्रसाद पाण्डेय थे।

यह पत्रिका भारत में राष्ट्रीयता के प्रसार–प्रचार की हिस्सा थी। भारतीय नेताओं को बँगाल के विभाजन से उपजी स्थिति को ध्यान में रखते हुए पूरे भारत को एकता के सूत्र में बांधने की आवश्यकता महसूस होने लगी। बालगंगाधर तिलक ने अपने को सर्वमान्य नेता के रूप में स्थापित कर लिए थे। तिलक की कट्टर राष्ट्रवादी नीति 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' ने युवाओं में जान फूंक दी थी। अब सभी अपने–अपने स्तर से देश में एक राष्ट्रीयता एक समस्या को उजागर करने लगे जिससे सभी भारतीय अपनी एकता को समझ सके। संतोष कुमार शुक्ल लिखते हैं- "नागपुर में 24 जनवरी 1907 को 'राष्ट्रीय मंडल' की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य 'राष्ट्रीय आंदोलन संचालित करना' था। सप्रे जी इस मंडल के सक्रिय पदाधिकारी थे। इसी मंडल के अंतर्गत शिवाजी उत्सव, गणेश उत्सव, स्वदेशी प्रचार, बहिष्कार, राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना आदि कार्यक्रम संचालित करना प्रारंभ किया था।"[336]

इन सब कार्यों के प्रचार के लिए पत्रिकाओं की भी ज़रूरत हुई। अच्युतराव कोल्हटर ने मराठी में 'देशसेवक' का संपादन किया। हिन्दी में राष्ट्रीयता के प्रचार–प्रसार के लिए माधवराव सप्रे ने 'हिन्दी केसरी' का संपादन शुरू किया। इस पत्रिका के विभिन्न सहयोगियों

---

[335] अर्जुन तिवारी 'हिन्दी पत्रकारिता का वृहद् इतिहास' पृष्ठ सं. 171

[336] संतोष कुमार शुक्ल 'पत्रकारिता के युग निर्माता: माधवराव सप्रे' पृष्ठ सं. 57

में पंडित जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल मुंबई की प्रसिद्ध पत्रिका 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' पत्र का संपादन छोड़कर आये थे। 'हिन्दी केसरी' अपने पहले अंक से ही लोकप्रिय हो गयी थी। यह पत्र लगभग दो साल तक चला।

बालगंगाधर तिलक की 'केसरी' पत्रिका पर अंग्रजों की कुदृष्टि पहले से थी। अंग्रेज सरकार ने 1908 में 'केसरी' में छपे एक लेख 'ये उपाय टिकाऊ नहीं है' पर पत्र को प्रतिबंधित कर दिया और संपादक बालगंगाधर तिलक को छ: वर्ष की जेल हुई। इसी लेख की छाया प्रति 'हिन्दी केसरी' में भी प्रकाशित हुई तो उसके संपादक माधवराव सप्रे को भी जेल हुई, जहाँ उनको तीन महीने बाद अंग्रेज सरकार से माफ़ी मांगकर बाहर आना पड़ा।

माधवराव सप्रे का यह निर्णय परिस्थिति जन्य था। जो उन्हें ऐसा प्रभावित किया कि उनकी जीवन के आठ साल ठहर से गए। कोई भी अपने संघर्ष के समय में अचानक घटी किसी घटना से वह आठ वर्ष अपने संघर्षशील जीवन से दूर हुआ तो वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रह जाएगा। आठ साल किसी भी चमकते सितारे की आभा धूमिल करने के लिए काफ़ी हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने निबंध 'लज्जा और ग्लानि' में बताते हैं कि " ग्लानि में अपनी बुँराई, तुच्छता आदि के अनुभव से जो संताप होता है वह अकेले में भी होता है और दस आदमियों के सामने प्रकट भी किया जाता है। ग्लानि अंत:करण की शुद्धि का एक विधान है। उससे इसके उद्गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुःख या सुख के कथन से भी अनुभव करते हैं– उनमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती है।"[337]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि माधवराव सप्रे निर्मल हृदय के धनी थे। उन्हें पता था कि लोग उनके इस निर्णय से साहित्य और इतिहास से उन्हें भूला देंगे। उनके जेल में माफ़ी मांगने पर 'हिन्दी केसरी' ने लिखा 'सप्रे अपने सार्वजनिक जीवन का सत्यानाश

[337] आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'चिंतामणि' पृष्ठ सं.33

कर लिया' किसी की एक गलती उसके द्वारा किए गए हजार अच्छाईयों और त्याग को मिटा नहीं सकती।

'हिन्दी केसरी' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर 'आनंद कादंबिनी' में प्रेमघन ने लिखा है कि "हर्ष का विषय है कि आज सप्रे जी की दया और उद्योग से प्रशंसित पत्र मराठी केसरी के हिन्दी प्रतिरूप का दर्शन हमारे हर्ष के हेतु हुआ है। न केवल मध्यप्रदेश से हमारी भाषा के नवीन साप्ताहिक पत्र निकलने अथवा न केवल महानुभाव की ओजस्विनी लेखनी की अमृतधारा से नागरी पत्र पाठकों की तृप्ति की आशा होने ही के कारण...इसका संपादन भार सप्रेजी महाशय जैसे सुयोग्य सज्जन के द्वारा होने के कारण इसकी पूर्ण सफलता की दृढ़ आशा होने से हम अधिक संतुष्ट हैं। लेख इसके अत्यंत पुष्ट प्रयोजनी और ओजस्वी होते हैं, इसके आख्यान की आवश्यकता नहीं है। इसके मुख्य उद्देश्य प्रचार और विदेशी बहिष्कार, स्वराज्य और हमारे स्वात्म गौरव का स्थापन है।"[338]

माधवराव सप्रे के सहयोगियों ने 1914 में एक बार फिर 'हिन्दी केसरी' का संपादन शुरू किया पर यह संस्करण जल्दी ही बंद हो गया।

'हिन्दी केसरी' मामले में माफ़ी मांगने की घटना के आठ साल बाद माधवराव सप्रे ने एक बार फिर सार्वजनिक जीवन की शुरूआत की। सप्रे जी ने पहली बार 1916 में रामदासी मठ में मनाए जा रहे 'जन्माष्टमी' के अवसर पर 'भक्ति योग' विषय पर भाषण दिया। पर विधिवत सार्वजनिक जीवन में प्रवेश पांच नवंबर 1916 को ही जबलपुर में होने वाले सप्तम 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' में भाग लेकर किया। माधवराव सप्रे ने इस सम्मेलन में प्रस्ताव रखा जिसका लोगों ने स्वागत किया, "यह सम्मलेन अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करता है कि भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार और विद्या की उन्नति के लिए आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम

[338] संतोष कुमार शुक्ल 'पत्रकारिता के युग निर्माता: माधवराव सप्रे' पृष्ठ सं.59 -60

देशी भाषा हो और गवर्मेंट से प्रार्थना करता है कि इस आवश्यक सुधार की ओर बहुत शीघ्र ध्यान दे।"[339]

अपने सार्वजनिक जीवन (1916 के बाद का जीवन) के दूसरे चरण में माधवराव सप्रे किसी भी पत्रिका के संपादक नहीं बने। उनको कई अवसरों पर संपादक बनाने की बात हुई पर ये स्वयं युवाओं को आगे करने लगे। उन्हीं युवाओं में माखनलाल चतुर्वेदी भी थे।

माधवराव सप्रे के दोबारा सार्वजनिक जीवन में आने से कुछ वर्ष पहले सन् 1913 में 'प्रताप' पत्रिका निकली जिसके संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी थे। गणेश शंकर विद्यार्थी का यह पत्र काले, गोरे, पूर्वी, पश्चिमी, हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, ईसाई में कोई अलगाव नहीं मानता था। गणेश शंकर विद्यार्थी एक पत्रकार होने के साथ ही काँग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता थे। ये गाँधी जी से प्रभावित थे, पर गांधीवाद से नहीं।

गणेश शंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' पत्रिका निकालने के पहले 'सरस्वती' पत्रिका और बाद में अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता से जुड़े रहने के लिए मदनमोहन मालवीय की पत्रिका 'अभ्युदय' में कुछ समय काम किया था। उस समय विद्यार्थी जी के गृहनगर का माहौल राष्ट्रवादी था। यहीं से इन्होंने सुंदर लाल की राष्ट्रवादी पत्रिका 'कर्मयोगी' में और 'स्वराज्य' में लेख और टिप्पणियाँ लिखा करते थे।

गणेश शंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' पत्रिका से भगत सिंह को भी जोड़ा। प्रताप के संपादक होने के चलते इन्हें पांच बार जेल जाना पड़ा। 'प्रताप' अपने समय का उत्तर भारत में अंग्रेज विरोधी पत्रों में बहुत लोकप्रिय था। विद्यार्थी जी लिखते हैं, " मनुष्य की उन्नति भी सत्य की जीत के साथ बँधी है। इसलिए सत्य को दबाना हम महापाप समझेंगे और उसके प्रचार तथा प्रकाश को महापुण्य। हम जानते हैं कि हमें इस काम में बड़ी–बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा और इसके लिए बड़ी भारी साहस और आत्मबल की आवश्यकता है।

[339] सं. देवीप्रसाद वर्मा 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.29

हमें यह भी अच्छी तरह मालूम है कि हमारा जन्म निर्बलता, पराधीनता और अल्पज्ञता के वायुमंडल में हुआ है। तो भी हमारे हृदय में केवल सत्य की सेवा करने के लिए आगे बढ़ने की इच्छा है और हमें अपने उद्देश्य की सचाई और अच्छाई पर अटल विश्वास है। इसलिए हमें, अंत में, इस शुभ और कठिन कार्य में सफलता मिलने की आशा है।"[340]

'प्रताप' पत्रिका के कुछ महीनों बाद ही प्रथम विश्व युद्ध का शंखनाद हो गया। इसका खामियाजा सभी भारतीय भाषाओं की पत्रिकाओं को भुगतना पड़ा। उन्हीं में साप्ताहिक 'प्रताप' भी था। भारतीय मज़दूर जो फिजी गए थे उनकी समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट कराने के लिए लक्ष्मण सिंह ने 'कुली प्रथा' नामक नाटक लिखा। इस नाटक का प्रकाशन गणेश शंकर विद्यार्थी ने किताब रूप में प्रकाशित किया। जिसे बाद में अंग्रेज सरकार ने जब्त कर लिया और लोगों को इस पत्रिका की सदस्यता लेने पर धमकाया। और प्रकाशक पर आपत्तिजनक साहित्य प्रकाशित करने का आरोप लगाते हुए एक हजार की जमानत मांगी, पत्रिका को बचाने के लिए देना भी पड़ा।

गणेश शंकर विद्यार्थी ने चंपारण में गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन पर रिपोर्ट प्रकाशित की तो इन्हें चेतावनी दी गयी। बाद में 22 अप्रैल 1918 को एक कविता प्रकाशित करने के आरोप में एक हजार रुपये का जुर्माना लगा जिसे एक महीने के भीतर देकर फिर से पत्रिका को शुरू किया गया।

गणेश शंकर विद्यार्थी 'प्रताप' में अपने समय के काकोरी कांड में दिए गए मृत्यु दंड के विरोध में संपादकीय लिखते हैं कि इनको भटके हुए युवा समझकर मांफ किया जा सकता था। 'प्रताप' पत्रिका की लोकप्रियता उसके बढ़ते पृष्ठ से देखी जा सकती है। 'प्रताप' शुरू में 16 पृष्ठ से प्रकाशित होना आरंभ हुआ, जो पहले साल ही बीस पृष्ठ का हो गया और 1930 तक इसके पृष्ठों की संख्या चालीस तक हो गयी।

---

[340] जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास'- पृष्ठ सं.127

मदनमोहन मालवीय ने 1911 में 'मर्यादा' मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। इसके संपादक कृष्णकांत मालवीय को नियुक्त किया गया जो बाद में उत्तर प्रदेश के केन्द्रीय विधानसभा के सदस्य भी बने। इसके संपादकों में संपूर्णानंद और प्रेमचंद हुए। इस पत्रिका में माधवराव सप्रे के कुछ निबंध प्रकाशित हुए थे। विनय बिहारी सिंह कर्मेंदु शिशिर द्वारा संपादित 'मर्यादा' पत्रिका की समीक्षा लिखते हुए महात्मा गाँधी के असहयोग आंदोलन के समय 'मर्यादा' की सम्पादकीय उद्धरण देखने से तत्कालीन हिन्दी क्षेत्र की क्रांति के समय की मानसिकता स्पष्ट हो जाती है- " हिन्दू मुसलमान अब एक हैं। ब्राह्मण, सैयद, शेख, क्षत्रिय, वैश्य, कुंजड़े, कसाई ...सबकी रगों में एक ही खून बह रहा है। दिल्ली की सड़कों पर बहने के समय खून ने अपने भाई के .खून को पहचान लिया और वे एक हो गए। देखने वाले हिन्दू और मुसलमानों ने भी गौर किया तो उनको दिखाई दिया कि खून एक है, किसी किस्म का उसमें अंतर या फर्क नहीं और वे एक हो गए।"[341]

इस पत्रिका का महत्त्व इससे और स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारत को समझने के लिए कर्मेंदु शिशिर ने इस पत्रिका में छपे लेखों का एक बार फिर संपादन कर लोगों के बीच इसे छह खंडों में प्रस्तुत किया है। जिसमें कर्मेंदु शिशिर का पूर्व कथन कि "'मर्यादा' की इस वैचारिक लेखन से गुजरते हुए इस बात का एहसास हो जाता है कि उस दौर में हिन्दी का बौद्धिक समाज वैचारिक स्तर पर लगभग आत्मनिर्भर हो चूका था। पराधीनता के बावजूद औपनिवेशिक सोच से आज़ादी की यह उपलब्धि कोई मामूली बात नहीं थी। वह भी तब जब उसके पास मार्क्सवाद, गांधीवाद, लोहियावाद या अम्बेडकरवाद की किसी व्यवस्थित विचारधारा का कोई सहारा नहीं था।"[342]

सप्रे जी के कुछ लेख 'प्रभा' पत्रिका में भी प्रकाशित हुए थे। यह पत्रिका 7 अप्रैल 1913 से खंडवा मध्यप्रदेश से प्रकाशित होती थी। इसके संपादक माखनलाल चतुर्वेदी थे।

---

[341] वागर्थ, अगस्त 2019 पृष्ठ सं. 108

[342] वागर्थ, अगस्त 2019 पृष्ठ सं. 108-09

इस पत्रिका ने अपने क्षेत्र में राष्ट्रीयता की अलख जगाए रखी। 1918 से 'प्रभा' का संपादन कानपुर से शिवनारायण मिश्र और कृष्णदत्त पालीवाल ने किया।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर से 'ज्ञान शक्ति' पत्रिका का प्रकाशन 1915 में हुआ। यह पत्रिका हिन्दी की पैरोकार पत्रिका थी। 'ज्ञान शक्ति' शुरू में कभी साप्ताहिक तो कभी पाक्षिक रूप में निकली बाद में यह मासिक हो गयी। यह पत्रिका पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोगों में ज्ञान की एक मात्र माध्यम थी। यह पत्रिका उर्दू लेखकों के विरुद्ध पूर्वी उत्तर प्रदेश में हिन्दी लेखकों का समूह बनाने में सफल रही।

'ज्ञान शक्ति' के संपदाक श्री शिवकुमार शास्त्री राष्ट्रवादी विचारधारा के समर्थक थे। इस पत्रिका में सप्रे जी के भी लेख छपते थे। इस पत्रिका के उद्देश्य के बारे में अर्जुन तिवारी लिखते हैं- "ज्ञान शक्ति के प्रारंभिक अंकों में सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक लेख, कहानी एवं कविताएँ प्रकाशित होती थीं।"[343]

माधवराव सप्रे ने विष्णुदत्त शुक्ल और छेदीलाल शुक्ल की सहायता से 'राष्ट्र सेवा लिमिटेड' की स्थापना की। जबलपुर से ही 17 जनवरी 1920 को 'कर्मवीर' का प्रकाशन शुरू हुआ। संस्थापक सदस्यों ने 'कर्मवीर' का संपादन भार सप्रे जी को देना चाहते थे पर सप्रे जी ने संपादन के लिए अपने शिष्य माखनलाल चतुर्वेदी को चुना। माधवराव सप्रे के निर्देशन और माखनलाल चतुर्वेदी के मेहनत ने पत्रिका को जल्दी ही राष्ट्रीय पत्र का दर्जा मिल गया। 'कर्मवीर' राष्ट्रवादी पत्रिकाओं में सिरमौर थी, राष्ट्रवादी लेख और कविताएँ छापने के आरोप में माखनलाल चतुर्वेदी पर राजद्रोह का मुक़दमा चला और वे जेल चले गये। जब वे जेल से छूटकर बाहर आये तब उन्होंने इस पत्रिका को जबलपुर के बदले खंडवा से प्रकाशित किया। यह पत्रिका माखनलाल चतुर्वेदी के अंत समय तक खंडवा से ही प्रकाशित होती रही। माखनलाल ने अपने गुरु माधवराव सप्रे के साहित्यिक अवदान को याद करते हुए अंग्रेजी

[343]अर्जुन तिवारी, 'हिन्दी पत्रकारिता का वृहद् इतिहास' पृष्ठ सं. 184

साहित्य के इतिहासकार ट्राइन के हवाले से उनके महत्त्व पर यों प्रकाश डाला है- "साहित्य केवल कल्पनाओं का विलासी नहीं होता, न उसकी क़लम और ज़बान के द्वारा अवतरित होने वाली चीज़ें उसके ज़माने के लोगों के विलासी मात्र की वस्तु होती है। उसके शब्द, वचन और व्यवहार, केवल मौजी मन की तरल तरंग पर स्थापित नहीं। कर्मशील साहित्य का जीवन, देश की तत्कालीन रीति-नीति की और उस जमाने की बुद्धिमत्ता की विश्वसनीय और उज्ज्वल मुहर है। सच्चे साहित्य का जीवन , मनुष्य के भावों, विचारों और कार्यों की रेखाओं से अंकित, अपने जमाने की गुप्त और प्रगट अनेक बलिदानों, तपस्याओं और कार्यों का इतिहास, जनता के सम्मुख लाता है।"[344]

[344] संपदक श्रीकांत जोशी, 'माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली' 04 पृष्ठ सं.108

# उपसंहार

'नवजागरण' और 'पुनर्जागरण' में शाब्दिक भेद है, अर्थगत नहीं। नवजागरण का आविर्भाव दो संस्कृतियों की आपसी टकराहट से माना जाता है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में भी दो संस्कृतियाँ आमने सामने थीं, पर ये दोनों ही अपनी प्रकृति में रूढ़िवादी थीं। इसलिए ये आंदोलन का रूप नहीं ले सकीं। बावजूद इसके वास्तुकला में दोनों संस्कृतियों का मेल देखा जा सकता है।

'लोकजागरण' वस्तुतः नवजागरण की पूर्व पीठिका है । रामविलास शर्मा इसी लोकजागरण से आधुनिक काल की शुरूआत मानते हैं क्योंकि विश्व इतिहास में जब आधुनिक भाषाओं का विकास होने लगा तभी से वहाँ आधुनिक युग की शुरूआत मानी जाती है । भारत में आधुनिक भाषाओं का विकास ही प्रकारांतर से जाति निर्माण की भी प्रक्रिया है।

रोमन साम्राज्य के पतन, अर्थात् पांचवीं से 15वीं सदी तक के समय को यूरोप के इतिहास में अंधकार काल कहा गया है। आगे आने वाले समय में यूरोप में मानवता के विकास के साथ ही औद्योगिक युग का अविर्भाव हुआ जो पूरे विश्व के लिए अनुकरणीय रहा है।

फ्लोरेंस शहर यूरोपीय नवजागरण के केन्द्र में था, क्योंकि इसी शहर में दांते, पेत्रार्का और वोकैचियो थे। इन रचनाकारों ने जनभाषा में प्राचीन पुस्तकों का अनुवाद प्रस्तुत कर आमजन की वर्तमान स्थिति का ज़िम्मेदार पोप को बताया।

भारतीय नवजागरण की पृष्ठभूमि एक लंबी चिंतन परंपरा से गुज़री, क्योंकि यहाँ कोई अंधकार युग नहीं था । भारतीय चिंतन परंपरा अपनी ओर इस दृष्टिकोण से भी ध्यान आकर्षित करती है कि यहाँ भक्ति काल को नवजागरण की पूर्व पीठिका के रूप में देखा गया है। इसलिए इस भक्तिकालीन लोकजागरण पर विचार करने से यह तथ्य सामने आता है कि

भारतीय चिंतन परंपरा की अविरल धारा छठी सदी से सामंती मानसिकता पर चोट करती हुई आ रही है- कहीं सगुण धारा के रूप में तो कहीं निर्गुण धारा के रूप में। अलवारों और नयनारों के यहाँ जाति-पाँति विरोधी मत की लोकप्रियता देखी जा सकती है। आलवार और नयनार का तत्कालीन समाज में प्रभाव भी खूब था। इन संतों की मंदिरों में मूर्ति तक स्थापित की गयी।

शंकराचार्य ने अलवारों और नयनारों की बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए 'अद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया, जिससे सगुण भक्ति के सिद्धांत से लोगों का विश्वास जाता रहा। ऐसे में इनके बाद के कुछ दार्शनिक आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैत मत का खंडन करते हुए अपने-अपने दार्शनिक मत दिए और सगुण भक्ति की तरफ़ लोगों का ध्यान फिर से आकर्षित किया। रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' में जीव और जगत के अस्तित्व को अलग-अलग माना है। मध्वाचार्य ने अपने द्वैतवाद में सब जन को समान महत्त्व दिया है।

रामानंद कबीर के गुरु थे। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी किताब 'अकथ कहानी प्रेम की' में कुछ श्रेष्ठतावादियों द्वारा रामानंद को संस्कृत आचार्य सिद्ध किए जाने वाली मानसिकता पर विचार किया है। कबीरदास का काव्य लोक का काव्य है। सूरदास का साहित्य जीवनोत्सव का साहित्य है। तुलसी का साहित्य समन्वय का साहित्य है। इन तीनों ही रचनाकारों ने अपने-अपने तरीके से सामंती तत्त्वों पर प्रहार किया। इनमें कबीरदास की सामाजिक चेतना सबसे प्रखर थी।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल सामंतों की सुदृढ़ अवस्था का परिणाम है। यहाँ सामाजिक सरोकारों वाले संत कवियों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, जिससे उत्तर भारत दो सौ सालों तक अपनी अखंड चिंतन परंपरा से दूर रहा। इसी समय सामंत सुदृढ़ हुए और अपनी धन लोलुपता और विलासिता के चलते नष्ट भी हो गये।

अंग्रेजों ने भारत में हर स्तर पर लोगों को शिक्षित करने की व्यवस्था की। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त उत्साही युवकों ने जनसामान्य को जगाने की कोशिश की। इस कोशिश की शुरूआत राजा राममोहन राय ने की और बाद में उसमें और भी नाम जुड़ते गए।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म को पुनर्स्थापित और प्रतिष्ठित करने के लिए 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की और इससे बड़ी संख्या में वैचारिक लोगों को जोड़ा। हेनरी विवियन डेरोजियो कलकत्ता के हिन्दू कालेज में अध्यापक थे। ये अपने समय के सबसे लोकप्रिय अध्यापक हुए। इनके विचारों से नव-युवक खूब प्रभावित थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने संस्कृत भाषा के ज्ञान का द्वार सबके लिए खोल दिया। ये विधवा विवाह के समर्थक थे। स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिन्दी भाषा और हिन्दू धर्म के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण काम किया। इन्होंने हिंदुओं में जातिगत विषमता को दूर करने की कोशिश की। थियोसोफिकल सोसायटी ने भारतीयों के आत्मगौरव को जगाया। सर सैयद अहम खाँ ने मुस्लिम जागरण के लिए काम किया और आधुनिक शिक्षा की कमी को देखते हुए 'मुहम्मडन एंग्लो औरियंटल कालेज' की स्थापना की। भारतेंदु हरिश्चंद्र हिन्दी के प्रतिष्ठित रचनाकार और समाज सेवी थे। उन्होंने हिन्दी भाषा और हिन्दी समाज की सेवा में अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। विवेकानंद ने हिन्दू धर्म और संस्कृति का मान विश्व में बढ़ाया। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त छुआछूत की भावना पर खुलकर प्रहार किया। ज्योतिराव गोविंदराव फुले भी सामाजिक असमानता को दूर करने और सबको शिक्षा देने के पक्षधर थे। वे और उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले ने मिलकर महिलाओं के लिए कई स्कूल खोले। दक्षिण भारत में ब्रह्म समाज से प्रभावित चेबेंटी श्रीधरालू ने विधवा पुर्नविवाह और स्त्री शिक्षा के लिए काम किया। आधुनिक तेलुगु साहित्य के जनक कुंदुकूरी विरेशलिंगम पंतुलु ने अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री शिक्षा और विधवा विवाह के लिए जन चेतना के प्रसार का काम किया है। केरल के नारायण गुरु ने पिछड़ी जाति

के सामाजिक अधिकारों के लिए काम किया और अछूतों के लिए स्वयं मंदिर भी बनवाया जहाँ सभी लोग समान माने जाते थे।

अंग्रेजों ने यद्यपि भारत में उद्योग धंधों और तकनीकी विकास को बढ़ावा दिया, पर इसकी आड़ में वे भारत का आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शोषण भी लगातार करते रहे। इसी का परिणाम 1857 की क्रान्ति थी। पाश्चात्य विद्वानों ने 1857 की क्रांति को उतना महत्त्व नहीं दिया जितने का वह अधिकारी है। लोगों ने इसे विद्रोह या बलवा कहकर इसके महत्त्व की उपेक्षा की है। 1857 के विद्रोह के कारणों में कुछ विद्वानों ने भारतीयों के रीतिरिवाजों में अंग्रेजों के हस्तक्षेप को प्रमुख बताया है। अंग्रेजों ने भारत के जिस भी हिस्से को अपने अधिकार में लेने की कोशिश की वहाँ के लोगों ने इनका विरोध किया।

1857 की क्रांति का तात्कालिक कारण भारतीय सिपाहियों में बहुत दिनों से फैला असंतोष था जिसको भारतीय नेताओं ने एक गति प्रदान की थी। उस समय हिन्दू धर्म की मान्यता थी कि जो समुद्र पार करेगा उसका धर्म नष्ट हो जाएगा। इसी कारण बैरकपुर की 47वीं रेजिमेंट ने बर्मा जाने से मना कर दिया था। इससे क्रुद्ध होकर अंग्रेज अधिकारियों ने इन सिपाहियों को मृत्युदंड दिया था। अफवाह यह रही कि अंग्रेज छिपेतौर पर ईसाई धर्म का विस्तार कर रहे हैं और विधर्मी लोगों का धर्म नष्ट कर रहे हैं। ईसाई मिशनरियों के प्रति अंग्रेजों का लगाव जगजाहिर था।

भारतीय सेना अंग्रेजी शासन में अपनी हैसियत जानती थी। तीस साल की नौकरी में कोई कभी सूबेदार से ऊपर का पद नहीं पा सकता था। ये सिपाही वर्दी में किसान थे और ये लोग अंग्रेजी राज में किसानों की हालत देख चुके थे कि कैसे, अंग्रेजी नीतियों के चलते किसान बर्बाद होते गए। 1857 की क्रांति का महत्त्व इससे और स्पष्ट हो जाता है कि फ्रेडरिक पिंकाट ने महात्मा गाँधी को 1857 की क्रांति पर मैलेसन की किताब पढ़ने की सलाह दी थी।

1857 की क्रांति हिन्दी क्षेत्र तक ही सीमित रही क्योंकि उस समय तक जहाँ भी अंग्रेजों ने राज्य जीता था वहाँ के विद्रोह को बुरी तरह कुचल दिया था इससे उन क्षेत्रों में 1857 की क्रांति का कोई असर नहीं दिखा। 1857 की क्रांति ने हिन्दी क्षेत्र में इसलिए विस्तार पाया क्योंकि अंग्रेजों की नीति से जमींदार और ताल्लुकेदार डरे हुए थे। अंग्रेजों ने अपनी विस्तारवादी नीति के चलते अपने आज्ञाकारी राज्य अवध को भी मिला लिया और तो और भारत के बड़े राज घरानों को भी अंग्रेजों ने उचित सम्मान देना वाजिब नहीं समझा, उन लोगों ने मुगलों और पेशवाओं के महत्त्व को जानबूझकर कम किया। मुगलों को बादशाह का ख़िताब न देने की बात की तो दूसरी ओर पेशवा के उत्तराधिकारी की पेंसन भी बंद कर दी। इससे सब जमींदारों और राजाओं ने अंग्रेजों के ख़िलाफ़ सशक्त विद्रोह किया और इसका समर्थन किसानों ने भी किया। इस क्रान्ति में अंग्रेजों ने क्रांतिकारियों की एकता को तोड़ने के लिए एलान किया कि जिन्होंने अंग्रेजों की हत्या नहीं की है वे अपने को विद्रोहियों से अलग कर लें। जल्दी ही सभी जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने अपने आपको विद्रोह से अलग कर लिया और अंग्रेजों द्वारा पुरस्कृत हुए। अंग्रेजों ने क्रांतिकारी किसानों पर बेइंतहा कहर बरपाया। गाँव के गाँव आग से जलाकर खाक कर दिए गए।

भारतेंदु के समय में सभी नवशिक्षित पश्चिमी सभ्यता और विक्टोरिया की जय जयकार कर रहे थे। सुंदरलाल ने चार्ल्स ट्रेवेलियन की (1853 में) संसदीय कमेटी में दिए गए भाषण का उदाहरण देकर बताया कि कैसे भारतीय मनोदशा को अंग्रेजी साहित्य से बदला जा रहा था। उन्होंने बताया कि अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव यह होगा कि जो अंग्रेजी साहित्य को समझने लगेगा वह अंग्रेजों को विदेशी मानना छोड़ देगा। यद्यपि भारतेंदु के व्यक्तित्व में भी यह अंतर्विरोध था कि उनमें राज्य-भक्ति और राष्ट्र-भक्ति साथ दिखें, पर उत्तरोत्तर उनमें राष्ट्रभक्ति का स्वर ऊँचा होता गया था। वे अपने वर्ग के प्रतिनिधि थे, साथ ही वे समाज और राजनीति पर ग़ैर रूढ़िवादी विचार रखते थे। उनके पास कोई संवैधानिक पद नहीं था

फिर भी एक पत्रकार की हैसियत से 1882 में डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में बने एजुकेशन कमेटी के सामने इनका मत आमंत्रित किया गया था। प्रेमघन भारतेंदु को नागरी प्रचारिणी सभा के रूप में देखते हैं। बांग्ला लेखिका मल्लिका से भारतेंदु का संबंध था जिसे वे खुले तौर पर स्वीकार करते थे। उन्होंने उनके पढ़ने की लालसा का सम्मान भी किया। भारतेन्दु में स्त्री शिक्षा का अन्तर्विरोध इसलिए रहा कि वे एक रईस जीवन शैली पर कायम थे। इसलिए वे महिलाओं की सीमित आज़ादी के हिमायती थे। दूसरी तरफ़ उनमें पर्याप्त सामाजिक जागरूकता भी थी। उन्होंने काशी के पंडो की धूर्तता पर 'गुरु महंत' शीर्षक से लेख लिखकर उन पर व्यंग्य किया है। उन्होंने विधवा विवाह का समर्थन किया और इसी से संदर्भित एक लेख 'भ्रूण हत्या' लिखा जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि बड़े-बड़े ऋषि मुनि जिस वेग को न रोक सके उस वेग को आप इस काल की महिलाओं से रुकवाना चाहते हैं ! उन्होंने हिन्दू शास्त्रों का संदर्भ देकर विधवा विवाह को धर्म सम्मत सिद्ध किया है। भारतेन्दु ने काशी में एक स्कूल खोला जिसमें पहले वे और उनके भाई पढ़ाते थे, बाद में अध्यापकों की नियुक्त कर दी। 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेंदु ने आधुनिकता के अंधानुकरण पर व्यंग्य किया है।

भारतेन्दु उभरते हुए मध्यवर्ग के नेता थे। उनका विचार था कि मध्यवर्ग एक जुट होकर अपनी ज़रूरतों के लिए आवाज़ उठाए तो निश्चय ही यह अंग्रेज सरकार सुनेगी। 'पब्लिक ओपिनियन' में भारतेन्दु ने स्पष्ट बताया है कि जनता की माँग पर ध्यान न देने से कितनी बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ हुई हैं। भारतेन्दु की हिन्दी पक्षधरता को लोग हिन्दू पक्षधरता समझते हैं जबकि भारतेन्दु ने पाँच पैग़म्बरों की जीवनी भी लिखी है। उनके कई लेखों का विषय हिदू-मुस्लिम आपसी सौहार्द रहा है। एक लेख 'अपनै काटे अंग' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि धर्मों के खंडन का मार्ग अपनाना अपने ही अंग को काटने जैसा होगा।

मराठी नवजागरण में पेशवाओं का स्वाभिमान प्रमुखता से ग्रहण किया गया और वहाँ राष्ट्रीयता प्रमुखता से हावी होने लगी। पहले महाराष्ट्र उदारवादियों का गढ़ था जिसमें फ़िरोज़शाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले थे। बाद में बालगंगाधर तिलक ने अंग्रेजों की नीतियों का विरोध किया जिससे लोगों में असंतोष तो जगा दिया पर उसे शक्ति के रूप में बदलने के लिए संघर्षरत ही रहे। बँगाल विभाजन से उग्र राष्ट्रीयता को बल मिला। अब जनता के बीच उदारवादियों की लोकप्रियता छीजती जा रही थी।

तिलक ने अंग्रेज सरकार और उसकी नीतियों का विरोध पत्रिका के माध्यम से किया जिससे भारत में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ तीव्र असंतोष का दौर शुरू हुआ। विभिन्न राज्यों के उग्र राष्ट्रीयता वाले लोग एक साथ आए और उसे नाम दिया गया गरम दल। गरम दल के विरोध के चलते अब काँग्रेस के अधिवेशन के समय न यूनियन जैक फहराया जाता और न ही ब्रिटिश राष्ट्रीय गान होता था।

'देश की बात' सखाराम गणेश देउस्कर की किताब में भी अंग्रेजों की अनीति और लूट खसोट का पर्दाफ़ाश किया गया है। इससे भारत के असंतोष को वैचारिक आधार मिला। लेखक ने बताया है कि भारतीय व्यापार वैज्ञानिक तकनीक के न प्रयोग करने से नहीं बर्बाद हुआ, बर्बाद अंग्रेजों की नीति से हुआ। जिन देशों में अंग्रेज शासन नहीं कर रहे हैं क्या वहाँ के व्यापारी उन्नति नहीं कर रहे हैं ? शासन की ज़िम्मेदारी है कि वह विश्व में बन रहे नए-नए उपकरण को अपने व्यापारियों को उपलब्ध करवाए। 'देश की बात में' भारत में पड़ रहे अकाल पर विचार करते हुए लेखक ने बताया है कि यूरोप में बीस इंच से कम बारिश होने पर वहाँ अकाल पड़ता है जबकि भारत में हर वर्ष पचास इंच से अधिक वर्षा होती है फिर भी यहाँ सूखा पड़ रहा है। कारण हमारे यहाँ वर्षा के जल के उचित प्रबंधन का अभाव है। भारत में अकाल से मरने वालों की संख्या बहुत अधिक है, 1901 की जनगणना में भारत की जनसंख्या पिछले दस वर्षों से कम हो गयी। ऐसा दुनियाँ के इतिहास में पहली बार हुआ।

‘देश की बात’ में यह भी बताया गया है कि अंग्रेजों ने 1857 की क्रांति को दबाने में हुए खर्च भी भारत से वसूल किए जबकि ब्रिटिश हुकुम के अंतर्गत आने वाले ‘ट्रांसवाल’ ने अंग्रेज सरकार के ख़िलाफ़ सशस्त्र विद्रोह किया। अंग्रेजों ने इन्हें स्वतंत्र भी किया और युद्ध में हुए खर्च 450 करोड़ के भार को भी उठाया। अंग्रेज भारत में अपने 150 वर्ष के शासन में न शिक्षा का स्तर ठीक कर पाए न किसानों की स्थिति ही। किसी भी सभ्य देश के लिए यह शर्मिंदगी का विषय है कि उसके 150 वर्ष के शासन में 88 प्रतिशत लोग निरक्षर हों।

‘देश की बात’ किताब में भारत को भाषाई आधार पर एक न मानने वालों को लेखक ने बताया है कि एक देश में कई भाषाओं का होना आम बात है, उदाहरण के लिए स्विट्जरलैंड में तीन भाषाएँ हैं। फ्रांस में भी भाषागत अलगाव है, इटली और जर्मनी में भी अलगाव है, तो भारत की एकता पर इतनी अटकलें क्यों ?

अंग्रजों द्वारा हिन्दू मुस्लिम एकता को तोड़ने के लिए इतिहास की किताबों में बताया गया है कि भारत में मुस्लिम धर्म तलवार के बल पर बढ़ा। अंग्रेजों की कूटनीति से तत्कालीन विचारक खूब परिचित थे। सखाराम गणेश देउस्कर ने उनके द्वारा दिए हुए तर्कों को नकारते हुए कहा कि फिर चीन और अफ्रीका में यह धर्म कैसे विकसित हुआ ? वहाँ तो मुसलमानों ने शासन भी नहीं किया है ! अंग्रेज सरकार के खर्च पर विचार करते हुए लेखक ने बताया है कि अंग्रेज भारतीय पैसे का एक बड़ा हिस्सा सेना के रख-रखाव में खर्च कर रहे हैं क्योंकि इस सेना का उपयोग अंग्रेज अपने अन्य उपनिवेशों की रक्षा के लिए करते हैं, जबकि भारतीय भूखे मर रहे हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ‘सरस्वती’ पत्रिका में एशियाई देशों की उन्नति की प्रशंसा करते हैं और अंग्रेजों की क्रूरता का प्रचार भी। इन्होंने अर्थशास्त्र संबधी किताब ‘संपत्तिशास्त्र’ लिखा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी का सबसे लोकप्रिय और जनग्राह्य उनका संपादक व्यक्तित्व था। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में स्त्री सम्मान, अंधविश्वासों के खंडन, किसानों की समस्या

जैसे विषयों पर प्रमुखता से लेख का प्रकाशित किये । इस तरह उन्होंने समसामयिक, राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर लेख प्रकाशित कर हिन्दी क्षेत्र को आधुनिकता या यों कहें कि नवजागरण से जोड़ा है।

छायावादी कविताओं में नवजागरण की अभिव्यक्ति कुछ सूक्ष्म स्तरों पर घटित हुई। छायावाद की प्रकृति प्रेम पर, लोगों ने प्रश्न किया है कि जब पूरे भारत में इतनी बड़ी क्रांति हो रही थी तो ये कवि प्रकृति प्रेम की कविता कर रहे थे। डॉ. नामवर सिंह ने रामचंद्र शुक्ल के हवाले से बताया है कि देश प्रेम का आरंभ प्रकृति प्रेम से ही होता है।

जयशंकर प्रसाद की कविताएँ बांग्ला नवजागरण से प्रभावित हैं। प्रसाद के काव्य 'प्रेम पथिक' में प्रेम और 'महाराणा का महत्त्व' में स्त्री सम्मान पर विचार किया गया है। 'आँसू' यद्यपि स्मृति काव्य है और इसमें प्रसाद ने अपने हृदय के भावों का कारुणिक गान किया है, पर उसमें भी वेदना को सुख और दु:ख के ऊपर की अनुभूति मानते हुए उसे मानव जीवन के लिए कल्याणकारी बताया गया है। 'कामायनी' में देवताओं की अराजक जीवन शैली से पूरी श्रृष्टि के विनाश और उस विनाश के बाद आधुनिक मनुष्य के चित्त के निर्माण और विकास की प्रक्रिया को चित्रित किया गया है। सूक्ष्म स्तर पर यह काव्य राष्ट्रीय आन्दोलन के सहयोगी माध्यम के रूप में सामने आता है। श्रद्धा द्वारा मनु को शक्ति के बिखरे हुए पुंजों को एकत्र करने व उनकी सहायता से समस्त मानवता का कल्याण करने का उपदेश दूसरे स्तर पर विदेशी शासन के विरुद्ध देशवासियों को खड़ा करने का भी उपदेश था। प्रसाद जी के नाटकों में राष्ट्रीय नायकों के प्रति विशेष लगाव है। उनके प्रसिद्ध नाटक 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' हैं। इन नाटकों में देश प्रेम, त्याग और संघर्ष का गुणगान किया गया है।

प्रसाद के नाटकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनके नाटक रंगमंच के योग्य नहीं हैं। गिरीश रस्तोगी बताती हैं कि जब हिन्दी रंगमंच का विकास नहीं हुआ था तब इनके

नाटक पारसी रंगमंच के अनुकूल नहीं थे। अब जबकि हिन्दी रंगमंच का विकास हो चुका है तो इन नाटकों का पुनर्मूल्यांकन हुआ है। प्रसाद के नाटकों का पुनर्मूल्यांकन करने की प्रक्रिया में गोविंद चातक और सिद्धनाथ कुमार की अहम भूमिका है।

निराला के साहित्य में दलित-पिछड़ों को विशेष महत्त्व दिया गया है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' में मिथकों का आधुनिक पाठ प्रस्तुत किया गया है जो तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता में स्थिरता की खोज करता है। कामायनी की ही तरह निराला के ये दोनों काव्य सूक्ष्म स्तर पर राष्ट्रीय आन्दोलन के सहयोगी प्रयास के रूप में सामने आते हैं। इनमें भी भारतीय नवजागरण की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है।

पंत की कविताओं में मानवतावाद और अरविंद दर्शन का प्रभाव प्रमुख रूप से आया है। पंत प्रकृति के कुशल चितेरे कवि हैं और इस बात का जिक्र किया जा चुका है कि प्रकृति प्रेम प्रकारांतर से देश प्रेम ही है। महादेवी वर्मा के यहाँ मानवीय समस्याओं पर विशेष बल दिया गया है। इनकी कलम सामाजिक कुरीतियों पर खूब चली। प्रमुखता से इनकी कविताओं का विषय प्रिय मिलन और विक्षोभ रहा। गद्य में इन्होंने प्रखरता से स्त्रियों के पक्ष में लेखन किया। ‘श्रृंखला की कड़ियाँ’ में आधुनिक स्त्री विमर्श की अनुगूँज है।

गद्य के क्षेत्र में छायावाद के समकालीन कथाकार प्रेमचंद अपने कथा साहित्य के माध्यम से यह चिंता जाहिर कर रहे थे कि स्वतंत्रता का मतलब कहीं गोरे अंग्रेजों की जगह काले अंग्रेजों में सत्ता हस्तांतरण तो नहीं होगी ! प्रेमचंद तब जमींदारी उन्मूलन की बात करते हैं जब यह माना जाता था कि खेती पूँजी के अभाव में हो ही नहीं सकती और यदि जमींदार किसानों की मदद नहीं करेगा तो किसान पूँजी कहाँ से लाएंगे ! जाति विभेद को लेकर भी प्रेमचंद बाबासाहब के साथ खड़े थे। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में दलितों की कारुणिक कथा कही है। ‘शिक्षित समाज स्वार्थी रहा है’ प्रेमचंद ने अपने एक लेख ‘महाजनी सभ्यता’ में दिखाया है और बताया है कि महाजनी सभ्यता जागीरदारी और सामंतवादी सभ्यता से भी

अधिक ख़तरनाक है क्योंकि इसमें सिर्फ़ पैसा बोलता है। प्रेमचंद इसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करने पर बल देते हैं।

छायावाद के समय ही सर्वमान्य आलोचक आ. रामचंद्र शुक्ल थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास विधेयवादी विधि से लिखा है। उनके द्वारा स्थापित निष्कर्ष थोड़े बहुत फेर बदल से आज भी मान्य हैं। रामचंद्र शुक्ल का साहित्य और विचारधारा लोकमंगल की भावना से प्रेरित है। उन्होंने 'जाति व्यवस्था' पर लेख लिखा और जाति-व्यवस्था को अमानवीय विभाजन कहा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कविता में रहस्यवाद को कोई स्थान नहीं देना चाहते क्योंकि पश्चिमी विचारकों ने हिन्दी साहित्य की रहस्यवादी रचनाओं को 'क्रिस्टोमैथी' कहकर बखान किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को डर है कि कहीं विश्व में भारतीय साहित्य को मात्र आध्यामिकता का पर्याय न मान लिया जाए। उनके अनुसार भारतीय साहित्य की ज़रूरत आधुनिक समस्याएँ हैं न कि आध्यात्म। आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य, इतिहास और समीक्षा के साथ ही साथ अपने समय की विडंबनाओं पर भी लिखते हैं। 'व्हाट हैव इंडिया टू डू' में अंग्रेज कर्मचारियों के अत्याचार और भारतीय कर्मचारियों की चापलूसी पर उन्होंने व्यंग्य किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय की सबसे विवादित किताब 'रिड्ल ऑफ दी यूनिवर्स' का अनुवाद 'विश्व प्रपंच' नाम से 1921 में किया। इसमें भौतिक परंपरा का विस्तार से उल्लेख है। यह किताब डार्विन के विकासवाद के समर्थन में लिखी गयी थी। इस किताब का ईसाई जगत में खूब विरोध हुआ। बहुत बाद में इस किताब का दूसरा संस्करण रामविलास शर्मा ने संपादित किया।

नवजागरणयुगीन विचारक और लेखक माधवराव सप्रे ने भारतीय इतिहास के साथ ही यूरोप के आधुनिक इतिहास का अध्ययन किया था। 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें' निबंध में उन्होंने आधुनिक यूरोप के इतिहास का बढ़िया विश्लेषण किया है।

माधवराव सप्रे ने अंग्रेजों की बहिष्कार संबंधी नीति को अपने विभिन्न निबंधों में स्पष्ट किया है और बताया है कि वे क्यूँ किसी का बहिष्कार करते थे और फिर उसके विकल्प के रूप में दूसरे को कैसे तैयार करते थे। माधवराव सप्रे अंग्रेजों के बहिष्कार से पीड़ित मराठी ब्राह्मणों का उदाहरण देते हैं। उनके अनुसार अंग्रेज पहले किसी दूसरी जाति के लोगों को नौकरी देते हैं, जब दूसरी जाति में योग्य आदमी नहीं मिलता तब मराठी ब्राह्मणों को नौकरी देते थे।

माधवराव सप्रे इतिहास विज्ञ तो थे ही साथ ही अपने समय में हो रहे बदलावों को भी अच्छी तरह समझ रहे थे। उन्होंने अपने समय के जागरण को 'पुनरुज्जीवन' कहा। इस 'पुनरुज्जीवन' में लोग अपने खोए हुए स्वाभिमान को जगा रहे थे। माधवराव सप्रे ने भारतीयों के आपसी विभेद और जातिभेद को देश की अवनति का प्रमुख कारण माना है। इस आपसी विभेद को और स्पष्ट करने के लिए उन्होंने रोम की जनता की एकता का उदाहरण दिया कि कैसे रोम की जनता भी दो भागों में बंटी थी- एक श्रेष्ठ दूसरी कनिष्ठ। कनिष्ठ जातियों के लोगों को किसी प्रकार की न स्वतंत्रता थी, न कोई अधिकार। जब विदेशी आक्रांता रोम पर हमला करते हैं तब कनिष्ठ जाति के लोग युद्ध में यह कहते हुए साथ देने से इनकार कर देतें हैं कि जब तक हमें आप हमारे अधिकार और स्वतंत्रता न देंगे हम तब तक युद्ध में साथ न देंगे। कालान्तर में वहाँ श्रेष्ठ जाति के लोगों ने सहर्ष कनिष्ठ जाति के लोगों को अपनाया और युद्ध में विजयी हुए।

माधवराव सप्रे ने शिक्षा को सार्वभौमिक बताया है। उनके अनुसार उस पर किसी एक जाति का अधिकार होने से बहुसंख्यक आबादी में स्वतंत्र विचार शक्ति नष्ट हो जाती है। उन्होंने अंग्रेजों की शिक्षा पद्धति से भी लाभ उठाने को कहा है।

माधवराव सप्रे ने फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद उपजी स्थिति को काबू में करने के लिए तत्कालीन फ्रांस सरकार द्वारा कठोर दंड को उचित बताया है। वे मेजिनी के देशप्रेमी व्यक्तित्व और स्वतंत्रता-आकांक्षी महत्वाकांक्षा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

माधवराव सप्रे एक सामाजिक संन्यासी थे। वे 'राज-भक्ति की विलायती परिभाषा' निबंध में यह बताते हैं कि एक अंग्रेज विद्वान ने यहाँ के राजे महाराजे और यहूदियों को विदेशी कहा है। सप्रे जी ने यहूदियों को विदेशी कहे जाने पर आपत्ति दर्ज करते हुए कहा कि क्या लेखक ने फिरोजशाह मेहता और दादा भाई नौरोजी का नाम नहीं सुना था। अब तक भारतीय काँग्रेस को सबसे अधिक अध्यक्ष यहूदी जाति ने ही दिया है।

माधवराव सप्रे स्त्री-शिक्षा के हिमायती थे। किन्तु उनकी यह धारणा विवादस्पद है कि कामकाजी स्त्री अच्छा नागरिक नहीं बना सकेगी। वे स्त्रियों को उतनी ही शिक्षा देने के पक्ष में हैं, जितने में वे बच्चों को पढ़ा सकें। उन्होंने विवाह की अनियमितता और उसकी मर्यादा को नियमित करने पर विचार किया है। उन्होंने बाल-विवाह को भारत की ग़रीबी और उसके पिछड़ेपन के प्रमुख कारणों में एक बताया है।

माधवराव सप्रे कृषि व्यवस्था की बदहाल स्थिति के पीछे किसानों का अशिक्षित होना प्रमुख कारण मानते हैं। उनके अनुसार नार्वे भी कभी भारत की तरह कृषि में बहुत पिछड़ा था। वहाँ की सरकार ने अपने यहाँ के किसानों की शिक्षा अनिवार्य कर दी जिससे जल्दी ही नार्वे आत्मनिर्भर बन सका। यूरोप के कामगारों के लिए उचित शिक्षा व्यवस्था होने से वहाँ के लोग उद्यमी हुए।

माधवराव सप्रे ने राष्ट्रीयता की हानि का प्रमुख कारण मातृभाषा में शिक्षा का अभाव बताया है। अंग्रेज सरकार के समर्थकों द्वारा फैलाए गए भ्रम 'भारत एक राष्ट्र नहीं है' का खंडन माधवराव सप्रे ने किया है। उन्होंने बताया कि जब भारतीय एक होकर उन्नति के मार्ग पर बढ़ रहा होता है तभी कोई न कोई भारतीयों की राष्ट्रीयता पर सवाल खड़ा करता है।

माधवराव सप्रे अंग्रेजों द्वारा लिखे गए भारतीय इतिहास में दर्ज निष्कर्ष को पूर्ण सत्य नहीं मानते हैं। उन्होंने लोगों को अपने क्षेत्र का इतिहास लिखने और इतिहास लेखन की विधियाँ बताई हैं।

माधवराव सप्रे ने कुछ निबंध विशुद्ध समाजशास्त्री की तरह लिखे हैं। 'हमारे सामाजिक ह्रास के कारण', निबंध में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समाज का तुलनात्मक अध्ययन किया है। माधवराव सप्रे का स्पष्ट मानना है कि सफल पिता के पुत्रों की मानसिक स्थिति कमजोर होती है। यूरोपीय समाज में बड़ी उम्र में शादी करने का चलन है, जहाँ संतान उत्पत्ति को कम महत्त्व दिया जाता है। यूरोप में जो परिवार कभी भूखा नंगा था, बाद में सत्ता में आ जाता है। उन्होंने यूरोप के समाज की वृद्धि को केले के पेड़ के समान बताया है। केला फल देता है किन्तु उसके बीज से केले का पौधा नहीं उगता। उन्होंने सामाजिक ह्रास के निम्न कारण बताए हैं- शहरों के विकास, शहरों में निवास तथा शारीरिक श्रम को महत्त्व न देना और एक पीढ़ी के बाद वही पैतृक कार्य करना।

माधवराव सप्रे ने दो और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं- 'आत्मा का अमरत्त्व' और 'मन का मापन'। इनमें छात्रों के पढ़ने और याद रखने के तरीकों पर मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।

माधवराव सप्रे अपने समय के एक जुझारू राजनीतिक कार्यकर्ता थे। उन्होंने भारतीय या यों कहें मध्य प्रदेश की राजनीति को गति प्रदान की। उनकी राजनीतिक पक्षधरता हम उनके शिष्य और सहयोगियों में देख सकते हैं, जिनमें माखनलाल चतुर्वेदी, सेठ गोविंद दास और पं. रविशंकर शुक्ल आदि थे।

माधवराव सप्रे की किताब 'स्वदेशी आंदोलन और बायकॉट' को अंग्रेजों ने प्रतिबंधित कर दिया था, जिसमें उन्होंने बँगाल विभाजन और भारतीय राजनीतिक एकता स्थापित करने पर बल दिया है। उन्होंने 'बायकॉट' को राजनीतिक ज़रूरत बताया था।

कारण यह कि अंग्रेज सरकार भारत को एक बड़ा कारखाना मानती है और यहाँ की जनता को मज़दूर।

माधवराव सप्रे के लेखन का उद्देश्य भारतीयों को समय रहते जगाकर स्वतंत्रता के लिए आगे बढ़ाना था। उनके लेखों के विषय भले ही राजनीतिक हलचलों से प्रेरित हैं, पर उनके निबंध अख़बारी नहीं हैं। उनके निबंध विचार प्रधान हैं और इतिहास सिद्ध विचारों को प्रतिष्ठित करते हैं। उन्होंने अपनी राजनीतिक समझ यूरोप के आधुनिक इतिहास से विकसित की है। 'यूरोप के इतिहास से सीखने योग्य बातें' में उन्होंने यूरोप, अमेरिका के इतिहास का विश्लेषण कर राजनीतिक दशा और दिशा पर विचार किया है।

माधवराव सप्रे ने तत्कालीन भारत की दुर्दशा के लिए अंग्रेजों को ज़िम्मेदार माना है। उन्होंने अर्थशास्त्र संबंधी एक पुस्तक भी लिखी, पर उन्होंने उसे प्रकाशित नहीं करवाया। वे मानते थे कि जो भी अर्थशास्त्र पर किताब पढ़ना चाहेगा वह निश्चय ही बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों की किताबें पढ़ेगा। वे अधिक लिखने में नहीं अपनी बातों को अधिक लोगों तक पहुँचाने में विश्वास रखते थे। इसलिए वे अपने समय की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निबंध लिखते रहे। उन्होंने अपने समय के विदेशी व्यापार तथा नीति नियामकों की नीतियों पर निबंध लिखकर विश्व में हो रहे दो प्रकार के व्यापारों की नीति को स्पष्ट किया। इनमें पहली अप्रतिबद्ध व्यापार नीति है, जिसमें बाहर से आने वाले सामान पर कोई भी कर नहीं लगाया जाता और दूसरी संरक्षित व्यापार नीति है, इस नीति में बाहर से आने वाले सामान पर कर लिया जाता है। राष्ट्र अपने में इस नीति में ढील देने और कड़ाई करने में स्वतंत्र है जिसे 'तरफ़दारी कर' कहा जाता है। अंग्रेज भारत में अप्रतिबद्ध व्यापार नीति लागू किए हुए थे जिससे उन्हें घाटा हो रहा था। इसलिए चेम्बरलेन भारत के अप्रतिबद्ध व्यापार नीति को त्यागने के पक्ष में थे। माधवराव सप्रे ने इसका विरोध किया था और इसे भारत के व्यापार के लिए अहितकर बताया था।

माधवराव सप्रे का स्पष्ट मत है कि स्वदेशी वस्तु के उपयोग और विदेशी वस्तुओं के त्याग के बिना भारतीयों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता। उनके साहित्य में अपनी परंपरा के प्रति विशेष लगाव दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने देश के ही नहीं, विश्व के देशों की परंपरा को स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि अपने पौराणिक ग्रंथों को झूठ भी मान लिया जाय तो भी विश्व इतिहास में कहीं भी किसी भी जाति को हमेशा गुलाम नहीं बनाया जा सका है। माधवराव सप्रे के साहित्य में परंपरा पर विचार करते हुए यह पाया जा सकता है कि किसी भी देश की वैचारिकी को उसके साहित्य से समझा जा सकता है। गुरु शिष्य की परंपरा का विश्लेषण करत हुए उन्होंने बताया कि परतंत्र देश को स्वतंत्र कराने में वहाँ के छात्र और अध्यापकों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

माधवराव सप्रे ने अपने काव्यालोचन में काव्य विषय पर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने श्रीधर पाठक की कविताओं की समीक्षा कर लोगों को कविता संबंधी विषयों के विविध आयामों पर कविता लिखने के लिए प्रोत्साहित किया है। माधवराव सप्रे ने परंपरागत काव्य विषयों पर रची जाने वाली कविता का विरोध किया है। जो कविता अपने समय और समाज से नहीं जुड़ती उसे उन्होंने बुद्धि विलास कहा है। परंपरागत विषयों पर कविता करने वाले कवियों की विद्वत्ता पर उन्हें संदेह था।

माधवराव सप्रे किसी किताब की लोकप्रियता का आधार मात्र अधिक संस्करणों में उसके छपने को नहीं मानते। वे कहते हैं कि भारत में सबसे अधिक संस्करण 'दान लीला', 'हनुमान चालीसा' और 'लौला मजनू' की किताबों के हैं, पर इसे हम लोकप्रिय किताब नहीं कह सकते हैं।

माधवराव सप्रे आधुनिक समस्याओं पर लिखी गयी पुस्तकों की प्रशंसा करते हैं। वे परंपरागत जासूसी उपन्यास लिख रहे लोगों की बुद्धि से हैरान होते हैं। वे ऐसी किसी भी पुस्तक, जो भारतीय संस्कृति की झूठी प्रशंसा करती है; का विरोध करते हैं। उनका मानना है

कि ऐसी पुस्तकों से झूठे अभिमान के सिवा कोई लाभ नहीं होगा। वे हिन्दी में व्याकरणिक पुस्तकों की कमी से परिचित थे। जब कामता प्रसाद गुरु की पुस्तक 'भाषा वाक्य पृथक्करण' आयी तो उन्होंने उसकी प्रशंसा की और 'मध्य प्रदेश तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध' के शिक्षा विभाग से इसे पाठ्य-पुस्तकों में शामिल करने का अनुरोध भी किया।

माधवराव सप्रे ने उस विषय पर नहीं लिखा जिसका उन्हें समुचित ज्ञान न था । संपादक के रूप में उन्हें एक दवा का विज्ञापन लिखना था। उन्होंने दवा का तो परिचय दिया पर उसके महत्त्व के बारे में कुछ भी लिखने से इनकार कर दिया।

माधवराव सप्रे भारतीय भाषाओं में हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में थे। वे अंग्रेजी को मात्र विदेशी भाषा तक सीमित मानते थे। अंग्रेजी के बढ़ रहे प्रचलन से वे दुःखी थे। मातृ-भाषा में शिक्षा देने के लिए उपयुक्त पुस्तकों के अभाव का ढोंग रचनेवाली सरकार से वे कहते हैं कि एक बार भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने की पहल सरकार करे तो फिर देखना देशी-विदेशी विद्वान सब जल्दी ही मातृभाषा में पुस्तक उपलब्ध करा देंगे।

भारत की राष्ट्रीयता पर प्रश्न चिन्ह लगाने वालों को जवाब देते हुए उन्होंने बताया कि भारत का वर्तमान इतिहास अपूर्ण है। सप्रे जी 'अछूतों' की कार्यशक्ति से परिचित थे, उनका स्पष्ट मानना था कि बिना 'अछूतों' को मुख्यधारा में जोड़े देश का विकास होना असंभव है।

माधवराव सप्रे ने स्वस्थ नागरिक बनने के लिए शारिरिक श्रम, आत्मबल, वाकपटुता और निंदा न करने जैसे मानवीय व्यवहारों को ज़रूरी माना है और इसके महत्त्व का विश्लेषण किया है। इस ज्ञान के अभाव में कई बड़े-बड़े विद्वानों ने ग़रीबी में दिन व्यतीत किये हैं। इसका बढ़िया उदाहरण एडम स्मिथ हैं, जिन्होंने अपने अर्थशास्त्र के ज्ञान से पूरी दुनियाँ को एक नया विषय दिया और वही अपने जीवन के अंतिम दिनों में आर्थिक तंगी से जूझते रहे।

माधवराव सप्रे किसी काम को करने में लगे श्रम से मिली खुशी को असली ख़ुशी मानते हैं। यदि आ. रामचंद्र शुक्ल के निबंध मनोविकार के श्रेष्ठ निबंध हैं तो माधवराव सप्रे के निबंध मानवीय व्यवहार के कुशल पथ प्रदर्शक हैं।

माधवराव सप्रे ने अपने कथा साहित्य में अपने से पूर्व प्रचलित कहानी शैलियों- संस्कृत कथा साहित्य और उर्दू में लोकप्रिय दास्तान शैली और बांग्ला की कहानियों के प्रभाव में कहानियाँ लिखी हैं। 'सुभाषित रत्न' की कहानियाँ संस्कृत कथा साहित्य से प्रभावित हैं। इनका उद्देश्य भारतीय जनता को जगाना और नैतिक बनाना है। 'एक पथिक का स्वप्न' उर्दू की दास्तान शैली में लिखी गयी कहानी है जिसमें महमूद ग़जनवी के पिता सुबुक्तगीन के जीवन संघर्ष को कथावस्तु बनाया गया है। 'सम्मान किसे कहते हैं ?' कहानी की कथावस्तु देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत है। इस रचना में आए नागरिकों में स्वाधीनता की चेतना प्रखर है। ये विदेशी राष्ट्र के खुले ख़जाने के बदले अपने यहाँ का पत्थर भी न देने की बात करते हैं। 'आजम' कहानी में अपने अस्तित्व के लिए दूसरों से संघर्ष को सही और उचित बताया गया है। 'एक टोकरी भर मिट्टी' कहानी जमींदार की मनमानी और एक स्त्री के संघर्ष की कहानी है। निराश बूढ़ी स्त्री को बच्ची के ज़िद से संबल मिला जिससे उसको अपनी झोपड़ी से एक टोकरी मिट्टी लाने की हिम्मत हुई और मिट्टी से भरी टोकरी को जमींदार से ही उठवाने की ज़िद ने स्त्री को उसका घर वापस दिलाया।

माधवराव सप्रे ने जिन प्रमुख ग्रंथों का अनुवाद किया वे मराठी नवजागरण के वैचारिक आधार ग्रन्थ थे। ऐसे ही एक ग्रंथ 'दासबोध' का उन्होंने अनुवाद किया जो महाराज शिवाजी के समय की पुस्तक है। इसमें धर्म, राजनीति और नीतिगत विषयों पर विचार किया गया है और संतो को ज़िम्मेदारी दी गयी है कि वे अपने आस-पास के लोगों को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करें। 'दासबोध' में बताया गया है कि यदि समाज में दुर्गुणों का बोलबाला होता है तो उसका ज़िम्मेदार संत समाज ही होगा।

सप्रे जी द्वारा अनूदित बालगंगाधर तिलक की पुस्तक 'गीता रहस्य' में कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। यह कर्मयोग पतंजलि के योग से भिन्न है। 'गीता रहस्य' में आए कर्मयोग का अर्थ बिना विघ्न के काम में लगे रहना है। 'गीता रहस्य' में बताया गया है कि गृहस्थ आश्रम और संन्यास दोनों में मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है। इसमें एक बात प्रमुखता से यह आयी है कि पाप-पुण्य का संबंध कर्म से नहीं बल्कि बुद्धि से है।

माधवराव सप्रे के पौराणिक ज्ञान का पता 'महाभारत मीमांसा' के अनुवाद और विश्लेषण से चलता है। उन्होंने इस ग्रंथ का अनुवाद ही नहीं किया बल्कि उसके समय और प्रमाणिकता पर विचार भी किया।

हिन्दी की आरम्भिक पत्रकारिता का उद्देश्य सरकार की नीतियों को स्पष्ट करना और विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर आमजन की आवाज़ बनना था। हिन्दी पत्रों का उद्भव महानगरों में हुआ तो उसका विकास कस्बों में। आरम्भिक दौर की हिन्दी पत्रकारिता स्वत्त्व की पहचान पर जोर दे रही थी तो कुछ ऐसी भी पत्रिकाएँ थीं जो मुखर होकर अपने अधिकारों की माँग और सरकार की आलोचना कर रही थीं। उनमें श्यामसुंदर सेन का 'समाचार सुधावर्षण' और बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' उल्लेखनीय है।

माधवराव सप्रे का समय इतिहास में 'तिलक युग' के नाम से जाना जाता है। उस समय भारत के लगभग सभी बुद्धिजीवी पत्रकारिता के माध्यम से भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना के विकास का सफल प्रयास कर रहे थे। माधवराव सप्रे अपने समय के राष्ट्रीय चेतना के अग्रणी पत्रकार थे। उन्होंने 1900 में 'छत्तीसगढ़ मित्र' का संपादन किया। इसमें उन्होंने आधुनिक विषयों पर लिखी जा रही रचनाओं को प्रोत्साहन दिया और स्त्री अधिकार, 'अछूत' अधिकार आदि विषयों पर निबंध प्रकाशित किये। माधवराव सप्रे द्वारा दूसरा महत्त्वपूर्ण संपादन 'हिंदी केसरी' का था, जिसमें उनका उद्देश्य बालगंगाधर तिलक द्वारा सम्पादित 'केसरी' के मंतव्यों को अन्य भाषाओं तक पहुँचाना था। इसे एक अच्छे राष्ट्र और

सजग नागरिक बनाने के बेहतरीन प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। माधवराव सप्रे कई समकालीन पत्रिकाओं से जुड़े रहे और उनमें उनके निबंध भी प्रकाशित भी होते रहे हैं। इनमें सरस्वती, हितवार्ता, प्रताप, मर्यादा, ज्ञानशक्ति आदि पत्रिकाएँ प्रमुख थीं।

माधवराव सप्रे सन् 1908 से मृत्यु पर्यन्त किसी भी पत्रिका के संपादक नहीं बने पर उन्होंने कई संस्थाओं में पथ प्रदर्शक और प्रेरक के रूप में काम किया। वे स्त्री शिक्षा व उनके अधिकार तथा 'अछूत' अधिकार व सम्मान के पक्षधर थे। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा लिखित भारतीय इतिहास को अपूर्ण माना और साथ ही मुसलमानों के शासन में भारतीय अर्थव्यवस्था को ठीक बताया, क्योंकि उस समय भारत का पैसा भारत में रहता था।

माधवराव सप्रे राष्ट्रीयता के पक्षधर थे। राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ लिखी जा रही अंग्रेजी की किताबों का भी प्रतिवाद वे हिन्दी में निबंध लिखकर करते थे। उनके लिखने का उद्देश्य यह होता था कि लोग उस किताब द्वारा फैलाए जा रहे भ्रम को समझ सकें।

माधवराव सप्रे ने अपने निबंध 'भारत की एक-राष्ट्रीयता' में 'हिन्दू राष्ट्र' की परिकल्पना करते हुए अन्य धर्मों के लोगों से भी 'हिन्दू राष्ट्र' बनाने में सहयोग की बात की है। उन्होंने 'विभिन्न' जातियों में विभक्त हिदुओं को राष्ट्र रूपी शरीर का विभिन्न अंग बताया है। उनकी यह परिकल्पना समावेशी होने के बावजूद विवादास्पद है।

माधवराव सप्रे का पूरा लेखन अपने समय और समाज में सकारात्मक ऊर्जा का संचार करने वाला था। उनके लेखन का उद्देश्य अंग्रेजों की नीतियों का विश्लेषण कर लोगों को जगाना था। सप्रे जी अंग्रेज इतिहासकारों के हवाले से यह सिद्ध करवाते हैं कि कोई भी शक्तिशाली शासक हमेशा पराजित जाति पर शासन नहीं कर सकता।

## संदर्भ–ग्रन्थ सूची

### आधार ग्रन्थ सूची

1. अशोक सप्रे (सं.), 'पंडित माधवराव सप्रे-चयनिका' छत्तीसगढ़ राज्य हिन्दी अकादमी, रायपुर, प्रथम संस्करण, 2007
2. डॉ.अशोक सप्रे, परितोष चक्रवर्ती (सं.) 'छत्तीसगढ़ मित्र' (तीन भाग), कुशाभाऊ ठाकरे पत्रकारिता विश्वविद्यालय एवं जनसंचार विश्वविद्यालय, रायपुर, प्रथम संस्करण, 2008
3. देबी प्रसाद वर्मा (सं.), 'माधवराव सप्रे की कहानियाँ', हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1982
4. देवी प्रसाद वर्मा (सं.), 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचाएँ', ज्ञान गंगा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
5. नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय (सं.), 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन', नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, दूसरी आवृत्ति, 2011
6. विजय दत्त श्रीधर (सं.), 'माधवराव सप्रे रचना संचयन', साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण, 2017
7. शंकरप्रसाद श्रीवास्तव (सं.) 'सप्रे-स्मारक-संग्रह', मालवीय प्रसाद श्रीवास्तव साहित्यपीठ, रायपुर छत्तीसगढ़, प्रथम संस्करण, 2019

### सहायक- ग्रन्थ सूची

1. NCERT कक्षा 12 की पुस्तक 'भारतीय इतिहास के कुछ विषय-02, प्रकाशन 2006
2. अर्जुन तिवारी, 'हिन्दी पत्रकारिता का वृहद इतिहास', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997

3. असग़र वज़ाहत, 'कैसी आगी लगाई', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2007
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठवां संस्करण, 2012
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 'चिंतामणि', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चौदहवां संस्करण, 2018
6. ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'सदियों का संताप', गौतम बुद्ध सेंटर, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008
7. कर्मेंदु शिशिर (सं.), 'नवजागरण कालीन पत्रकारिता और सारसुधानिधि', अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008
8. कर्मेंदु शिशिर (सं.), 'नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला' 02, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूशटर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2012
9. के. दामोदरन, 'भारतीय चिंतन परंपरा', पीपुल्स पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण 1979
10. गंगा प्रसाद विमल (सं.), 'हिंदी की आरम्भिक कहानियाँ', राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012, दूसरी आवृत्ति, 2015
11. गणपतिचंद्र गुप्त, 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, चौदहवाँ संस्करण, 2015
12. गणपतिचंद्र गुप्त, 'साहित्यिक निबंध', लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, त्रयोदस संस्करण, 1996
13. गिरीश रस्तोगी, 'बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2018

14. गोपाल राय, 'हिंदी कहानी का इतिहास', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 2016

15.जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, 'हिंदी पत्रकारिता का इतिहास', प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2011

16. डॉ. नगेन्द्र (सं.) 'विश्व साहित्य शास्त्र', प्रकाशक किताबघर, नयी दिल्ली. प्रथम संस्करण, 1996

17. डॉ.नगेंद्र (सं.), 'हिंदी साहित्य का इतिहास', मयूर पेपरबैक्स नोएडा, छियालीसवां संस्करण, 2014

18. देवी प्रसाद वर्मा (सं.), 'माधवराव सप्रे और चुनी हुई रचनाएँ' ज्ञानगंगा प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998

19. धीरेंद्र वर्मा (सं.), 'हिंदी साहित्य' (तृतीय खंड), प्रकाशक भारतीय हिंदी परिषद प्रयाग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1969

20. नामवर सिंह, 'छायावाद', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, बीसवाँ संस्करण, 2016

21. निर्मल वर्मा, कमल किशोर गोयनका (सं.), 'प्रेमचंद रचना संचयन', साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, संशोधित संस्करण, 2010

22. नेमिचन्द्र जैन (सं.), 'मुक्तिबोध रचनावली', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980,1986 तीसरी आवृत्ति 2011

23. नामवर सिंह और मैनेजर पांडेय (सं.), 'माधवराव सप्रे प्रतिनिधि संकलन', नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2011

24. परमानन्द श्रीवास्तव (सं.), 'महादेवी'- लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, तृतीय संस्करण, 2008

25. परमानन्द श्रीवास्तव (सं.) , 'निराला की कविताएँ : मूल्यांकन और मूल्यांकन', नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1999

26. पी. एल. गौतम, 'आधुनिक भारत (1757-1947),' राजस्थान हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1998

27. पुरुषोत्तम अग्रवाल, 'अकथ कहानी प्रेम की' कबीर की कविता और उनका समय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण, 2016

28. बच्चन सिंह, 'आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2007

29. बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सातवाँ संस्करण 2017

30. भारतेन्दु हरिश्चंद्र – 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' (www.hindisamay.com/content/4725)

31. भूमिका नरेश चन्द्र चतुर्वेदी (सं.) 'चाँद फाँसी अंक', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति, 2014

32. महात्मा गांधी, 'हिन्द स्वराज', शिक्षा भारती, नई दिल्ली, संस्करण 2012

33. महावीर प्रसाद द्विवेदी, (सं.) मैनेजर पांडेय- 'संपत्ति शास्त्र', यश पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2009

34. माधवराव सप्रे (अनु.), 'गीता रहस्य', डायमंड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2012

35. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान, '1857 इतिहास कला तथा सहित्य', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007

36. मैनेजर पांडेय, 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2018

37. मैनेजर पाण्डेय, 'लोकगीतों और गीतों में 1857', राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015

38. मैनेजर पाण्डेय, 'शब्द और कर्म', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2017

39. मैनेजर पाण्डेय, 'आलोचना में सहमति और असहमति' वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2013

40. राजकुमार, 'हिंदी की साहित्यिक सांस्कृतिक और भारतीय आधुनिकता', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015

41. रामदरश मिश्र, 'हिंदी कहानी अंतरंग पहचान', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2007

42. रामविलास शर्मा, 'हिंदी जाति का साहित्य', राजपाल एंड संस, दिल्ली, दूसरा संस्करण 1992

43. रामविलास शर्मा, 'परंपरा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृत्ति 2016

44. रामविलास शर्मा, 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1986

45. रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, नौवीं आवृत्ति 2014

46. रामविलास शर्मा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पहली आवृत्ति, 2015

47. रामविलास शर्मा, ‘स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य’, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन, निदेशालय दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1992
48. रामस्वरूप चतुर्वेदी, ‘हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास’, लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहबाद, पंचम संस्करण, 1996
49. लईक अहमद, ‘आधुनिक विश्व का इतिहास (1453-1789)’, प्रयाग पुस्तक भवन प्रकाशन, इलाहबाद, संशोधित संस्करण 2006,
50. वसुधा डालमिया, ‘हिन्दू परंपराओ का राष्ट्रीयकरण : भारतेंदु हरिश्चंद्र और उन्नीसवीं सदी का बनारस’, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2016
51. विजयदत्त श्रीधर (सं.), ‘माधवराव सप्रे रचना-संचयन’, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017
52. विपिन चंद्र, ‘आधुनिक भारत’, प्रकाशक ओरियंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली, संस्करण 2016
53. विपिन चन्द्र, अनुवादक श्यामबिहारी राय –‘आधुनिक भारत प्रकाशक’ NCERT
54. संतोष कुमार शुक्ल, ‘पत्रकारिता के युग का निर्माता : माधवराव सप्रे’, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2010
55. सखाराम गणेश देउस्कर ‘देश की बात’ अनुवादक- बाबूराव विष्णु पराड़कर, सं. मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, चौथी आवृत्ति, 2011
56. स्वयं प्रकाश, ‘ईंधन’, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2004
57. स्मिता चतुर्वेदी (सं.), ‘हिंदी भाषा और साहित्येतिहास विवेचना’ इंदिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2002
58. श्रीकांत जोशी (सं.) ‘माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली’, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1998

59. श्री बाला शौरि रेड्डी 'तेलुगु साहित्य का इतिहास', राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 1972

**पत्र-पत्रिकाएँ-**

1. आलोचना : प्रधान संपादक नामवर सिंह, संपादक परमानंद श्रीवास्तव, जनवरी – मार्च 2001, भारतेंदु और भारत की उन्नत्ति
2. आलोचना : संपादक अरुण कमल, अप्रैल –जून 2007, इतालवी रिनेसांस में अतीत की खोज और मानवतावाद
3. आलोचना : संपादक अरुण कमल, अक्टूबर-दिसम्बर 2008, द्वितीय सेतु जागरण कियो'...आख्यान आकाशधर्मा गुरु रामानंद का'
4. आलोचना : संपादक अरुण कमल, अप्रैल-जून 2010, 1857 की क्रांति और हिंदी समाज
5. आलोचना : संपादक अरुण कमल, अप्रैल–जून 2010, 1857 : रस्मी अध्ययनों और कथनों से परे
6. आलोचना : संपादक अरुण कमल, जुलाई–सितम्बर 2013, छत्तीसगढ़ मित्र और हिंदी नवजागरण
7. पहल : संपादक ज्ञानरंजन, अंक 107, अप्रैल 2017, मार्क्सवाद : पूंजी वर्चस्व खुली बहस
8. बहुवचन : संपादक अशोक मिश्र अंक 40, जनवरी मार्च 2014, महावीर प्रसाद द्विवेदी का सम्पत्तिशास्त्र

9. वागर्थ : संपादक विजय बहादुर सिंह, दिसम्बर 2010, स्त्री सत्ता की पराजय और पुरुष सत्ता की विजय

10. वागर्थ : संपादक विजय बहादुर सिंह, दिसम्बर 2010, भारतीय नवजागरण की समस्याएँ

11. वागर्थ : संपादक एकांत श्रीवास्तव एवं कुसुम खेमानी, अगस्त 2013, हिंदी नवजागरण : प्रश्नाकुलाताएं और समस्याएँ

12. वागर्थ : संपादक शंभुनाथ, अगस्त 2019, पत्रकारिता, साक्षात्कार और चिंतन के परिसर

13. विपक्ष : संपादक भारत यायावर, हिंदी विभाग चासा महाविद्यालय, चासा बोकारो (बिहार) अंक 09, सन 1995, भक्ति साहित्य में लोकजागरण

14. साहित्य–सेतु : संपादक डॉ. चंद्रा मुखर्जी, जुलाई-दिसम्बर 2019, आचार्य शुक्ल और हिंदी नवजागरण, हिन्दी अकादमी हैदराबाद

MAH/MUL/03051/2012
ISSN-2319 9318

Issue-20, Vol-08, Oct. to Dec.2017

# Vidyawarta®

## International Multilingual Research Journal

Editor
Dr.Bapu G.Gholap

www.vidyawarta.com

MAH/MUL/ 03051/2012 ISSN :2319 9318

आंतरविद्याशाखीय बहुभाषिक संशोधन पत्रिका

# विद्यावार्ता

UGC Approved
Jr.No.62759

Oct. To Dec. 2017
Issue-20, Vol-08

Editor
Dr. Bapu g. Gholap
(M.A.Mar.& Pol.Sci.,B.Ed.Ph.D.NET.)

विद्येविना मति गेली, मतीविना नीति गेली
नीतिविना गति गेली, गतिविना वित्त गेले
वित्तविना शूद्र खचले, इतके अनर्थ एका अविद्येने केले

-महात्मा ज्योतीराव फुले

❖ विद्यावार्ता या आंतरविद्याशाखीय बहूभाषिक त्रैमासिकात व्यक्त झालेल्या मतांशी मालक, प्रकाशक, मुद्रक, संपादक सहमत असतीलच असे नाही. न्यायक्षेत्र:बीड

"Printed by: **Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.** Published by **Ghodke Archana Rajendra** & Printed & published at Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.,At.Post. Limbaganesh Dist,Beed -431122 (Maharashtra) and Editor **Dr. Gholap Bapu Ganpat.**

Reg.No.U74120 MH2013 PTC 251205

Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.
At.Post.Limbaganesh,Tq.Dist.Beed
Pin-431126 (Maharashtra) Cell:07588057695,09850203295
harshwardhanpubli@gmail.com, vidyawarta@gmail.com
All Types Educational & Reference Book Publisher & Distributors / www.vidyawarta.com

25) एम०एन० राय का परियन एवं उनके दर्शन की विशेषतायें
डॉ० तिलकराज अण्डोला || 123

26) स्त्री विमर्श के बदलते मायने
डॉ. अनिल कुमार बारिया, बीकानेर, राजस्थान || 128

27) राम की शक्ति पूजा का मिथक
प्रियंका भट्ट, श्रीनगर गढ़वाल, उत्तराखंड || 131

28) हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रतिबिंबित राजधर्म
डॉ० गौरव त्रिपाठी, मिर्जापुर (उ०प्र०)। || 134

29) भारतीय संस्कृति में नैतिक मूल्यों का स्थान
महेबूब सूबानी, बैंगलोर || 136

30) आधुनिक भारत के निर्माण में सूचना प्रौद्योगिकी का अवदान
डॉ० सियाराम, औरैया (उ०प्र०) || 139

31) माधवराव सप्रे और हिंदी नवजागरण
नागेन्द्र प्रसाद सिंह पटेल–रविरंजन || 144

32) साहित्येतिहास लेखन का सवाल और नामवर सिंह
डॉ. मनोज कुमार शुक्ल || 149

33) सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्यों से खतरा:शोध के विशेष सन्दर्भ में अध्ययन
डॉ संदीप कुमार, दिल्ली || 153

34) छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में स्त्री–अस्मिता
डॉ. राकेश कुमार तिवारी–तोरन लाल साहू, रायपूर || 157

35) स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर की गैर निष्पादक आस्तियों (NPA) की प्रबंधन नीतियों एवं....
डॉ. विपुल पटेल, इन्दौर, मध्य प्रदेश || 162

36) दिनकर के काव्य में युगीन सांस्कृतिक चेतना
डॉ० कविता पाण्डे भट्ट, उ०सिं०नगर उत्तराखण्ड || 168



www.vidyawarta.com/03 | http://www.printingarea.blogspot.com

MAH MUL/03051/2012 ISSN: 2319 9318 | UGC Approved Jr.No.62759 | Vidyawarta® | Oct. To Dec. 2017 Issue-20, Vol-08 | 0144

31

# माधवराव सप्रे और हिंदी नवजागरण

नागेन्द्र प्रसाद सिंह पटेल
हिंदी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय

रविरंजन
प्रोफेसर, शोध निर्देशक

************

हिंदी साहित्य में बहुत कम ऐसे लोग हुए हैं जो कम लिखकर साहित्य के इतिहास में अपना नाम कर गए हैं, उनमें माधवराव सप्रे भी आते हैं। आज के हिंदी साहित्य के इतिहास में उनकी एक कहानी को लेकर तो चर्चा हुई है पर उनके समीक्षक? इतिहासविज्ञ रूप को इतिहासकार भुला बैठे हैं। सप्रे उन साहित्यिक मनीषियों में से हैं जिन्होंने हिंदी भाषा तथा हिंदी क्षेत्र के विकास के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। उन्हें दो–दो बार डिप्टीकलेक्टर बनने का अवसर मिला। उन्होंने नौकरी यह कहते हुए ठुकरा दिया कि 'प्रशासन में रहते हुए हम कुर्सी के गुलाम हो जायेंगे।' ये हिंदी के पहले ऐसे पत्रकार हैं जिनकी साहित्यिक गतिविधियों में विद्रोह की चेतना के कारण उनपर राजद्रोह का मुकदमा चला।

लम्बे समय तक इनकी रचनाओं का कोई संकलन उपलब्ध न होने से लोग इनके साहित्य से परचित नहीं हो पाये। इनके लेखों का पहले–पहल संकलन करने का श्रेय डॉ. देवी प्रसाद वर्मा जी को जाता है। बाद में हिंदी के बड़े आलोचक मैनेजर पाण्डेय और नामवर सिंह ने 'माधवराव सप्रे प्रतिनधि संकलन' का संपादन किया। इसी संकलन में मैनेजर पाण्डेय ने 'माधवराव सप्रे का महत्त्व' नाम से भूमिका लिख नवजागरण में सप्रे के महत्त्व को रेखांकित किया है। पांडेय जी सप्रेद्वारा तीन ग्रंथो के हिंदी अनुवाद का भी जिक्र करते हैं। उनके अनूदित ग्रन्थ यह हैं– "दास बोध, तिलक का गीता–रहस्य, महाभारत मीमांसा।" 'महाभारत मीमांसा' ग्रन्थ चिंतामणि विनायक वैद्य द्वारा लिखित 'महाभारत के उपसंहार' का हिंदी अनुवाद है। इन सब ग्रंथों का प्रभाव हिंदी नवजागरण पर भी पड़ा, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

यह तीनों ग्रन्थ मराठी मूल के हिंदी अनुवाद हैं, जो तत्कालीन मराठी नवजागरण से प्रेरित हैं। इससे राम विलास शर्मा जी की 'हिंदी नवजागरण को किसी भी क्षेत्र से प्रभावित न मानने की अवधारणा' खंडित हो जाती है। हिंदी नवजागरण को केवल काशी के चश्मे से नहीं देखा जा सकता जो तत्कालीन समय की साहित्यिक गतिविधियों का प्रतिनिधित्व कर रहा था। हिंदी नवजागरण के क्षेत्र भारत के वे राज्य हैं जहाँ हिंदी बोली और समझी जाती है। इनमें बिहार, राजस्थान,पंजाब, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश आदि का क्षेत्र आता है। हिंदी साहित्य का प्रतिनिधित्व आजादी से पहले उत्तरप्रदेश करता दिखाई देता है। जिसको केंद्र बनाकर आलोचकों तथा इतिहासकारों ने अनेक ग्रन्थ लिखे। जिस कारण अन्य क्षेत्र में नवजागरण में सक्रिय भूमिका अदा करने वाले विचारकों के साथ न्याय नहीं हो पाया। माधव राव सप्रे जैसे कई विचारक हुए जिन्हें आज का इतिहास भुला बैठा है, जिनके बारे में जानकारी है उनको भी नवजागरण के अंतर्गत नहीं रखा गया है। सिर्फ भारतेंदु, द्विवेदी और निराला ही नवजागरण का प्रतिनिधित्व नहीं करतेबल्कि इनके समानान्तर कई विचार धाराएँ वर्तमान थी, जिनपर समीक्षकों और इतिहासकारों का ध्यान नहीं गया। उसी समय भारतेंदु के समानान्तर दयानंद सरस्वती अपने विचारों से हिंदी क्षेत्र को प्रभावित कर रहे थे, इनका मुख्य क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब था, जहाँ आर्य समाज नेलोगों को खूब प्रभावित किया। दूसरी तरफ बिहार में अयोध्याप्रसाद खत्री और उनके सहयोगी थे, जो खड़ीबोली को कव्यभाषा बनाने के लिए जूझ रहे थे। राजस्थान में राष्ट्रीय भावना को जगाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देने

वालों में सूर्यमल्ल मिश्रण थे, जिन्हें आधुनिक राजस्थानी काव्य नवजागरण का पुरोधा माना जाता है। इन्हीं के विचारों से ओत–प्रोत शंकरदान सामौर भी राजस्थान में नवजागरण के अच्छे वक्ता थे और वहीं पंजाब में श्रध्दाराम फुल्लौरी सक्रिय थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान को देखते हुए रामविलास शर्मा 1900 से 1920 के कालखण्ड को द्विवेदी युग की संज्ञा से अभिहित करते हैं, जो मुझे समीचीन जान पड़ता। वे अपने नवजागरण की अवधारणा में सप्रे जी का जिक्र तो करते हैंपर अपना पूरा ध्यान द्विवेदी जी के संपादक रूप को दिखने में लगाये रखे जबकि द्विवेदी जी का लेखनमराठी नवजागरण से प्रभावित रहा है। जो तर्क शर्मा जी द्विवेदी युग कहने के परिप्रेक्ष्य में देते हैं कि द्विवेदी जी अच्छे साहित्यकार, पत्रकार और अर्थशास्त्री थे। वही विशेषताएँ सप्रे जी में दिखाई में भी पड़ती है जैसे सम्पतिशास्त्र के सहायक ग्रंथों में से एक सप्रे जी की अर्थशास्त्र सम्बन्धी पांडुलिपियाँ भी हैं।

हालाँकि भारतेंदु युग से ही हिंदी के लेखक, खासकर पूर्वांचल उत्तरप्रदेश के लेखक, बालकृष्ण भट्ट और अन्य रचनाकार मराठी नवजागरण से प्रभावित रहे। सप्रे जी की वजह से हिंदी नवजागरण काफी हद तक मराठी नवजागरण से प्रभावितरहा। इन्हीं के समानान्तर प्रेमचंद तथा अन्य लेखक बंग्ला नवजागरण से प्रभावित लेखन करते रहें।

रामविलास शर्मा की दृष्टि में महावीर प्रसाद द्विवेदी के के साथ ही नवजागरण की प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती। वह निराला को हिंदी नवजागरण का पूर्ण बिंदु मानते हैं जो ठीक लगता है लेकिन वे उनके समकालीन रचनाकारों को नवजागरण में रखने की जहमत नहीं उठाते जिसमें माखनलाल चतुर्वेदी, मुक्तिबोध आदि कवि विचारक जिनका लेखन साठ के दशक तक था। निराला बंग्ला नवजागरण से प्रभावित थे। इनके समानांतर माधवराव सप्रे के शिष्य माखन लाल चतुर्वेदी और उनके सहयोगी मराठी नवजागरण से प्रभावित रचना कर रहे थे। शर्मा जी भक्तिकाल के संदर्भ में अपने लोकजागरण की अवधारणा को दक्षिण से प्रभावित मानते हैं जबकि उस समय सूचनाओं का आदान–प्रदान बड़ी मुश्किल से हो पाता रहा होगा और अब हिंदी नवजारण को किसी से प्रभावित न मानना उनकी जिद ही है,जबकि पूरा नवजागरण विश्व के विभिन्न क्षेत्रों से प्रभावित हो रहा था। जिसका जिक्र स्वयं शर्मा जी अपने किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में खूब किये हैं। जब सरस्वती पत्रिका में तत्कालीन विश्व में घट रही घटनाओं पर लेख छप रहे थे तो उसका प्रभाव हिंदी नवजागरण क्यों नहीं हो सकता?

**इतिहासविज्ञ माधवराव सप्रे–**

माधवराव सप्रे के साहित्य को पढ़ते हुए मुझे ऐसा लगा कि वे सिर्फ सफल पत्रकार ही नहीं बल्कि अच्छे समीक्षक और इतिहासविज्ञ भी थे। 'स्वदेशी आन्दोलन और बायकाट' में एक लेख 'यह प्रसंग बड़े मार्के का है' में लिखते हैं "हमारे प्राचीन पुराणों आदि की कथाओं को चाहे क्षणभर झूठ मान लीजिएय परन्तु दुनिया के सच्चे माने गए इतिहास में ऐसा एक भी उदहारण नहीं है, जो इस बात को सिद्ध करता हो कि किसी एक राष्ट्र ने (किसी एक जाति ने) अन्य राष्ट्र को दासत्व की श्रृंखला से ऐसा जकड़कर बाँधा कि वह बंधन कभी ढील हुआ ही नहीं।"

सप्रे जी अंग्रेजो के विषय में बताते हैं की ये अपने यंहा जनता परस्त हैं, इसी जनता परस्तता के कारण अपने सम्राट को मृत्यु दंड भी दे देते हैं। सप्रे जी को अंग्रेजों के इस दुचित्तापन से दु:खी हैं कि यही अंग्रेज हमारे यहां जनता पर अत्याचार कर रहे हैं।

सप्रे जी अपने लेख में आगे बायोकाट के बारे में बताते हैं कि किस प्रकार विश्व इतिहास में लोगों के बहिष्कार द्वारा बड़े–बड़े साम्राज्य धरासायी हो गए। इसके लिए चार उदहारण देतें हैं– पहला अमेरिका द्वारा अंग्रेजी वस्तुओं का बहिष्कार, दूसरा इटली का बहिष्कार, तीसरा उदहारण चीन द्वारा अमेरिका की वस्तुओं का बहिष्कार चौथा उदाहरण अंग्रेज द्वारा अपने महाराजा का बहिष्कार। इन बहिष्कारों ने पूरे हुकूमत को ही बदल डाला।

सप्रे बहिष्कार का नियम अंग्रेजो की नीति से सिखाने के पक्ष में हैं जैसे वे मराठी ब्राहमणों के साथ करते हैं। वे लिखते हैं "कुछ सरकारी अफसरों की यह इच्छा दिखाई पड़ती है कि महाराष्ट्री ब्राहमणों को सरकारी नौकरी न दी जाए। परन्तु, महाराष्ट्री ब्राहमणों के सिवा अन्य जाति के बहुत से बुद्धिमान, शिक्षित और होशियार आदमी नहीं मिलते। अतएव, सरकारी नौकरी को देने में प्रायः इस नियम का पालन किया जाता है कि जहां तक हो सके, प्रथम महाराष्ट्री ब्राहमण को कोई जगह न दी जाए। पहले किसी यूरोपीयन, क्रिश्चियन, मुसलमान, पारसी, कायस्थ या किसी अन्य जाति के मनुष्य को जगह दी जाएय और जब इतने पर भी कोई न मिले तब महाराष्ट्री ब्राहमण को जगह दी जाय।" आगे लिखते हैं कि इससे अचानक मराठी ब्राहमणों की संख्या में तो कोई असर नहीं पड़ेगा, मगर बीस साल बाद सरकारी महकमों में मराठी ब्राहमण ढूंढने से भी न मिलेंगे। कहना न होगा कि यह इशारा अंग्रेजो के बहिष्कार की तरफ ही है,क्यों न हम उन्ही का बहिष्कार का नियम उन्ही पर लागू करें, सप्रे जी ऐसा इशारा भी करतें हैं।

'यह समय कभी न कभी आने वाला था' में सप्रे जी लिखते हैं कि अब के समाज की जो मूल समझ विकसित हुई है, वह यूरोप से शुरू हुआ अब तक चीन में पहुंच चुका है जंहा अमेरिका का व्यापर नष्ट हो गया है। यह बहुत जल्द भारत में भी विकसित होगा। बायोकाट पर कहते हैं "स्वकीया का स्वीकरण परकिया का त्याग" यह भी कहते हैं "हिन्दुस्तानियों को यह निश्चय करना चाहिए कि जिस इंग्लैण्ड के लोगों ने हमारे मुंह की रोटी छीन ली है और जिस इंगलैण्ड के लोग काले आदमियों को पशु–तुल्य समझते हैं,उस देश की बनी कोई भी चीज हम न खरीदेंगे।"

सप्रे जी बायकाट के महत्त्व पर भावनात्मक मांग करने के बाद, इस प्रकार अपने अर्थशास्त्र का ज्ञान का प्रयोग करते हैं "जिस प्रकार माया (शक्ति) को पृथक करने से संसार की उतपत्ति हो ही नहीं सकती, उसी प्रकार 'बहिष्कार' को पृथक करने से हमारा आन्दोलन शक्ति रहित हो जाएगा, उससे देश की उन्नति कदापि न हो सकेगी, इष्ट कार्य की कभी सिध्दि न होगी।"

सर्वविज्ञ है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'संपत्ति शास्त्र' को बनाने में सप्रे की अर्थशास्त्र की पाण्डुलिपि को आधार बनाकर लिखा है। वे जगह–जगह उस पाण्डुलिपि का जिक्र भी करते हैं, सप्रे असंदिग्ध रूप से एक आर्थिक विचारक भी हैं। सप्रे जी के लेखन में भी गाहे–बगाहे उनके आर्थिक विचार आ ही जाते हैं "जब तक हमारे देश भाई विदेशी वस्तु के त्याग की प्रतिज्ञा न करेंगे तब तक नई मिलों के खोलने सेऔर चरखों पर काम करने वाले जुलाहों को उत्तेजन देने से या और–और चीजों के कारखाने से क्या लाभ होगा? विदेशी वस्तुओं की त्याग ही में हमारी यथार्थ उन्नति की शक्ति है।.... जब हमारे पूंजी पतियों को इस बात का दृढ़ विश्वास हो जायेगा कि हम लोगों ने विदेशी वस्तु का त्याग कर दिया है, तब वे लोग बड़ी–बड़ी मिलें और नए–नए कारखाने खोलने में एक भी दिन का विलंब न करेंगे।"

सप्रे जी स्पष्ट कहतें हैं कि इस देश में अंग्रेजों के सिर्फ दो ही कर्तव्य हैं–शासन करना (अर्थात हिन्दुस्तानियों को सदा दासत्व में रखना) और संपत्ति चूसना।

स्वदेशी आन्दोलन में विद्यार्थियों को न भाग लेने के पक्षधर अध्यापकों द्वारा जारी किये गए फतवों का विरोध करते हुए सप्रे जी सच्चे गुरुओं की व्याख्या ही कर डाले "सच्चे गुरुओं या अध्यापक का यही कर्तव्य है कि वे अपने तरुण विद्यार्थियों को राष्ट्रहित के यथार्थ तत्व भलीभांति समझा दें और युवावस्था से ही उनके मन में देशहित तथा देश भक्ति का बीजरोपण करके शील स्वभाव इसप्रकार बनाएँ कि वे जीवन भर अपने कर्तव्य से कभी परांगमुख न हो।"

देशवाशियों को तत्कालीन लाभ से बचने और दूरगामी लाभ के लिए के बारे में समझते हुए लिखते हैं "इसलिए कोई–कोई कहते हैं कि स्वदेशी आन्दोलन लोगों की हानि होती है, परन्तु वे लोग

इस बात पर ध्यान नहीं देते कि पांच करोड़ का स्वदेशी माल न लेते हुए यदि चार करोड़ के विलायती माल लिया जाए, तो ये चार करोड़ रुपये सब विलायत को ही चले जयेंगे और यदि चार करोड़ के विलायती माल के बदले स्वदेशी माल लिया जाए तो ये पांच करोड़ रुपये सब इसी देश में बने रहेंगे।"

अंग्रेजों ने भारत के व्यापार को बरबाद करने के लिए बायोकाट का ही प्रयोग किया। सप्रे जी ने तत्कालीन बंगाल के बारे में लार्ड क्लाइव के विचार जो मुर्शिदाबाद के बारे में लिखा था, का उद्धरण देते हैं। क्लाइव लिखता है "लन्दन के समान विस्तृत, आबाद और धनी है इस शहर के लोग लन्दन से भी बढ़कर मालदार हैं।"

सप्रे जी कंपनी के डायरेक्टर जनरल के हुक्म को भी उद्धृत किए हैं "बंगाल के लोगों को रेशम का कपड़ा बुनने से रोकना चाहिए। वहां के लोग सिर्फ कच्चा रेशम तैयार करें। उस रेशम के कपड़े के कपड़े इंग्लैण्ड के कारखानों में बुने जाएँगे। रेशम लपेटने वालों को कंपनी के ही कारखानों में काम करना चाहिए। यदि वे बाहर (किसी दूसरी जगह) करें तो उन्हें सख्त सजा दी जाए।"

सजा देने के बावजूद भी हिन्दुस्तानी कपड़ा बुनते रहे और अंग्रेज औरते पसंद करती रहीं,तो ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक कानून बनाया "जो व्यापारी हिन्दुस्तानी कपड़ा बेचेगा, उसको दो सौ रुपये और जो मनुष्य हिन्दुस्तानी कपड़ा पहनेगा, उसको पचास रूपए दंड किया जायेगा। सन १८१५ में दूसरा कानून जरी किया गया कि इंग्लैण्ड में कालीकट से आने वाले सौ पौंड के कपड़े पर अड़सठ शिलिंग आठ पेंस 'कर' लगाया जाए, ढाका की सौ पौंड की मलमल पर सत्ताईस पौंड छह शिलिंग आठ पेंस 'कर' लगाया जाए और हिन्दुस्तान के रंगीन कपड़े की आमद बिल्कुल बंद की जाए।"

यहाँ अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी व्यापर को बर्बाद करने में अपने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग अर्थात बहिष्कार का प्रयोग किया और साथ ही प्रशासनिक हथकंडे को भी अपनाया। सप्रे जी का मानना यह था कि हम प्रशासन में भले नहीं हैं मगर हम अंग्रेजी वस्तुओं का तो बहिष्कार कर ही सकतें हैं।

सप्रे जी भारतीय आन्दोलन के प्रति चिंतित हैं कि यंहा के आन्दोलन जैसे ही शुरू होता है, वैसे ही अपने—आप बंद हो जाता है। स्वदेशी आन्दोलन के संदर्भ में वे चाहते हैं कि यह आन्दोलन अन्य आंदोलनों की तरह तुरंत समाप्त न हो, इसके लिए तरकीब सोचते हैं और लिखते हैं "इन स्वदेशी स्वयं सेवकों का यही काम है कि वे घर—घर गली—गली जाकर लोगों को 'स्वदेशी' का उपदेश दें, लोगों में 'स्वदेशी' के विचारों की सदा जागृत करते रहें,लोगों को स्वार्थ—त्याग और स्वावलंबन की शिक्षा दें, व्यापारियों को व्यापार संबंधी नई—नई बातों की सूचना दें और विद्यार्थियों को 'स्वदेशी' का व्रत धारण करने के लिए उत्तेजित करें। उनका यह भी काम है कि वे 'स्वदेशी' पर अच्छे—अच्छे लेख लिखे या लिखवाएं और उनकी लाखों प्रतियाँ छपवाकर बिना मूल्य या अल्प मूल्य पर सर्व साधारण लोगों में वितरित करें।"

**समालोचक माधवराव सप्रे— देवी प्रसाद वर्मा जी ने 'माधवराव सप्रे की चुनी हुई रचना**

'संग्रह में समालोचना खंड में सप्रे जी का कुल अठारह किताबों की समीक्षा संगृहीत की है, जिसको पढ़ने से सप्रे जी का समालोचक रूप हमारे सामने आता है। उनकी शालीनता और उनका बेबाकपन जो बिना रचनाकार के अपने सम्बन्ध के बारे में सोचे (आमतौर पर अन्य समीक्षक ध्यान देते हैं) समीक्षाएं लिखी है,वह अन्य समीक्षकों के यहाँ दुर्लभ है।

'श्रृंगार बत्तीसी' की आलोचना करते हुए लिखते हैं "बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारे कवियों को एक—ही—एक विषय पर लेखनी चलाने में कैसे आनंद प्राप्त होता है! क्या श्रृंगार विषय पर आज तक कोई पुस्तक न थी कि जिससे इसके लिखने और छपवाने की आवश्यकता हुई? जान पड़ता है कि हमारे कवियों को कोई दूसरा विषय नहीं मिलता, इसी से वे बड़े श्रृंगार प्रिय हो गए हैं। क्यों न हों? इसमें न तो मूल काव्य शक्ति की आवश्यकता है और न बड़े प्रतिभाशाली विद्वान्

की कृपा हमें एसा मालूम होता है कि आज कल के कवि लोग श्रृंगार आदि काल्पनिक रसात्मक कविता बनाने में व्यर्थ ही श्रम उठा रहे हैं। इसकी अपेक्षा वस्तुस्थिति की ओर ध्यान देकर नैसर्गिक, सामाजिक आदि उपयोगी विषयों पर कविता रचाने में परिश्रम करें तो भाषा काव्य की उत्तरोत्तर उन्नति होगी और फिर सचमुच काव्य रसिको को आनंद होगा। श्रृंगार जैसे एक देशीय पुराने विषय का स्वर लेते—लेते भगवती हिंदी काव्य देवी का मन तृप्त हो चुका है। अब उसको अन्य अन्यान्य विषयों से रिझाने का प्रयत्न करना चाहिए।"

सप्रे जी तकालीन साहित्य में सामाजिक समस्याओं का यथार्थ पूर्ण चित्रण देखना चाहते थे 'धन विजय' की समीक्षा करते हुए कहते हैं "मेघगमन का जो अल्प वर्णन किया है, उसपर से हमें ऐसा मालूम होता है कि आपकी दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर भी पहुँच चुकी है। बाल विधवाओं की दिन और दुखित अवस्था पर कवि ने कई जगह अपनी हृदयगत सहानुभूति दर्शाई है। इसी प्रकार के कई उल्लेखों से जान पड़ता है कि पाठक जी काव्य रचना की नूतन प्रणाली में अग्रसर हैं वैसे ही सामाजिक अन्यायों के (प्रगट नहीं तो गुप्त) संशोधक भी होंगे।"

सप्रे जी संस्कृत निष्ट हिंदी के पक्षधर हैं मगर इस शर्त पर नहीं कि प्रचलित उर्दू शब्दों को निकालने के बाद। 'भाषा चन्द्रिका' पत्रिका की भाषा पर समीक्षा करते हुए लिखते हैं "इस पत्रिका में व्याकरण संबंधी अशुद्धियों के अतिरिक्त संस्कृत के बड़े—बड़े कठिन शब्द और लम्बे—लम्बे समास इतने भरे हैं कि भाषा की स्वभाविक सुन्दरता विल्कुल नष्ट हो गई है और उसमें एक प्रकार की क्लिष्टता आ जाने से लेखक का भाव भी अत्यंत दुर्बोध हो गया है। "और आगे लिखते हैं" आप हिंदी भाषा के सुधर में प्रयत्न करना चाहते हैं फिर हिंदी के व्यवहारिक शब्दों पर कटाक्ष क्यों? क्या उर्दू से हिंदी को कुछ लाभ नहीं पहुंचा है? फिर आप उसका (उर्दू) 'हिंदी के साथ व्यहर्त न होना ही उचित है'ऐसा क्यों कहतें हैं? क्या आपका वृथा अभिमान और निष्प्रयोजन द्वेष नहीं है?"

सप्रे जी 'सुंदरी' उपन्यास की समीक्षा करते हुए जो बेबाकी से अपना मत रखते हैं शायद ही ऐसा कोई आलोचक रखा हो "सिर्फ बाबू देवकी नंदन खत्री के चंद्रकांता आदि असंभव घटनापूर्ण उपन्यासों की नकल है। जिस प्रकार बाबू साहब ने एयारों की ऐयारी, तिलिस्म के तमाशे और कमन्द के फंदे में हिंदुस्तान के हजारों अबोध पाठकों को उलझा रखा है, ठीक वैसा ही करने का 'सुंदरी' के रचयिता का भी उद्देश्य दिखाई पड़ता है।".

उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "खेद की बात तो इतनी ही है कि हमारे विद्वान् होनहार और तरुण सुक्षित पुरुष भी इसी प्रकार के ग्रन्थ लिखने में आनंद पातें हैं। न मालूम वह दिन कब आएगा, जब विद्वान लोगों की रूचि इस ओर से हट कर वस्तुस्थिति का अभ्यास करने तथा देश का सच्चा हित—संपादन करने में लगेगी क्या उपन्यास लेखकों को यह बात नहीं मालूम है कि शिक्षा व ज्ञान प्राप्ति उसका मुख्य उद्देश्य है और मनोरंजन करना उसका गौण उद्देश्य है? जो लोग केवल मनोरंजन करने हेतु अंग्रेजी बंगला, मराठी, उर्दू या गुजराती का अनुकरण करते हैं और किसी भी प्रकार की सुशिक्षा देने का प्रयत्न नहीं करते, वे सचमुच उपन्यास का महत्त्व नहीं जानते।"

सप्रे जी का मानना है कि कोई भी चीज जो हो रहा है वह आज के लिए बुरा हो सकता है मगर कल के लिए वह बहुत ही प्रासंगिक होगा ऐसा उनके इस उद्धरण से पता चलता है "हमारा यह मत सिद्ध हो चुका है कि इस संसार की प्रतेक वास्तु हमारे भलाई ही के लिए है। अंग्रेजी में कहा गया है कि 'Good comes out of Evil' उसी तरह जिन प्रचलित उपन्यासों को आज हम बुरे समझते हैं, उन्हीं से हमारी उन्नति होने वाली है। परिवर्तन के नियमानुसार जो चीज आज बुरी है,वही कुछ काल में अच्छी हो जाएगी। इसलिए हम आशा करते है कि जिन उपन्यासों संप्रति हिंदी में सिर्फ कूड़ा—करकट ही जमा हो रहा है, उन्हीं के द्वारा कुछ काल बीत जाने पर भाषा के भंडार की वृद्धि भी होने लगेगी।"

संदर्भ:–


– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधव राव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–४७
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे और चुनी हुई रचनाएं' पृष्ठ सं.५७
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे और चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं. ६१
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे और चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–६३
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–६४
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–७४
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–८१
– देवीप्रसाद वर्मा सम्पादित 'माधवराव सप्रे और चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–८२
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.– ८४
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–८५
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.८८
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–२१९
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–२२०
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.–२२६
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' पृष्ठ सं.– २२७
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' वही पृष्ठ सं.– २३७
– देवीप्रसाद वर्मा संपादित 'माधवराव सप्रे चुनी हुई रचनाएँ' वही पृष्ठ सं.–२३८


❑❑❑

32

# साहित्येतिहास लेखन का सवाल और नामवर सिंह


डॉ. मनोज कुमार शुक्ल

कलकत्ता


नामवर सिंह का यह मानना है कि साहित्येतिहास और आलोचना परस्पर आश्रित हैं और आपस में गहरे जुड़े हैं। आलोचक को आलोचना की समस्याओं से टकराते समय प्रकारान्तर से साहित्येतिहास की समस्याओं से भी टकराना पड़ता है। इसीलिए आलोचना की गुत्थियों से टकराते हुए नामवर जी आजीवन साहित्येतिहास की गुत्थियों से भी टकराते रहे हैं। हम यहाँ देखेंगे कि उनकी साहित्येतिहास संबंधी चिन्ताएँ क्या हैं। ''वर्तमान साहित्य को समझने-समझाने और आँकने के लिए आलोचना के प्रतिमान बनते हैं तथा वर्तमान साहित्य को समझने-समझाने एवं आँकने के लिए ही इतिहास भी लिखा जाता है। इस प्रकार लक्ष्य की एकता प्रतिमान-निर्माण एवं इतिहास की प्रक्रिया को भी आरम्भ से ही समेकित कर देती है।'' स्पष्ट है कि आलोचना से साहित्येतिहास का नाभि-नाल संबंध है। यही कारण है कि हर बड़े आलोचक को अपने युगीन साहित्य का सही मूल्यांकन करने के लिए साहित्येतिहास की समस्याओं से उलझना पड़ा है। साहित्येतिहास से बिना टकराये उनकी आलोचना का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होता। आलोचना के प्रतिमान का तब तक पुनर्नवीनीकरण नहीं हो सकता जब तक आलोचक इतिहास के पुनर्नवीनीकरण के लिए संघर्षरत नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि ''इतिहास के पुनर्नवीनीकरण की समस्या वस्तुतः आलोचना

ISSN No. 2348-6163

# साहित्य-सेतु

अक्टूबर-दिसंबर, 2017

प्रकाशक
आंध्र प्रदेश हिंदी अकादमी
हैदराबाद

# साहित्य-सेतु

त्रैमासिक

वर्ष : 4 ◆ अंक : 13 ◆ अक्तूबर-दिसंबर 2017 ई.

**संपादक**
**डॉ. ए. श्रीरामुलु**
**निदेशक**
**आंध्र प्रदेश हिंदी अकादमी**

**परामर्शदाता मंडल**

डॉ.टी.मोहन सिंह

डॉ.एम.वेंकटेश्वर

डॉ.पी.माणिक्यांबा 'मणि'

प्रो.ऋषभ देव शर्मा

प्रो.वी.कृष्ण

**सह संपादक**
**श्रीमती पी.उज्ज्वला वाणी**

प्रकाशक
आंध्र प्रदेश हिन्दी अकादमी
हैदराबाद

# विषय-क्रम


पृ.सं.

5 **संपादकीय**

**आलेख**

7 *भारतीय भक्ति साहित्य : एक चिंतन* - **डॉ. एम.वेंकटेश्वर**

14 *हिन्दी कहानी और वृद्ध-विमर्श* - **राठोड़ सुरेश**

18 *वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में कबीर की प्रासंगिकता* - **सुभद्रा कुमारी सिन्हा**

22 *महाप्राण निराला के छन्द-प्रयोग* - **डॉ. रामसनेहीलाल शर्मा**

30 *अभिव्यक्ति के सच्चे प्रणेता मुक्तिबोध* - **डॉ.अरूण कुमार वर्मा**
*('सहर्ष स्वीकारा है' के परिप्रेक्ष्य में)*

34 *'भारतीय समाज पर भूमंडलीकरण का प्रभाव'* - **यू.हरिकृष्ण आचार**

37 *'मिट्टी की गंध का कवि : केदारनाथ सिंह'* - **लोकेश कुमार**

41 *हिन्दी और उसकी बोलियों का संबंध'* - **राकेश कुमार सिंह**

48 *स्त्री-अस्मिता का उभार बनाम सामाजिक संघर्ष* - **प्रमोद कुमार यादव**

55 *भक्ति काव्य की वैचारिक भूमि* - **प्रमोद कुमार शर्मा**

60 *'हिन्दी कहानी पर देवीशंकर अवस्थी की आलोचना'* - **डॉ.यम.अब्दुल रज़ाक़**

64 *नई कविता और रघुवीर सहाय* - **दिनेश कुमार यादव**

71 *'प्रेम' का सामाजिक संदर्भ* - **बजरंग चौहान**

75 *लोकजागरण* - **नागेन्द्र प्रसाद सिंह पाटेल**

80 *महादेवी वर्मा 'आधुनिक मीरा'* - **डॉ.सत्यप्रकाश पाल**

84 *विजयदेव नारायण साही : व्यक्ति एवं परिवेश* - **सौरभ सिंह विक्रम**

**तेलुगु-साहित्य**

90 *तेलुगु के भक्त कवि पोतना और श्रीमदांध्र महाभागवत* - **डॉ. बी.हेमलता**

**दलित-साहित्य**

96 *हिन्दी दलित कहानी में दलित जीवन और जाति का सवाल* - **हनुमान सहाय मीना**



ed by
rinted
79 and
apally,

# लोकजागरण-

- नागेन्द्र प्रसाद सिंह पाटेल

लोकजागरण शब्द का पहले-पहल प्रयोग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने निबंध 'लोकजागरण और भक्ति काव्य' के लिए किये थे, मगर भक्तिकाल का व्यापक निरीक्षण कर पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग करने का श्रेय डॉ.रामविलास शर्मा को जाता है।

लोकजागरण का सीधा अर्थ होता है लोक का जागरण। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदीजी अपने इतिहास में लोक और जनता में भिन्नता बहुत खूबसूरती से ढूंढ निकाले हैं जो यहाँ उद्धरणीय है ''ऊपर से एक-से दिखने पर भी दोनों प्रयोगों में गुणात्मक अंतर है। ऐसा नहीं कि शुक्ल जी 'लोक' शब्द की छायाओं से परिचित नहीं थे। साहित्य के उद्देश्य के संबंध में वे बराबर 'लोक मंगल' की बात कहते हैं। पर यहाँ उन्होंने 'जनता' शब्द चुना है जो समाज के सभी वर्गों और समूचे जनजीवन को समेटता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रिय शब्द 'लोक' है जो जनता के अपेक्षाकृत पिछड़े वर्ग को संकेतित करता है। यों द्विवेदी जी की चिंता समाज का पिछड़े वर्ग की ओर अधिक है। तब यह भी स्वाभाविक है कि आचार्य शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय कवि तुलसी है, जबकि द्विवेदी जी के मानक कवि लोक में प्रिय कवि कबीर हैं।''[1]

रामविलास शर्मा जी लोक जागरण शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल के 'जनता' शब्द के सन्दर्भ में किए हैं। शर्मा जी पिछड़े समाज के संतों और मुख्यधारा के संतों में कोई विशेष अंतर नहीं मानते। दोनों (सगुण और निर्गुण) के लिए रामविलास शर्मा जी लोक में व्याप्त संत शब्द का प्रयोग करते हैं। भक्ति कालीन संतों में सामंतों का विरोध ही मुख्य ध्येय रहा है। भक्ति साहित्य के बारे में वे लिखते हैं ''सैकड़ों वर्षों से कायम भारतीय सामंतवाद कभी का अपनी ऐतिहासिक भूमिका ख़त्म कर चुका था। उसे समाप्त करने वाली शक्तियां उसी के गर्भ में जिनके सांस्कृतिक विकास और सुखी जीवन में सबसे बड़ी बाधा थी-सामंतवाद। ...सूर और तुलसी ने, प्रेम मार्गी सूफियों ने लाखों मनुष्यों को, उनके ग्रामीण और जनपदीय अंधविश्वासों से अलग, नए सूत्रों में बांधना शुरू किया। ...गोस्वामी तुलसीदास ने ब्रजभाषा ही में कविता नहीं की, उन्होंने अवधी में भी वैसी ही लोकप्रियता प्राप्त की। इसका कारण यह था कि जनपदों में बटी हुई जनता के बदले अब एक जातीय सूत्र में गठी हुई विराट जनता हिन्दी-भाषी प्रदेश में विकास की नयी मंजिल की ओर बढ़ रही थी।''[2]

लोकजागरण की पड़ताल करते हुए शर्मा जी ने इसके मूल में जाति के महत्त्व को पहचानते हैं। जाति के उद्भव और विकास को ही लोकजागरण मानते हैं, जो ठीक भी है। वे जाति के निर्माण

की प्रक्रिया को बताते हुए कहते हैं कि "व्यापारिक पूंजीवाद के युग में जाति का निर्माण होता है, औद्योगिक पूंजीवाद के युग में यह जाति कायम रहती हैं। दोनों युगों की जाति में बहुत बड़ा अंतर यह है कि दूसरे युग में औद्योगिक सर्वहारा मौजूद है, पहले युग में उसका अभाव है। व्यापारिक पूंजीवाद के युग में मुख्य अंतर्विरोध किसानों-कारीगरों तथा जमीदारों में होता है, औद्योगिक पूंजीवाद के युग में सर्वहारा और उद्योगपतियों में।"[3]

रामविलास शर्मा लोकजागरण को आधुनिक काल कहने के पक्षधर हैं। सभी राष्ट्रों में जाति के निर्माण के समय को आधुनिक काल के अंतर्गत ही देखा गया है, तो भारत में क्यों नहीं। लोकजागरण के विकास की परम्परा को शर्मा जी आधुनिक साहित्य मानते हैं, इस काल की विकास पारम्पर को यों बताते हैं "वैदिक काल से लेकर लगभग 11 वीं सदी तक सामंती व्यवस्था कायम रही। इस काल में रचा हुआ साहित्य चाहे संस्कृत, प्राकृतिक और अपभ्रंश में हो, चाहे तथाकथित पुरानी बंगला में हो, वह सामंती व्यवस्था में रचा हुआ साहित्य है। द्रविड़ भाषाओं में, तमिल और कन्नड़ भाषा में रचा हुआ साहित्य इसी व्यवस्था में रचा हुआ साहित्य माना जाएगा। इस सबको मध्यकालीन साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। भारत में जातीय गठन की प्रक्रिया सब जगह एक ही समय में संपन्न नहीं होती, फिर भी मोटे रूप में 12वीं सदी को नई जातियों के निर्माण का प्रारंभिक काल मान सकते हैं। इस समय आधुनिक सदी को नई जातियों के निर्माण का प्रारंभिक काल मान सकते हैं। इस समय आधुनिक भाषाओं में जातीय साहित्य की रचना आरंभ होती है। समाज और साहित्य का आधुनिक काल 12वीं सदी से आरंभ होता है।"[4]

पूरा भारत भक्ति आन्दोलन से प्रभावित रहा है, भले एक साथ नहीं, पर इस अन्दोलन ने सामंती व्यवस्था की जड़े हिला दी थी। यह आन्दोलन फिर उन्हीं सामंती दलदल में फँस गया। इस पर रामविलास शर्मा लिखते हैं "भारत में 12वीं सदी से आरंभ होनेवाले पूंजीवाद का विकास सफल नहीं हुआ, बाद में अवरुद्ध होकर निष्फल हो गया। समाज का सामंती आधार और उससे निर्मित सांस्कृतिक ढांचा एक बार कमज़ोर होने के बावजूद कायम रहा। यही कारण है कि भक्ति काल के बाद रीतिकाल आया। भक्ति आन्दोलन सामंती समाज में विकसित सौदागरी पूंजीवाद और जातीय निर्माण के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक संबंधों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है, रीतिकाल का साहित्य सामंत विरोधी सामाजिक संबंध (संबंधों) और सांस्कृतिक चेतना के अवरुद्ध होने का परिणाम तथा प्रमाण है।"[5]

ये तो हुआ लोकजागरण की विकास परम्परा और अब हम भक्तिकाल के प्रमुख कवियों के माध्यम से लोकजागरण की यथास्थिति का अध्ययन करेंगे। शंभुनाथ अपने लेख 'भक्ति साहित्य में लोकजागरण' में भक्ति साहित्य के अंतर्विरोधों में एकता का उल्लेख यों करते हैं "भक्ति साहित्य की मुख्य अंतर्धाराओं में सगुण और निर्गुण ही नहीं, ईश्वर और जीव, आध्यात्मिक और भौतिकता, पारलौकिकता और इहलौकिकता, शास्त्र और लोक, द्विज और दलित, हिन्दू और मुसलमान,

स्थावर और भ्रमणशील एक लम्बी आपसी टकराहट के बाद अंत मिश्रित हो रहे थे। भारतीय सामाजिक विकास का यह स्वाभाव भी उल्लेखनीय है कि कोई बड़ी खाई न हो तो दो विरोधी तत्व टकराते-टकराते परिस्थितिबश अंतर्मिश्रित हो जाते हैं, भले विकास विरोधी ताकते उनमें दुबारा भेद डालने में सफल हो जाएं।''[6]

भक्तिकाल में सांस्कृतिक टकराहट की गूंज हमें अलवारों और नयनारों के यहाँ सुनाई पड़ती है, मगर ये आवाज़ काल की ग़ाल में समां गयी। फिर कुछ वदली संस्कृति को लिए अर्थात निर्गुण भक्ति में यह और प्रखरता के साथ उभरी। शंभुनाथ लिखते हैं ''पुरानी योग साधना, अवतारवाद तथा चमत्कारवाद के अवशेषों के बावजूद संत साहित्य मिश्रित संस्कृति की नई चेतना का पहला और महत्वपूर्ण उन्मेष है। यह केवल दलित जागरण नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक आयामों में एक व्यापक लोकजागरण है। धार्मिक शुद्धतावाद, कट्टरतावाद और पाखंड से निर्भयतापूर्वक जितना संत साहित्य ने लोहा लिया, दूसरे नहीं यह सूरा का संग्राम था - 'कायर भागे पीठ दे, सूरा करे संग्राम''[7]

संत कवियों में कबीर, नानक का नाम प्रमुखता से लिया जाता है एक अपनी बेबाकपन के लिए जाना जाता है तो दूसरा तत्कालीन शासक का खुलेतौर पर विरोध करता है। नानक कहते हैं -

**खुरसान खमसान किआ हिंदुस्तान डराइया।**
**आपै दोस न देई करता जपु करी मुगल चढ़ाइया।**
**एती मार पई कर लाण(औ) तै की दरदु न आइया।।**
**कबीरदास ने अपने तत्कालीन समाज के पुरोहित वर्ग को डपटते हुए कहते हैं -**
**पंडित मिथ्या करहु बिचारा। ना वह सृष्ट, न सिरजनहारा।।**
**जोति सरूप काल नहिं अहंवां, बचन न आहि सरीरा।।**
**थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा।।**[8]

लोकजागरण में सूफियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने हिन्दी जाति को अपने साहित्य के माध्यम से मजबूत किया और मुसलमान होकर भी हिन्दू संस्कृति को अपनी रचनाओं का प्रतिपाद्य बनाया। आचार्य शुक्ल कहते हैं ''कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटनेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।''[9]

निर्गुण साहित्य के महत्त्व पर चर्चा करते हुए शंभुनाथ अपने लेख में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक उद्धरण देते हैं जिसमें संतों का तत्कालीन समाज पर पड़े प्रभाव को दिखता है, जो इस प्रकार है ''मध्ययुग में मुसलमानों के साथ हिन्दुओं का धार्मिक विरोध था। उस समय लगातार साधुओं और साधकों का जन्म हुआ। उनमें कई मुसलमान थे, जो आत्मीयता के सत्य द्वारा धार्मिक विरोध के मध्य सेतु बंधन में प्रवृत हुए थे। वे पालिटिशियन नहीं थे, प्रयोजन मूलक पालिटिकल एकता को उन्होंने कल्पना में भी सत्य नहीं समझा। वे एकदम उस मूल में गए, जहाँ समस्त मानव मिलन की प्रतिष्ठा ही ध्रुव सत्य है। ...आज भी भारत के प्राणश्रोता के मध्य उन्हीं साधकों की अमरवाणी की धारा प्रवाहित हो रही है। वहां से यदि प्रेरणा ग्रहण कर सकें तो उसी की शक्ति से हमारी राष्ट्रनीति, अर्थनीति, कर्मनीति जीवित हो सकती है।''[10].

सगुण भक्तों सूर, मीरा और तुलसी के यहां तत्कालीन सामंती व्यवस्था पर प्रहार और अपने समाज की समस्याओं का यथार्थ पूर्ण चित्रण किया गया है। सूर और मीरा मुक्तक काव्य में ही ब्रज की सांस्कृतिक विशेषताओं का बखूबी चित्रण किया है। मैनेजर पाण्डेय ने अपनी किताब 'भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य' की भूमिका में लिखते हैं ''सूर की कविता हिन्दी क्षेत्र में रहने वाले लोगों के जातीय जीवन और सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्त करने वाली कविता है। वह हिन्दी भाषा के जातीय रूप का निर्माण करने वाली, हिन्दी साहित्य के जातीय काव्य रूपों को विकसित करने वाली कविता है। सूर की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह शास्त्र और सत्ता के आतंक से मुक्ति दिलाने वाली कविता भी है।''[11].

मीरा के समय की सामंती बेड़ियों को याद करते हुए शंभुनाथ लिखते हैं ''काफी कठोर सामंती व्यवस्था वाले राजस्थानी समाज में मीरा का लोक लाज छोड़कर कृष्ण भक्त होना साधारण घटना नहीं है। उसकी भक्ति एक प्रोटेस्ट है। इससे भक्ति आन्दोलन को एक खास आयाम मिला। तुलसी ने नारी की महत्ता घोषित की ''जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी।''[12].

तलुसी के साहित्य में तत्कालीन समाज का दर्द और सुनहरे भविष्य की अच्छी कल्पना है, जो रामराज्य के रूप में चित्रित है। शंभुनाथ लिखते हैं ''निः संदेह तुलसी ने अपने युग के विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग को चुनौती दी थी। उसके धार्मिक मनमानेपन, बड़बोलेपन, धूर्तता और दंभ की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था ''मारग सोई चाकहु जो भावा। पंडित सोइ जो गल बजवा। सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।'' उन्होंने वाह्याचार की तुलना में नाम सुमिरन को महत्ता प्रदान की। धर्म की परम्परागत मर्यादा घटाए बिना तुलसी ने गरीबों-दलितों के लिए भी राम भक्ति का रास्ता सुगम बना दिया।''[13].

''नाम रूप दुइ ईस उपाधी । अकथ अनादि सुसामुझी साधी ।।

नाम रूप गति अकथ कहानी । समझुत सुखद न परति बखानी ।।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोध चतुर दुभाखी ।।''14.

रामविलास शर्मा जी का मानना है कि भक्तिकाल के बाद हिन्दी साहित्य में रीतिकाल का आना एक ट्रेजडी है, इससे भी बड़ी ट्रेजडी अंग्रेजों का भारत आगमन है। रीतिकाल का जो साहित्यिक रूप हम देखते हैं वह सामंती मनोवृत्ति का आईना है, जबकि आमजन अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहा। अब यूरोपीय कंपनियां इनके हक़ को छीन रहे थे, भारतीय व्यापारी अपना दुखड़ा किससे कहें, क्योंकि अंग्रेज सामंत भी थे और व्यापारी भी। जिस सामंतवाद को लगातार चोट करते हुए संक्रमण स्थिति तक पहुँचाने वाले भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग/व्यापारी वर्ग अब एक नयी सामंती व्यवस्था के गुलाम हो गए।

...

संदर्भ :-


1.राम स्वरूप चतुर्वेदी-''हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' पृष्ठ सं.37

2.रामविलास शर्मा 'परम्परा का मूल्यांकन' पृष्ठ सं.-46-47

3.रामविलास शर्मा - 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' - पृष्ठ सं.25

4.रामविलास शर्मा - 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' पृष्ठ सं.143

5.रामविलास शर्मा - 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं' - पृष्ठ सं.31

6.'विपक्ष' पत्रिका अंक-9, सन् 1995 पृष्ठ सं.35

7.'विपक्ष' पत्रिका अंक-9, सन् 1995 पृष्ठ सं.40

8.आचार्य रामचंद्र शुक्ल - 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.50

9.आचार्य रामचंद्र शुक्ल - 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.66-67

10.'विपक्ष' पत्रिका अंक-9, सन् 1995 पृष्ठ सं.41

11.मैनेजर पाण्डेय - 'भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य'

12.'विपक्ष' पत्रिका अंक-9, सन् 1995 पृष्ठ सं.38

13.'विपक्ष' पत्रिका अंक-9, सन् 1995 पृष्ठ सं.37

14.आचार्य रामचंद्र शुक्ल - ''हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सं.94


...


**संपर्क-सूत्र :-** *पी.एच डी.शोधार्थी, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-500 046.*

*मो:7386579470*

असतो मा सद्गमय

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

उत्कृष्ट शिक्षा के 60 वर्ष

(1958-2018)

# पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

नेहरू नगर, नई दिल्ली-110065

## दो दिवसीय अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी

प्रमाणित किया जाता है कि

**नागेन्द्र प्रसाद सिंह, शोधार्थी, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद**

ने पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य) द्वारा 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान', मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के सहयोग से 2-3 नवम्बर, 2017 को 'भक्तिकालीन कविता : भारतीय संस्कृति के विविध आयाम' विषय पर आयोजित दो दिवसीय अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी में भाग लिया और 'लोकजागरण' विषय पर अपना प्रपत्र प्रस्तुत किया।

(डॉ. हरीश अरोड़ा)
संयोजक

(डॉ. रवीन्द्र कुमार गुप्ता)
प्राचार्य

दिनांक : 3 नवम्बर, 2017

सर्वं शब्देन भासते
EFL University
Words illumine the world

# अंग्रेज़ी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय

हैदराबाद

## हिन्दी विभाग

## दो दिवसीय अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी

## "हिन्दी एवं विदेशी भाषा और साहित्य : वैश्विक परिप्रेक्ष्य"

## प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री / सुश्री / श्रीमती / डॉ. / प्रो. नागेन्द्र प्रसाद

ने दिनांक 6-7 फरवरी, 2020 को हिन्दी विभाग, अंग्रेज़ी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद द्वारा **"हिन्दी एवं विदेशी भाषा और साहित्य : वैश्विक परिप्रेक्ष्य"** विषय पर आयोजित दो दिवसीय अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी में बीज वक्ता/सत्र अध्यक्ष/प्रपत्र प्रस्तोता/सत्र संचालक/प्रतिभागी के रुप में सहभागिता की।

इन्होंने माधवराव सप्रे और परंपरा का मूल्यांकन शीर्षक पर शोध प्रपत्र प्रस्तुत किया।

This is to certify that Mr./Ms./Mrs./Dr./Prof. ____________

has delivered the keynote address/chaired a session/attended/presented a paper/in Two Day International Seminar on **"Hindi and Foreign Language-Literature: Global Perspective"** from 6-7 February, 2020 organised by the Department of Hindi, The English and Foreign Languages University, Hyderabad.

He/She has presented a paper on ____________

प्रो. टी. सैमसन
संकाय अधिष्ठाता

डॉ. श्यामराव राठोड़
विभागाध्यक्ष, एंव संगोष्ठी निदेशक